8·5

ान

गार

राणसी-५

ाहित्य का इतिहास

पाध्याय

लेनेवालेका हस्ताक्षर	लौटानेकी तिथि

ई ४९५

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पु. क्र. सं. ७०१८
दि.
नरिया (का. हि. वि.) वाराणसी

सरदार खेलाड़ी अग्रवाल एण्ड सन्स
संस्कृत बुकडिपो
बनारस.

संस्कृत साहित्य का इतिहास

पं० उदयचंद जी जैन
प्राध्यापक का० हि० वि० वि०
[illegible] श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्था
वाराणसी द्वारा भेंट

लेखक

बलदेव उपाध्याय

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

हि ४६६२।

प्रकाशक

शारदा मन्दिर

बनारस

२०१८

१९५२

[विविध विश्वविद्यालयों की बी० ए० परीक्षा में तथा एम० ए० परीक्षा में निर्धारित पाठ्य-ग्रन्थ]

परिवर्धित तृतीय संस्करण

मूल्य ५)

मुद्रक
मुकुन्ददास गुप्त 'प्रभाकर'
टाइम टेबुल प्रेस, बनारस।

पं० उदयचंद जी जैन
प्राध्यापक का० हि० वि० वि०
उपमंत्री श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
वाराणसी द्वारा भेंट

वक्तव्य

(नवीन परिबृंहित संस्करण)

'संस्कृत साहित्य का इतिहास' आज अपने नवीन परिबृंहित संस्करण में पाठकों के सामने आ रहा है। यह ग्रन्थ कुछ दिनों से अप्राप्य था और पाठकों को इसके प्रकाशन के लिए विशेष उतावली तथा उत्कण्ठा थी। इस संस्करण में ग्रन्थ का कायाकल्प हो गया है। यह एक आमूल परिवर्धित नवीन ग्रन्थ ही है। इसमें अनेक विशिष्टतायें आ गई हैं। अभी तक 'श्रीमद्भागवत' केवल धार्मिक ग्रन्थ के ही रूप में प्रख्यात था, परन्तु यहाँ उसे उस संकीर्ण क्षेत्र से हटाकर काव्य के सार्वभौम क्षेत्र में लाया गया है और उस दृष्टि से उसकी उपजीव्यता दिखलाई गई है। 'उपजीव्य काव्य' का सामान्य अभिधान भी रामायण, महाभारत तथा भागवत की ग्रन्थत्रयी के लिए नितान्त नवीन और उपादेय है। श्रव्य काव्य की मूल प्रवृत्ति, उत्थान और अभ्युदय के लिए उपयुक्त वातावरण तथा उत्तेजक सामग्री का अध्ययन यहाँ समुचित रीति से किया गया है। संस्कृत काव्य जन-साधारण के हृदय की अभिव्यञ्जना है; इस मत का प्रौढ़ उपपादन किया गया है। कवियों के ग्रन्थ की समालोचना पर इस बार अधिक ध्यान दिया गया है। दृश्य काव्य की भी विशिष्टता तथा उदय के साथ साथ प्राचीन रंगमंच का भी वर्णन विषय की पूर्ति के लिए दे दिया गया है; 'जवनिका' के ऊपर अपने विचारों को मैंने कुछ विस्तार के साथ इस बार प्रस्तुत किया है। 'वैदिक साहित्य' के वर्णन प्रसंग में 'वेदों का काल-निर्णय' नामक अंश एकदम नया है तथा उपादेयता की दृष्टि से इस बार जोड़ दिया गया है।

दि० 816

पूर्व संस्करण में पुराण, दर्शन तथा पुरुषार्थ साहित्य का भी इतिहास संनिविष्ट था, परन्तु इस बार इन्हें हटा दिया गया है और केवल ललित साहित्य ही का इतिहास कुछ विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ में चार खण्ड हैं—(१) प्रवेश खण्ड में संस्कृत साहित्य का वैशिष्ट्य, वैदिक साहित्य तथा उपजीव्य काव्यों का वर्णन है। (२) द्वितीय खण्ड (श्रव्य काव्य) में महाकाव्य, गीतिकाव्य, गद्य काव्य तथा कथा-साहित्य का वर्णन है। (३) तृतीय खण्ड (दृश्य काव्य) में रूपक की उत्पत्ति तथा उसके विविध प्रकारों का संक्षिप्त इतिहास है। (४) चतुर्थ खण्ड (आलोचना) में अलंकार-शास्त्र का संक्षिप्त इतिहास है जिसमें विशिष्ट सम्प्रदायों के स्वरूप तथा मत का भी प्रदर्शन किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ इस नवीन रूप में परीक्षार्थियों के लिए तथा सामान्य पाठकों के लिए भी समानभाव से उपकारक, उपादेय तथा उपयोगी होगा; इसकी मुझे पूर्ण आशा है।

हमें इस बात से प्रसन्नता हो रही है कि यह ग्रन्थ अपने मूल उद्देश्य की पूर्ति में बहुत कुछ सफल हो रहा है; क्योंकि इसका प्रचार साधारण पाठकों में तथा विद्यालयीय छात्रों में विशेष रूप से हुआ है। अनेक विश्वविद्यालयों ने अपने पाठ्य-ग्रन्थों में इसे निर्धारित किया है। लखनऊ, प्रयाग, आगरा, राजपुताना, पटना तथा काशी के विश्वविद्यालयों ने इसे बी० ए० की परीक्षा में नियत कर इसके गौरव को बढ़ाया है। हम इसके लिए इनके अधिकारियों के प्रति अपना आभार प्रदर्शन करते हैं। पूर्व संस्करण की अपेक्षा सवासौ पृष्ठ अधिक होने पर भी पाठकों के अनुरोध से इसके मूल्य में वृद्धि नहीं की गई।

काशी
नवरात्र प्रतिपद्
सं० २०१०
८–१०–५३

—बलदेव उपाध्याय

विषय सूची

प्रथम खण्ड—प्रवेश खण्ड

१—विषय प्रवेश

संस्कृत साहित्य की मूल प्रवृत्ति—३; साहित्य और संस्कृति—४, साहित्य और तत्त्व-ज्ञान—६, साहित्य और धर्म—७, साहित्य में कथा का अभ्युदय—८, आरोप का निराकरण—१०।

(२) संस्कृत साहित्य का महत्त्व—१२, साहित्य का अर्थ १३, प्राचीनता १४, महत्त्व १६।

(३) संस्कृत भाषा का परिचय—१९, लौकिक और वैदिक संस्कृत में अन्तर २१, संस्कृत बोल-चाल की भाषा २३, इतिहास का काल-विभाग २८।

२—वैदिक साहित्य

वैदिक साहित्य २९, महत्त्व २९, विभाग २९।

(१) वैदिक संहिताएँ—ऋग्वेद ३१, सामवेद ३२, यजुर्वेद ३३, अथर्ववेद ३५, देवता ३५, वेद का काल ३६।

(२) ब्राह्मण—३७।

(३) उपनिषद् ३८, महत्त्व ४०।

(४) वेदाङ्ग साहित्य—४२, शिक्षा, छन्द, निरुक्त ४३, व्याकरण, ज्यौतिष ४४, कल्पसूत्र ४५, अनुक्रमणी ४७।

(५) वेदों का रचनाकाल—४८, डा० मैक्समूलर का मत ४९, वेदों में ज्यौतिष तत्त्व ५०, लोकमान्य तिलक का मत ५३।

३—उपजीव्य काव्य

(१) वैदिक और लौकिक साहित्य का अन्तर—५८, विषय ५८, आकृति ५९, भाषा, तथा अन्तस्तत्त्व ६०।

(२) इतिहास की कल्पना—६१।

(३) उपजीव्य काव्य—६५, भागवत ६६, रूप-भेद ६७, कालगत भेद ६८।

(४) रामायण—६९, संस्करण ७१, समय ७२, समीक्षण ७५, राम-चरित्र ८१, सीता-चरित्र ८४, मानवता की कसौटी ८६, राजा की महिमा ८९।

(५) महाभारत—९०, महत्त्व ९१, रचयिता ९२, विकास ९३, रचना काल ९५, विषय ९६, उपाख्यान ९७, समीक्षण ९८, महाभारत का वैशिष्ट्य १०३, राष्ट्रभावना १०२, अध्यात्मतत्त्व १०३।

(६) तुलना—१०५, स्वरूपतः तुलना १०६, रचनाकाल की तुलना १०७।

(७) श्रीमद्भागवत—१११, रचना-काल ११२. टीका-सम्पत्ति ११५, काव्य-सौन्दर्य ११६।

द्वितीय खण्ड—श्रव्यकाव्य

४—संस्कृत काव्य की पृष्ठभूमि

(१) राजसी वातावरण—१२३।

(२) जन जीवन की झाँकी १२५।

(३) संस्कृत काव्य की माधुरी—१३२।

(४) काव्य का उदय तथा स्रोत—१३६, वैयाकरण पाणिनि तथा कवि पाणिनि की अभिन्नता १४१, पाणिनि का जीवनचरित १४४, वररुचि १४७।

५—कालिदास

स्थितिकाल १५३, ग्रन्थ १६०, कालिदास के नाटक १६४, समीक्षण १६७, पात्र-चित्रण १७१, शाकुन्तल की समीक्षा १७३, सौन्दर्य-भावना १७६, रससिद्धि १७७, प्रकृति-वर्णन १७९, कालिदास का संदेश १८२।

६—कालिदासोत्तर महाकाव्य

महाकाव्य १८३, पाश्चात्य मत से काव्यभेद १८५ ।

(१) अश्वघोष १८६, (२) मातृ चेट १९७, (३) आर्यशूर २०१, (४) भारवि २०५, (५) भट्टि २१४, (६) कुमारदास २१८, (७) माघ २२३, (८) प्रवरसेन २३४, (९) काश्मीरी कवि-रत्नाकर २३७, शिवस्वामी २३९, क्षेमेन्द्र २४२, मंखक २४४, (१०) श्रीहर्ष २४६, इतर कवि २५८, जैन कवि २५९, हरिचन्द्र २६१,

ऐतिहासिक महाकाव्य २६२, पद्मगुप्त परिमल २६२, बिल्हण २६४, कल्हण २६५, इतर कवि २७४, वाक्पतिराज २७६ ।

महाकाव्य का विकास २७८, विचित्र मार्ग २८२ ।

७—गीतिकाव्य

(१) वेद में गीति का उद्गम २८७, अलंकार विधान २८९, उषा की सुषमा २९१ ।

(२) लौकिक गीतिका २९६, सन्देश काव्य २९७, भर्तृहरि २९८, अमरुक ३०१, गोवर्धनाचार्य ३०३, जयदेव ३०५ ।

(३) स्तोत्र साहित्य—शिवमहिम्नःस्तोत्र ३०७, मयूरभट्ट ३०८, बाणभट्ट, शंकराचार्य ३०९, कुलशेखर ३११, यामुनाचार्य, लीलाशुक ३१२, वेंकटाध्वरि ३१३, वैष्णवस्तोत्र ३१४, पण्डितराज जगन्नाथ ३१६, शैव-स्तोत्र ३२०, जगद्धर भट्ट ३२१, जैन स्तोत्र ३२३, बौद्ध स्तोत्र ३२५ ।

(४) उपदेश काव्य—देशोपदेश ३२८, नर्ममाला ३३० ।

८—संस्कृत गद्य

संस्कृत गद्य की विशेषता ३३४, गद्य का विकास ३३६, शास्त्रीय गद्य ३३७, पाली गद्य ३४० ।

गद्य का अभ्युदय—(१) सुबन्धु ३४१, (२) बाणभट्ट ३४३, (३) दण्डी—३६० । चम्पूकाव्य—३५७, नलचम्पू ३६७, इतर-चम्पू काव्य ३७० ।

९—कथा साहित्य

व्यापक प्रभाव ३७२; पंचतंत्र ३७५, हितोपदेश ३७८, बृहत्कथा ३७९, अन्य कहानियाँ ३८२।

तृतीय खण्ड—दृश्य काव्य

१०—मूल प्रवृत्ति तथा उदय

(१) महत्त्व ३८५, (२) नाटक की उत्पत्ति ३९०, वीरपूजा ३९१, संवाद-सूक्त में नाट्योद्गम ३९४, भरत मत ३९५,

(३) भारतीय नाटक पर ग्रीक-प्रभाव ३९८, जवनिका ४००, जवनिका की स्थिति ४०८; (४) संस्कृत नाटकों की विशिष्टता ४१०; (५) संस्कृत रंगमंच ४१४

(ख) नाटक का अभ्युदय

(१) भास ४२२, (२) विशाखदत्त ४३२, (३) शूद्रक ४३५: (४) हर्षवर्धन ४४८; (५) भट्ट नारायण ४५०; (६) भवभूति ४५२ (७) अनङ्गहर्ष ४६७; (८) मुरारि ४६८, (९) राजशेखर ४७० (१०) जयदेव ४७८, इतर नाटक और नाटककार ४७९; रूपक के अन्यभेद ४८२; नाटिका ४८३; प्रकरण ४८४; भाण ४८५; प्रहसन ४८७; वत्सराज ४८९, छाया नाटक ४९१; प्रतीक नाटक ४९२,

चतुर्थ खण्ड—अलंकार शास्त्र

११—अलंकार शास्त्र

आचार्य—भरत, ; भामह; दण्डी, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवब्रह्म, ध्वनि विरोधी आचार्य; ध्वनिमार्ग के आचार्य ५०१।

अलंकार शास्त्र के सम्प्रदाय

(१) रस (२) अलंकार (३) रीति (४) वक्रोक्ति; (५) ध्वनि, (६) औचित्य ५१८–५२८।

प्रथम खण्ड

प्रवेश खण्ड

(१) संस्कृत-साहित्य की मूल प्रवृत्ति
(२) वैदिक साहित्य
(३) उपजीव्य-काव्य

प्रथम परिच्छेद

विषय-प्रवेश

संस्कृत साहित्य की मूल प्रवृत्ति

साहित्य समाज का दर्पण होता है। समाज जिस प्रकार का होगा वह उसी भाँति साहित्य में प्रतिबिम्बित रहता है। समाज के रूप-रंग, ह्रास-वृद्धि, उत्थान-पतन, समृद्धि-दुरवस्था के निश्चित ज्ञान का प्रधान साधन तत्कालीन साहित्य होता है। इसी प्रकार साहित्य संस्कृति का प्रधान वाहन होता है। संस्कृति की आत्मा साहित्य के भीतर से अपनी मधुर झाँकी सदा दिखलाया करती है। संस्कृति के बहुल प्रसार तथा प्रचार का सर्वश्रेष्ठ साधन साहित्य ही है। संस्कृति का मूल स्तर यदि भौतिकवाद के ऊपर आश्रित रहता है तो वहाँ का साहित्य कदापि आध्यात्मिक नहीं हो सकता और यदि संस्कृति के भीतर आध्यात्मिकता की भव्य भावनायें हिलोरें मारती रहती हैं तो उस देश तथा उस जाति का साहित्य भी आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुए बिना नहीं रह सकता। साहित्य सामाजिक भावना तथा सामाजिक विचार की विशुद्ध अभिव्यक्ति होने के कारण यदि समाज का मुकुर है, तो सांस्कृतिक आचार तथा विचार के विपुल प्रचारक तथा प्रसारक होने के हेतु, संस्कृति के सन्देश को जनता के हृदय तक पहुँचाने के कारण, साहित्य संस्कृति का वाहन होता है।

संस्कृत साहित्य का इतिहास पूर्वोक्त सिद्धान्त का पूर्ण समर्थक है। संस्कृत साहित्य भारतीय समाज के भव्य विचारों का रुचिर दर्पण है। भारतवर्ष में सांसारिक जीवन के उपकरणों का सौलभ्य होने के कारण भारतीय समाज जीवन-संग्राम के विकट संघर्ष से अपने को

पृथक् रखकर आनन्द की अनुभूति को, वास्तव शाश्वत आनन्द की उपलब्धि को, अपना लक्ष्य मानता है। इसीलिए संस्कृत काव्य जीवन की विषम परिस्थितियों के भीतर से आनन्द की खोज में सदा संलग्न रहा है। आनन्द सच्चिदानन्द भगवान् का विशुद्ध पूर्ण रूप है। इसीलिए संस्कृत काव्य की आत्मा रस है। रस का उन्मीलन—श्रोता तथा पाठक के हृदय में आनन्द का उन्मेष—ही काव्य का अन्तिम लक्ष्य है। संस्कृत आलोचनाशास्त्र में औचित्य, रीति, गुण तथा अलंकार आदि काव्यांगों का विवेचन होने पर भी रसविवेचन ही मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय है। भारतीय समाज का मेरुदण्ड है गृहस्थाश्रम। अन्य आश्रमों की स्थिति गृहस्थाश्रम के ऊपर ही निर्भर है। फलतः भारतवर्ष का प्रवृत्तिमूलक समाज गृहस्थधर्म को पूर्ण महत्त्व प्रदान करता है और इसीलिए संस्कृत साहित्य में गार्हस्थ्य धर्म का चित्रण सांगोपांग, पूर्ण तथा हृदयावर्जक रूप से उपलब्ध होता है। संस्कृत साहित्य का आद्य महाकाव्य वाल्मीकीय रामायण गार्हस्थ्यधर्म की धुरी पर घूमता है। दशरथ का आदर्श पितृत्व, कौशल्या का आदर्श मातृत्व, सीता का आदर्श सतीत्व, भरत का आदर्श भ्रातृत्व, सुग्रीव का आदर्श बन्धुत्व, और सबसे अधिक रामचन्द्र का आदर्श पुत्रत्व भारतीय गार्हस्थ्यधर्म के ही विभिन्न अंगों के आराधनीय आदर्शों की मधुमय मनोरम अभिव्यक्तियाँ हैं।

साहित्य और संस्कृति—

संस्कृत साहित्य भारतीय संस्कृति का प्रधान वाहन रहा है। यदि संस्कृत के काव्यों में संस्कृति अपनी अनुपम गाथा सुनाती है, तो संस्कृत के नाटकों में वह अपनी कमनीय क्रीडा दिखलाती है। भारतीय संस्कृति का प्राण आध्यात्मिक भावना है। त्याग से अनुप्राणित, तपस्या से पोषित तथा तपोवन में संवर्धित भारतीय संस्कृति का रमणीय

आध्यात्मिक रूप संस्कृत भाषा के ग्रन्थों में अपनी सुन्दर झाँकी दिखलाता हुआ सहृदयों के हृदय को बरबस खींचता है। महर्षि वाल्मीकि तथा व्यास, कालिदास तथा भवभूति, बाण तथा दण्डी पाठकों की हृदयकली को विकसित करने वाले मनोरम काव्य की रचना के कारण जितने मान्य हैं उतने ही वे भारतीय संस्कृति के विशुद्ध रूप के चित्रण करने के कारण भी आदरणीय है। संस्कृत कवि को राजा महाराजाओं के दरबार की हवा खानेवाला चापलूस जीव मानने की भ्रान्त धारणा साहित्य के ऊपरी आलोचकों में भले फैली रहे, परन्तु संस्कृत भाषा का कवि संकीर्ण विचारों का व्यक्ति न था जो अपने परिमित विचारों की कोठरी में अपना दिन बिताया करता था। वह समाज के विशुद्ध वातावरण में विचरण करता था; समाज के दुःख-सुख की भावना उसके हृदय को स्पर्श करती थी; वह दीनदुःखियों की दीनता पर चार आँसू बहाता था; वह सुखी जीवों के सुख के ऊपर रीझता था। वह भारतीय समाज का ही एक प्राणी था जिसका हृदय सहानुभूति की भावना से नितान्त स्निग्ध होता था। वह अपने काव्यों में जनता के हृदय की बातों का, प्रवृत्तियों का, जितना वर्णन करता था उतना ही वह अपने देश की संस्कृति के भी मूल्यवान् आध्यात्मिक विचारों को अपने काव्यों में अंकित करता था। भारतीय संस्कृति का निखरा रूप हमें संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। बृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति का प्रचार तलवार के सहारे नहीं हुआ; कलम के सहारे हुआ। आज भी उस देश की सभ्यता तथा संस्कृति के गठन में संस्कृत साहित्य का विशेष हाथ है। संस्कृत साहित्य ने इन देशों की मूक जनता को भावों के प्रकटन का माध्यम प्रदान किया, हृदय को सरस बनाने के लिए कोमल भावमय कविता को सिखलाया और समाज-व्यवस्था के नियमों को बतला कर उन्हें बर्बरता से उन्मुक्त किया और सभ्य-शिष्ट बनाया।

साहित्य और तत्त्वज्ञान—

संस्कृत साहित्य के रूप निर्माण तथा विकाश के ऊपर भारतीय तत्त्वज्ञान का विशेष प्रभाव पड़ा है। भारतीय दर्शन सर्वदा से आशावादी रहा है। नैराश्य की कालिमा दर्शन के गगन मण्डल को कतिपय क्षणों के लिए भले ही मलिन और अन्धकारपूर्ण बनावे, परन्तु आशावादिता का चन्द्रोदय उसे प्रकाश से पेशल तथा शान्ति से स्निग्ध सर्वदा बनाये रखता है। संस्कृत नाटकों के सुखान्त रूप की जानकारी के लिए भारतीय दार्शनिक विचारों से परिचय पाना नितान्त आवश्यक है। भारतीय तत्त्वज्ञान नैराश्य के भीतर से आशा का, विपत्ति के भीतर से सम्पत्ति का तथा दुःख के भीतर से सुख का उद्गम अवश्यम्भावी मानता है। संसार का पर्यवसान दुःख में नहीं है। यह जीवन व्यक्तित्व के विकास में अपना स्वतः मूल्य और महत्त्व रखता है। संघर्ष के भीतर सौख्य की प्रभा छिटकती है; संग्राम के बीच में विजय का शंखनाद घोषित होता है। मानव की वैयक्तिक पूर्णता की अभिव्यक्ति में यह जीवन एक साधनमात्र है। निष्प्रपंच ब्रह्म की भी प्राप्ति प्रपंच के भीतर से ही होती है। फलतः संसार का व्यापक दुःख, परिदृश्यमान सन्ताप तथा वैषम्यमय क्लेश अन्ततोगत्वा सुख में, सौख्य में तथा आनन्द में परिणत होते हैं। इसी दार्शनिक विचारधारा के कारण जीवन के संघर्ष को प्रदर्शित करने पर भी नाटक का पर्यवसान सदा मंगलमय होता है। संस्कृत में दुःखान्त नाटकों के नितान्त अभाव का रहस्य इसी दार्शनिक सिद्धान्त में छिपा है। संस्कृत नाटककारों के ऊपर जीवन के केवल सौख्यपक्ष के प्रदर्शक होने से एकांगित्व का आरोप कथमपि न्याय्य नहीं माना जा सकता। काव्य जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति है। सच्चा कवि जीवन के सुखदुःखों में रमता है। वह जनता के जीवन का अनुभव कर उसके मार्मिक स्थलों को कमनीय

भाषा में अभिव्यक्त करता है। उसके काव्यों में जनहृदय स्पन्दित होता है और जनता की मूक वेदना अपना पूर्ण तथा प्रभावशाली अभिव्यञ्जना पाती है उसकी कमनीय कृतियों में। सुख और दुःख, वृद्धि और ह्रास, राग और द्वेष, मैत्री और विरोध के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न नानात्मक स्थिति का ही एक छोटा सा अभिधान जीवन है। इसकी पूर्ण अभिव्यञ्जना दुःख का सर्वथा परिहार कर देने पर क्या कभी हो सकती है? क्या संस्कृत का कवि जीवन के केवल सौख्यपक्ष के चित्रण में ही अपनी वाणी की चरितार्थता मानता है? संस्कृति तथा जनजागरण का अग्रदूत संस्कृत कवि तात्विक रूप से जीवन के अन्तस्तल को परखता है और उसका सच्चा वर्णन प्रस्तुत करता है, परन्तु जीवन का मंगलमय पर्यवसान तथा कल्याणमय उद्देश्य होने के कारण वह दुःखपर्यवसायी काव्यों तथा नाटकों की रचना से सर्वदा पराङ्मुख होता है। संस्कृत साहित्य का यही मौलिक वैशिष्ट्य है।

साहित्य और धर्म—

भारतवर्ष धर्मप्राण देश है और भारतीय संस्कृति धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत है। भारतीय धर्म का आधारपीठ है आस्तिकता, सर्वशक्तिशाली भगवान् की जागरूक सत्ता में अटूट विश्वास। भारत भगवान् के चरणारविन्द में अपने आपको लुटा देने में ही जीवन की सार्थकता मानता है। संसार की क्लेशभावना जीवों को तभी तक कलुषित तथा सन्तप्त बनाती है, जब तक वह भगवान् का निजी सेवक जन न बन जाता। तभी तक रागादिक चोर के समान सन्तापदायक हैं, यह गृह कारागृह है और यह मोह तभी तक पैरों की बेड़ी है, जबतक जीव 'भवदीय' नहीं बनता। भगवज्जन होते ही मोह की बेड़ी खुल जाती है और जीव ज्ञान की मीठी स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगता है :—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥
—भागवत १०।१४

भगवान् के प्रति भक्तिभाव के इस प्राचुर्य ने संस्कृत में एक विशाल साहित्य का जन्म दिया है जो 'स्तोत्रसाहित्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। हृदय की दीनता, आत्मनिवेदन, अपराधस्वीकार—आदि कोमल भावों की विशाल राशि प्रस्तुत करने वाला यह मनोवैज्ञानिक साहित्य संसार के साहित्य में विरला ही है। संस्कृतभाषा के श्लाघनीय स्तोत्र कोमल भावों की अभिव्यञ्जना में अपनी समता नहीं रखते। संस्कृत काव्यों का यह वैशिष्ट्य भारतीय धर्म की भक्तिप्रवणता के ऊपर आधारित है। हमारी तो यह दृढ़ धारणा है कि संस्कृत साहित्य गीति काव्यों अथवा प्रगीत मुक्तकों का जनक है। संस्कृत भाषा की मधुरता भी संस्कृत काव्यों की गेयरूपता का एक साधन है। यही कारण है कि संस्कृत काव्यों में कोमल-कान्त-पदावली का इतना बाहुल्य है तथा हृदयकली को खिलानेवाले मनोमुग्धकारी भक्तिमय काव्यों का प्राचुर्य है। ऋग्वेद के मन्त्रों से लेकर आज तक यह मनोमुग्धकारी स्तोत्रों का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होता आ रहा है। जिस प्रकार वैदिक ऋषि वरुण से अपने अपराधों की क्षमा याचना करता है, उसी प्रकार पिछले युग का भक्तकवि भगवान् से अपराधों को क्षमाकर आत्मसात् कर लेने की प्रार्थना करता है—

अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे ।
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात् कुरु ॥
—मुकुन्दमाला

साहित्य में कथा का उदय—

मानव प्रकृति स्वभावतः कौतुक तथा विस्मय की ओर आकृष्ट होती

है। नित्यप्रति व्यावहारिक जीवन से, परिचित कार्यकलाप से, जहाँ कुछ भी नवीनता तथा विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है, वहीं विस्मय की उद्गमभूमि है। भारतवर्ष के विविधरंगी वातावरण में विस्मय का स्थान तथा प्रसार बहुत ही अधिक है। प्राची क्षितिज पर सुनहली छटा छिटकाने वाली तथा प्रभापुञ्ज को बिखेरने वाली उषा का दर्शन जैसा आश्चर्य दर्शक के हृदय में उत्पन्न करता है, वैसा ही विस्मय उत्पन्न करता है नैश नील नभोमण्डल में रजतरश्मियों को बिखरनेवाले तथा नेत्रों में शीतलतामयी छटा फैलानेवाले शीतरश्मि का उदय। दोनों ही कौतुकावह हैं, विस्मयवर्धक हैं। संस्कृत आलोचकों में 'आश्चर्य रस' को ही मूलभूत आदिम रस माननेवाले आचार्यों का भी एक विशिष्ट सम्प्रदाय है। मानव की इस कौतुकमयी प्रवृत्ति की चरितार्थता के निमित्त भारतीय साहित्य में एक नवीन काव्यपरम्परा का उदय हुआ है, जो 'कथा' के नाम से अभिहित की गई है। सामान्यरूपेण कौतुकवर्धक कथाओं का उदय प्रत्येक देश के साहित्य में हुआ है और होता है। मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति को चरितार्थ करने का यह व्यापक साहित्यिक प्रयास है, परन्तु संस्कृत साहित्य के साथ 'कथा' का कुछ विशेष सम्बन्ध है। विश्व में कथा का उद्गम भूमि है हमारा संस्कृत साहित्य जहाँ से कथायों ने पश्चिमी देशों की यात्रा कर वहाँ के साहित्य में घर कर लिया है और उन देशों के रहन सहन, जन-जीवन, आचार-व्यवहार में घुल मिल गई हैं। भारत में कथायें केवल कौतुकमयी प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के अतिरिक्त धार्मिक शिक्षण के लिए भी प्रयुक्त की जाती थीं और यही कारण है कि ब्राह्मणों ने, जैनियों ने तथा बौद्धों ने समान भाव से साहित्य के इस अंग का परिवर्धन और उपबृंहण किया है। बौद्धों के जातकों का साहित्य के इतिहास में तथा बौद्धकला के संवर्धन में विशेष महत्त्व रहा है। कहानी लिखने में जैनियों को शायद ही कोई पराजित कर सके। उनके यहाँ इसका एक

विशाल भव्य साहित्य है। पंचतन्त्र स्वयं विस्मयावह कहानियों का एक सामान्य संग्रहमात्र न होकर साहित्य की दृष्टि से एक नितान्त उपादेय ग्रन्थ है जिसका प्रभाव भारत के ही कथा साहित्य के ऊपर न पड़ कर पश्चिमी जगत् के साहित्य पर विशेष रूप से पड़ा है।

आरोप का निराकरण—

संस्कृत साहित्य के ऊपर पश्चिमी आलोचकों ने विशेष दोषारोपण कर रखा है कि यह साहित्य नितान्त अलंकारपूर्ण तथा कृत्रिम है। वे संस्कृत काव्य की नैसर्गिकता, स्वाभाविकता तथा अलंकारविहीनता के स्वरूप से एकदम अपरिचित हैं; ऐसा तो सामान्यतः माना नहीं जा सकता। परन्तु उनका आरोप भारतीय आलोचकों के लिए वेदवाक्य के समान मान्य तथा ग्राह्य होने से बड़े अनर्थ की जड़ बना हुआ है। संस्कृत भाषा में निबद्ध काव्यों में भी हृदय के भावों की उतनी ही स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जितनी किसी भी प्रौढ़ साहित्य के माननीय काव्यों में हो सकती है। प्राचीन कवियों के काव्यों में स्वाभाविकता का साम्राज्य है। ये कवि मानव-हृदय के सच्चे पारखी थे और अपनी सच्ची अनुभूतियों की अभिव्यंजना के लिए इन्होंने 'रसमयी पद्धति' का आश्रय लिया है। वाल्मीकि तथा व्यास पर, कालिदास तथा अश्वघोष पर कृत्रिम कविता लिखने का दोष कोई भी समझदार आलोचक मढ़ नहीं सकता। अलंकारों की सजावट से चमत्कृत शैली का उदय सप्तम तथा अष्टम शताब्दी के अनन्तर की एक घटना है और इसका भी एक कारण है। सप्तम-अष्टम शतक भारतवर्ष के साहित्यिक इतिहास में पाण्डित्य का युग है। इस समय बौद्ध-नैयायिकों तथा जैन दार्शनिकों के वेदविरोधी तर्कों का खण्डन ब्राह्मण पण्डितों ने बड़ी ही प्रौढ़, प्रामाणिक युक्तियों के बल पर किया। इस युग का वायुमण्डल वाग्युद्धों के कर्कश तर्कों के द्वारा विताडित होता था। पाण्डित्य ही कवित्व की भी

कसौटी माने जाने लगा। पाठकों के आदर्श में भी परिवर्तन हो गया। प्राचीन कवि जिन सामान्य विश्वास के भाजन पाठकों के हृदयावर्जन के लिए काव्य का प्रणयन करता था, इस युग का कवि अब तर्कभावना से मण्डित पाठकों की रुचि के अनुरूप कविता का निर्माण करता था। काव्य के लक्ष्य में परिवर्तन न होने पर भी परिवर्तित स्थिति ने कवियों को 'अलंकृतशैली' में लिखने के लिए बाध्य किया। अन्यथा संस्कृत आलोचना शास्त्र की मान्य शैलियों में अलंकार की भव्यभूषा से मण्डित ओजःप्रधान समास-बहुला शैली अन्यतम प्रकारमात्र है, वह काव्य का सर्व-सर्वा नहीं है। इसीलिए संस्कृत के आद्य आलोचक भामह नें तर्क-प्रधान शास्त्र से भावप्रधान काव्य का विभेद दिखलाते हुए काव्य को स्पष्टतः 'आविद्वदङ्गनाबाल-प्रसिद्धार्थ' लिखा है। काव्य केवल विद्वानों के पुष्ट दिमाग के लिए ही चीज नहीं है, प्रत्युत वह शास्त्र से अनभिज्ञ स्त्रियों तथा बच्चों के भी समझ में आने वाली चीज है। यदि किसी काव्य को विशिष्ट पाठक ने ही समझा तो क्या समझा? यह काव्य होने पर भी 'अप्रतीतार्थ' दोष से दुष्ट काव्य ठहरा। काव्य का लक्ष्य सामान्य जन हैं, विशेष जन नहीं। प्रसन्न काव्य की यहीं निशानी है कि स्त्री तथा बच्चे भी उतनी ही आसानी से उसे समझ जाँय, जितनी आसानी से कोई विशेष शिक्षित जन। माधुर्य तथा प्रसाद गुण काव्य का प्राण माना गया है। ऐसी स्थिति में इस दोष के आरोप का प्रसंग ही निराधार और निर्मूल है।

निष्कर्ष यह है कि हमारी संस्कृत भाषा संसार भर की भाषाओं में श्रेष्ठ है। हमारा संस्कृत साहित्य समग्र सभ्य साहित्यों से प्राचीनता, व्यापकता तथा अभिरामता में बढ़कर है। यदि इस भूमि-वलय पर कोई भी भाषा सबसे प्राचीन होने की अधिकारिणी है, तो यही हमारी संस्कृत भाषा ही है। आजकल अपनी ऊँची सभ्यता पर गर्व करने वाली जातियाँ जब जंगलों में घूम-घूम कर केवल संकेतमात्र से अपने मनोगत

भावों को प्रकट किया करती थीं, उस समय अथवा उससे भी बहुत पहले हमारे पूजनीय पूर्वज आर्य लोग इसी देववाणी के द्वारा सरस्वती के किनारे भगवान् की विभूतियों की पूजा में रहस्यमयी ऋचाओं का उच्चारण तथा सरस सामों का गायन किया करते थे। उसी समय उन्होंने आध्यात्मिक जगत् की समस्याओं को सुलझाकर अपने उन्नत मस्तिष्क का परिचय दिया था। संसार में सबसे प्राचीन ग्रन्थ और हमारे धर्म-सर्वस्व वेद भगवान् इसी गौरवमयी गीर्वाण-वाणी में आराधनीय ऋषियों के द्वारा परमात्मा की आन्तरिक प्रेरणा से 'दृष्ट' हुए हैं। अध्यात्म की गुत्थियों को सुलझानेवाले तथा मानव मस्तिष्क के चरम विकास को प्रकट करने वाले उपनिषद् भी इसी भाषा में अभिव्यक्त किये गये हैं। पृथिवी की उत्पत्ति से लेकर प्रलय तक का विस्तृत तथा विविध इतिहास प्रस्तुत करनेवाले पुराणों की रचना इसी सुन्दर भाषा में की गई है। आर्यों की प्राचीन रीतियों, रूढ़ियों और परम्पराओं का प्रशस्त तथा सर्वांगीण वर्णन उपस्थित करनेवाले धर्मशास्त्रों की निर्मिति भी इसी भाषा में हुई है। सारांश यह है कि लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस की सिद्धि के साधक जितने ज्ञान और विज्ञान हैं, जितने कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड हैं, जितने शास्त्र और पुराण हैं, उन सबको अवगत करने का उपाय यही संस्कृत भाषा है। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि हमारा साहित्य 'परा' तथा 'अपरा' विद्याओं का मनोरम भाण्डागार है जिसके रहस्यों का पता संस्कृत भाषा के ज्ञान से ही किया जा सकता है। इन्हीं सब कारणों से हमारी संस्कृत भाषा परम महनीया, विद्वज्जनमाननीया तथा सौभाग्यशोभनीया है।

२

संस्कृत साहित्य का महत्त्व

'साहित्य' शब्द और अर्थ के मञ्जुल सामञ्जस्य का सूचक है।

इसकी व्युत्पत्ति है 'सहितयोः भावः साहित्यम्' अर्थात् सहित शब्द तथा अर्थ का भाव। इस मौलिक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हमारे काव्य ग्रन्थ तथा अलङ्कार ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर दीख 'साहित्य' पड़ता है। महाकवि भर्तृहरि ने संगीत तथा साहित्य से का अर्थ विहीन पुरुष को जब पशु कहा[1] तब उनका अभिप्राय 'साहित्य' के उन कोमल काव्यों से है जिनमें शब्द और अर्थ का अनुरूप सन्निवेश है। शास्त्र और साहित्य का अन्तर यही है कि शास्त्र में अर्थप्रतीति के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है, परन्तु काव्य में शब्द और अर्थ दोनों एक ही कोटि के होते हैं, न तो कोई घटकर रहता है, न बढ़कर[2]। इसी अर्थ को दृष्टि में रखकर राजशेखर ने साहित्य विद्या को 'पञ्चमी विद्या' कहा है जो मुख्य चार विद्याओं—पुराण, न्याय (दर्शन), मीमांसा, धर्मशास्त्र—का सारभूत[3] है। बिल्हण ने अपने विक्रमाङ्कदेवचरित में काव्यरूपी अमृत को साहित्य-समुद्र के मन्थन से उत्पन्न होने वाला बतलाया है।[4] इस प्रकार 'साहित्य' शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में काव्य, नाटक आदि के लिये होता है। परन्तु इधर साहित्य शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में भी होने

---

१ साहित्य-सङ्गीत-कलाविहीनः साक्षात्पशुःपुच्छविषाणहीनः।

२ न च काव्ये शास्त्रादिवत् अर्थ—प्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते। सहितयोः शब्दार्थयोः तत्र प्रयोगात्—साहित्यं तुल्यकक्षत्वेन अन्यूनानतिरिक्तत्वम्—व्यक्तिविवेकटीका (पृष्ठ ३६)

३ पञ्चमी साहित्यविद्येति यायावरीयः। सा ही चतसृणां विद्यानामपि निष्यन्दः—काव्यमीमांसा (पृष्ठ ४)

४ साहित्य-पाथोनिधि-मन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति॥
—१।११

लगा है। 'साहित्य' से अभिप्राय उन ग्रन्थों से जो किसी भाषा-विशेष में निबद्ध किये गये हों। इस अर्थ में 'वाङ्मय' शब्द का प्रयोग उचित प्रतीत होता है। अँग्रेजी भाषा में प्रयुक्त 'लिटरेचर' शब्द के लिये ही साहित्य का प्रयोग इधर होने लगा है। इस ग्रन्थ में साहित्य का प्रयोग संकुचित अर्थ में ही किया गया है और अधिक लोकप्रिय होने के कारण काव्य के नाना रूपों का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया गया है।

प्राचीनता

संस्कृत साहित्य की महत्ता को प्रदर्शित करने वाले अनेक कारण विद्यमान हैं। सर्वप्रथम प्राचीनता की दृष्टि में यह साहित्य बेजोड़ है। इतना प्राचीन साहित्य कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि में मिश्रदेश का साहित्य सबसे प्राचीन माना जाता है परन्तु वह भी कितना प्राचीन है? विक्रम से केवल चार हजार वर्ष पूर्व। हमारे यहाँ ऋग्वेद की रचना के समय के विषय में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वान् लोग ऋग्वेद की रचना हजारों वर्ष पूर्व मानते हैं। यदि इस मत को अत्युक्तिपूर्ण होने से हम मानने के लिये प्रस्तुत न भी हों, तो भी उस मत में तो हमें आस्था रखनी ही पड़ेगी जिसे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने गणित के अकाट्य प्रमाण के ऊपर निर्धारित किया है। उनका कहना है कि ऋग्वेद के अनेक सूक्तों की रचना विक्रम से कम से कम छः हजार वर्ष पूर्व अवश्य हुई थी। यही मत आजकल का प्रामाणिक मत है। इसके अनुसार संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम ग्रन्थ का निर्माण आज से लगभग आठ हजार वर्ष पहले हुआ था। कोई भी साहित्य इतना प्राचीन नहीं है। तब से साहित्य की जो धारा प्रवाहित हुई वह आज तक अविच्छिन्न गति से चली आ रही है। अन्य साहित्यों का इतिहास देखने से प्रतीत होता है कि वह साहित्य अनुकूल परिस्थितियों में पनपता है, प्रवाह कुछ दिन तक अवश्य जारी रहता है; परन्तु विषम परिस्थिति के उप-

स्थित होते ही वह प्रवाह बिल्कुल धीमा हो जाता है। परन्तु संस्कृत साहित्य में यह दोष नहीं दीख पड़ता। वेदों की मन्त्रसहिताओं की रचना के अनन्तर उनकी व्याख्या का काल आता है। उस समय जो ग्रन्थ रचे गये उन्हें 'ब्राह्मण' नाम से पुकारते हैं। ब्राह्मणों के अनन्तर आरण्यकों की रचना हुई, तदनन्तर उपनिषदों की; पीछे रामायण, महाभारत और पुराणों का युग आता है। इसके बाद काव्य, नाटक, गद्य, पद्य, कथा, आख्यायिका, स्मृति और तन्त्र के निर्माण का समय आता है जो मध्ययुग से पहले साहित्यप्रेमी भारतीय नरेशों की छत्रछाया में खूब ही पनपा। इस प्रकार संस्कृत साहित्य की अविच्छिन्न परम्परा आठ हजार वर्षों से निरन्तर चली आ रही है। प्राचीनता की दृष्टि से यदि विचार किया जाय अथवा अविच्छिन्नता की कसौटी पर इसे कसा जाय तो यह साहित्य नितान्त महत्वपूर्ण प्रतीत होता है।

संस्कृत साहित्य सर्वाङ्गीण है। यह सब अङ्गों से परिपूर्ण है। मानव जीवन के लिये चार ही पुरुपार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। संस्कृत साहित्य में इन चारों पुरुषार्थों का विवेचन बड़े विस्तार तथा विचार के साथ किया गया है। साधारण लोगों की यह धारणा बनी व्यापकता हुई है कि संस्कृत साहित्य में केवल धर्मग्रन्थों का ही बाहुल्य है। परन्तु बात कुछ दूसरी है। प्राचीन ग्रन्थकारों ने भौतिक जगत् के साधनभूत अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के वर्णन की ओर भी अपनी दृष्टि फेरी है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' तो प्रसिद्ध ही है। इस एक ग्रन्थ के ही अध्ययन से हम संस्कृत साहित्य में लिखे गये राजनीति शास्त्र से सर्वाङ्गीण परिचय प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इसके सिवाय एक विशाल साहित्य अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में है। 'कामशास्त्र' भी हमारी उपेक्षा का विषय कभी नहीं था। जिस विषय के ज्ञान के ऊपर मानव-जीवन का सौख्य निर्भर है, भला उस विषय का चिन्तन कभी उपेक्षा का विषय हो सकता है? वात्स्यायन मुनि ने

'कामसूत्र' में गार्हस्थ्य जीवन के लिये उपादेय साधनों का वर्णन बड़े अच्छे ढंग से किया है। इसी सूत्र को आधार मानकर अनेक ग्रन्थों की रचना कालान्तर में की गई। विज्ञान, ज्योतिप, वैद्यक, स्थापत्य, पशु-पक्षी-सबन्धी लक्षण ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। धर्म और मोक्ष सम्बन्धी रचनाओं के विषय में तो चर्चा करना ही व्यर्थ है। सच तो यह है कि यहाँ 'प्रेयःशास्त्र' तथा 'श्रेयःशास्त्र' उभय शास्त्रों के अध्ययन की ओर प्राचीन काल से विद्वानों की प्रवृत्ति रही है। 'प्रेयःशास्त्र' वह है जिसमें संसार में सुख देने वाली विद्याओं का वर्णन हो और 'श्रेयःशास्त्र' वह है जिसमें इस प्रपञ्च के दुःखों को दूर करने वाले मोक्षोपयोगी विषयों का विवेचन हो। इन दोनों प्रकार के शास्त्रों की रचना संस्कृत साहित्य में उपलब्ध हो रही है। अन्य साहित्यों की ऐसी दशा नहीं। मिश्रदेश के साहित्य में है क्या? जीवन को सुखमय बनाने वाली विद्याओं का तो अत्यधिक वर्णन है, परन्तु हृदय को विकसित करने वाली कला का न तो कहीं पता है और न अध्यात्मविषयक विवेचन की कहीं चर्चा है। जिस देश में ऊँचे-ऊँचे महलों के बनाने वाले तथा उसे सुसज्जित करने वाले इञ्जीनियर ही परम पूजा के आस्पद हैं, भला उस देश के साहित्य में सर्वाङ्गीणता कहाँ से आ सकती है? पश्चिमी विद्वानों का कहना है कि संस्कृत साहित्य का जो अंश छपकर प्रकाशित हुआ है वह भी ग्रीक और लैटिन साहित्यों के ग्रन्थों से दुगुना है। जो अभी तक हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप में पड़ा हुआ है या किसी प्रकार नष्ट हो गया है उसकी तो गणना ही अलग है।

धार्मिक दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य विशेष गौरव रखता है। जो व्यक्ति आर्यों के मूल धर्म के स्वरूप को जानने का इच्छुक हो उसे वेदों का पढ़ना बहुत जरूरी है। वेदों में आर्यधर्म का विशुद्ध धार्मिक रूप उपलब्ध होता है। भारतीय धर्म तथा दर्शन की दृष्टि भिन्न-भिन्न शाखाएँ कालान्तर में उत्पन्न हुईं तथा नवीन

मतों का भी प्रचार हुआ। परन्तु इनके यथार्थ रूप जानने के लिये वेदों का अध्ययन आवश्यक ही है। वेद वह मूल स्रोत है जहाँ से नाना प्रकार की धार्मिक धाराएँ निकल कर मानव हृदय तथा मस्तिष्क को सदा से आप्यायित करती आई हैं। हम भारतवासियों के लिये ही नहीं, प्रत्युत अन्य देशों के लिये भी, संस्कृत साहित्य का अनुशीलन धार्मिक दृष्टि को लक्ष्य में रखकर विशेष उपादेय है। वेदों के अनुशीलन का ही फल है कि पश्चिमी विद्वानों ने तुलनात्मक पुराण-शास्त्र (कम्पैरेटिभ माइथोलाजी) जैसे नवीन शास्त्र को ढूँढ़ निकाला है। इस शास्त्र से पता चलता है कि प्राचीन काल में देवताओं के सम्बन्ध में लोगों के क्या विचार थे तथा किन किन उपासना के प्रकारों से वे उनकी कृपा प्राप्त करने में सफल होते थे।

सांस्कृतिक दृष्टि

सांस्कृतिक दृष्टि से संस्कृत साहित्य का गौरव और भी विशेष रूप से दीख पड़ता है। इतिहास के पृष्ठों में वह बात प्रमाणित हो चुकी है कि भारतीय लोग अन्य देशों में अपने प्रभुत्व को, अपनी सभ्यता को अपनी संस्कृति को फैलाने के लिये सदा से उद्योगशील रहे हैं। उन्होंने प्रशान्त महासागर के द्वीपपुञ्जों में जाकर अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। भारतवर्ष और चीन के बीच में जो विशाल प्रायद्वीप है उसे आज 'हिन्द चीन' (इन्डो चीन) कहते हैं। इससे सूचित होता है कि उसका आधा अंश हिन्द का और आधा अंश चीन का है। परन्तु १३ वीं और १४ वी शताब्दी से पहले इसमें चीन का कुछ भी अंश न था। यह बिलकुल 'हिन्द' ही था। बहुत पहले यहाँ जंगली जातियाँ रहती थीं परन्तु सुवर्ण की खान होने के कारण जिन भारतीय नाविकों ने इन स्थानों का पता लगाया उन्होंने इसे 'सुवर्ण भूमि' तथा द्वीपों को 'सुवर्णद्वीप' नाम दिया। अशोक के समय यहाँ भी बुद्ध का उपदेश पहुँचाया गया। विक्रम के आरंभ से लेकर १४ वी शताब्दी तक अनेक भारतीय राज्य यहाँ

बने रहे जिनमें संस्कृत राजभाषा के रूप में व्यवहृत होती थी। कम्बोज में मनु की धार्मिक व्यवस्था के अनुसार राज्य-प्रबन्ध किया जाता था। आर्यावर्ती वर्णमाला और वाङ्मय के संसर्ग से यहाँ की स्थानीय बोलियाँ लिखित भाषाएँ बन गईं और धीरे धीरे साहित्य का विकास होने लगा। यहाँ जो वाङ्मय विकसित हुआ वह पूर्ण रूप से भारतीय था। इस प्रकार कम्बोज की 'ख्मेर' भाषा, चम्पा की (आजकल का फ्रांसीसी हिन्द-चीन) 'चम्म' भाषा तथा जावा की 'कवि' भाषा आर्यावर्त की वर्णमाला में लिखी गईं जिनमें संस्कृत साहित्य से आवश्यक उपादान ग्रहण कर सुन्दर तथा कल्याणकारी साहित्य का निर्माण किया गया। जावा की 'कवि' भाषा में रामायण और महाभारत के व्याख्यान विद्यमान हैं। भारतवासियों के समान ही यहाँ के निवासी रामलीला तथा अर्जुनलीला देखकर आज भी अपना चित्तविनोद किया करते हैं। वाली द्वीप की सभ्यता तथा धर्म पूर्णरूपेण भारतीय हैं। यहाँ का धर्म तन्त्र-प्रधान है। वैदिक मन्त्र का उच्चारण तथा संध्या-वन्दन आज भी यहाँ विकृत रूप में ही सही परन्तु विद्यमान तो हैं। मंगोलिया की मरुभूमि में भी संस्कृत साहित्य पहुँचा था। वहाँ भारतीय ग्रन्थ तो उपलब्ध हुये ही हैं, साथ ही साथ वहाँ की भाषा में महाभारत से सम्बद्ध अनेक नाटक उपलब्ध हुए हैं जिनमें 'हिडिम्बा-वध' मुख्य है।

इस प्रकार प्राचीनता, अविच्छिन्नता, व्यापकता, धार्मिकता तथा सभ्यता की दृष्टि से परीक्षा करने पर हमारा संस्कृत साहित्य नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। प्रत्येक भारतीय का यह परम कर्तव्य है कि वह इस साहित्य का अध्ययन करे।

कलादृष्टि से महत्त्व

इनके अतिरिक्त विशुद्ध कला की दृष्टि से भी यह साहित्य उपेक्षणीय नहीं है। जिस साहित्य में कालिदास जैसे कमनीय कविता लिखने वाले कवि हुए, भवभूति जैसे नाटककार हुए जिनकी वशवर्तिनी बनकर सरस्वती ने अपूर्व लास्य दिखलाया, बाणभट्ट जैसे गद्य लेखक

हुए जो अपने सरस-मसृण काव्य से त्रिलोकसुन्दरी कादम्बरी की कमनीय कथा सुना-सुनाकर श्रोताओं को मत्त बनाया; जयदेव जैसे गीतिकाव्य के लेखक विद्यमान थे जिन्होंने अपनी 'मधुर कोमल कान्त पदावली' के द्वारा विदग्धों के चित्त में मधुररस की वर्षा की; श्रीहर्ष जैसे पण्डित-कवि हुए जिन्होंने काव्य और दर्शन का अपूर्व सम्मिलन प्रस्तुत किया उस साहित्य की महिमा का वर्णन समुचित शब्दों में कैसे किया जा सकता है ?

३

संस्कृत भाषा का परिचय

यह साहित्य जिस भाषा में निबद्ध किया गया है उसका नाम है 'संस्कृत भाषा', या देववाणी या भारती। संसार की समस्त परिष्कृत भाषाओं में संस्कृत ही प्राचीनतम है, इस विषय में विद्वानों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि में संसार की भाषाओं में दो ही भाषाएँ ऐसी हैं जिसके बोलने वालों ने संस्कृति तथा सभ्यता का निर्माण किया है। एक है 'आर्यभाषा' और दूसरी है सामी या 'सेमेटिक-भाषा'। आर्य-भाषा के अन्तर्गत दो विशिष्ट शाखाएँहैं—पश्चिमी और पूर्वी। पश्चिमी शाखा के अन्तर्गत योरप की सभी प्राचीन तथा आधुनिक भाषाएँ सम्मिलित हैं— ग्रीक, लैटिन, ट्यूटानिक, फ्रेंच, जर्मन, इंग्लिश आदि। ये सब भाषाएँ मूल आर्य-भाषा से ही उत्पन्न हुई हैं। पूर्वी शाखा में दो प्रधान विभाग हैं—ईरानी और भारतीय। ईरानी भाषा का नाम 'जेन्द अवेस्ता' है जिसमें पारसियों के मूल धार्मिक ग्रन्थ लिखे गये हैं। भारतीय-शाखा में संस्कृत ही सर्वस्व है। आर्यभाषाओं में यही सबसे प्राचीनतम है। आर्य-भाषा के मूलरूप को जानने के लिये जितना साधन

यहाँ है उतना कहीं नहीं है। आजकल भारत की समस्त प्रान्तीय-भाषाएँ (द्राविड़ी भाषाओं को छोड़कर) संस्कृत भाषा से ही निकली हैं।

संस्कृत शब्द 'सम्' पूर्वक 'कृ' धातु से बना हुआ है जिसका मौलिक अर्थ है—संस्कार की गई भाषा। भाषा के अर्थ में 'संस्कृत' का प्रयोग वाल्मीकीय रामायण में पहले पहल मिलता है। सुन्दरकाण्ड में सीता जी से किस भाषा में वार्तालाप किया जाय? इसका विचार करते हुए हनुमान जी ने कहा है कि यदि द्विज के समान मैं संस्कृतवाणी बोलूँगा तो सीता मुझे रावण समझकर डर जायगी[1]। यास्क और पाणिनि[2] के ग्रन्थों में लोक-व्यवहार में आनेवाली बोली का नाम केवल 'भाषा' है। 'संस्कृत' शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं मिलता। जब 'भाषा' का सर्वसाधारण में प्रचार कम होने लगा और पाली तथा प्राकृत भाषाएँ बोल-चाल की भाषाएँ बन गईं, तब जान पड़ता है विद्वानों ने प्राकृत भाषा से भेद दिखलाने के लिये इसका नाम संस्कृत भाषा दे दिया। महाकवि दण्डी के इस समर्थन से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। दण्डी (सप्तम शतक) ने प्राकृतभाषा से भेद दिखलाने के अवसर पर 'संस्कृत' का प्रयोग भाषा के लिए स्पष्टतः किया है—

> संस्कृत नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।
>
> —काव्यादर्श १।३३

यह वाल्मीकि रामायण से चली आने वाली परम्परा का अनुसरण है, क्योंकि लोक-व्यवहार में प्रचलित भाषा के रूप में प्राकृत का

---

[1] यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥ सुन्दर-काण्ड ५।१४

[2] भाषायामन्वध्यायञ्च। निरुक्त १।४।
'भाषायां सदवसश्रुवः'। अष्टा० ३।२।१०८

उदय वाल्मीकियुग की घटना है। इसका अनुमान हनुमान जी के पूर्वोक्त निर्देश से स्पष्टतः सिद्ध होता है।

लौकिक और वैदिक संस्कृत में अन्तर

संस्कृत भाषा के दो रूप हमारे सामने प्रस्तुत हैं—वैदिकी तथा लौकिकी, वेदभाषा तथा लोकभाषा। वैदिक भाषा में संहिता तथा ब्राह्मणों की रचना हुई है। लौकिक संस्कृत में वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदि की रचना है। इन दोनों भाषाओं के शब्दरूपों में पर्याप्त अन्तर है जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) अकारान्त पुंलिंग शब्दों का प्रथमा बहुवचन रूप असस् और अस् दो प्रत्ययों के जोड़ने से बनता है। जैसे, ब्राह्मणासः तथा ब्राह्मणाः। लौकिक संस्कृत में केवल अन्तिम रूप ही ग्राह्य है।

(२) अकारान्त शब्दों का तृतीया बहुवचन दो प्रकार का होता है-- देवेभिः तथा देवैः। लौकिक संस्कृत में अन्तिम रूप ग्राह्य है।

(३) अकारान्त शब्दों का प्रथमा द्विवचन 'आ' प्रत्यय के योग से और ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का तृतीया एकवचन 'ई' प्रत्यय के योग से बनता है जैसे अश्विना (अश्विनौ) सुष्टुती (सुष्टुत्या)।

(४) सप्तमी का एकवचन अनेक जगहों में लुप्त हो जाता है जैसे परमे व्योमन्। लौकिक संस्कृत है – व्योम्नि या व्योमनि।

(५) अकारान्त नपुंसक शब्दों का बहुवचन 'आ' तथा 'आनि' दो प्रत्ययों के योग से बनता है, जैसे 'विश्वानि अद्भुता' (लौकिक संस्कृत में अद्भुतानि होगा)।

(६) क्रियापदों में उत्तम पुरुष बहुवचन (वर्तमान काल) 'मसि' प्रत्यय के योग से बनता है। मिनीमसि द्यवि द्यवि। लौकिक संस्कृत 'मिनीमः'।

(७) ‘लोट्’ लकार (आज्ञा) मध्यमपुरुष बहुवचन के प्रत्यय हैं—त, तन्, थन , तात् । जैसे श्रणोत, सुनोतन, यतिष्ठन, कृणुतात् ।

(८) लौकिक संस्कृत में क्रियार्थक क्रिया के लिए ‘तुमुन्’ का प्रयोग होता है, जैसे—गन्तुम् (जाने के लिये) कर्तुम् (करने के लिये) आदि । परन्तु वेद में इस अर्थ में लगभग ८ या १० प्रत्यय होते हैं । जैसे से, असे, वसे, कसे, वध्यै, शध्यै आदि । जैसे, जीवसे (जीवितुम्) पिवध्यै (पातुम्) दातवै, (दातुम्) कर्तवे (कर्तुम्) ।

(९) वैदिकभाषा में आज्ञा तथा सम्भावना दिखलाने के लिये एक नये लकार की ही योजना है जिसे लेट् लकार कहते हैं । परन्तु यह लौकिक संस्कृत में बिलकुल ही नहीं है । इसके कुछ उदाहरण ये है--प्र ण आयूंषि तारिपत् (हे वरुण, हमारे उम्र को बढ़ाओ), यहाँ ‘तारिषत्’ लेट् लकार है । लौकिक भाषा में इसकी जगह पर ‘तारय’ कहेगे ।

‘ब्राह्मणों’ की भाषा लौकिक एवं वैदिक युग की मध्यकालीन भाषा है । उसमें कुछ प्रयोग तो संहिताओं के समान मिलते हैं और कुछ प्रयोग लौकिक संस्कृत के । निरुक्त की भाषा भी इसी काल की है । पाणिनि संस्कृत साहित्य के सब से श्रेष्ठ वैयाकरण हैं । उन्होंने संस्कृत भाषा को सदा विशुद्ध तथा व्यवस्थित बनाये रखने के लिये प्रसिद्ध व्याकरण बनाया है, जो आठ अध्यायों में विभक्त होने के कारण ‘अष्टाध्यायी’ कहलाता है । संस्कृत भाषा में जो एकरूपता और व्यवस्था दीख पड़ती है, वह सब पाणिनि की ही अनुकम्पा का फल है । कुछ लोग पाणिनि पर यह दोष लगाते हैं कि उन्होंने भाषा को जकड़ कर अस्वाभाविक बना दिया परंतु बात ऐसी नहीं है । यदि पाणिनि व्याकरण न रहता तो संस्कृत भाषा में देश काल के वैशिष्ट्य से इतना रूपान्तर होता कि उसे हम पहचान भी नहीं सकते । अष्टाध्यायी के ऊपर ‘कात्यायन’ ने वार्त्तिक लिखा जिसमें उन्होंने नये प्रयुक्त शब्दों की

व्युत्पत्ति दिखलाई। विक्रमपूर्व द्वितीय शतक में पतञ्जलि ने 'अष्टाध्यायी' के ऊपर 'भाष्य' लिखा जो इतना सुन्दर, उपादेय तथा प्रामाणिक है कि उसे 'महाभाष्य' के नाम से पुकारते हैं। लौकिक संस्कृत के कर्त्ता-धर्ता येही तीन मुनि हैं जिनके कारण व्याकरण 'त्रिमुनि' के नाम से विख्यात है। पिछले युग में संस्कृत व्याकरण के ऊपर जो कुछ लिखा गया वह केवल इस 'मुनित्रयं' के ग्रन्थों का व्याख्यानमात्र है। कुछ लोगों का कथन है इस 'मुनि-त्रय' के द्वारा व्याख्यात तथा विवृत होने के कारण से ही यह देववाणी 'संस्कृत' नाम से अभिहित की जाती है।

संस्कृत बोलचाल की भाषा

संस्कृत के स्वरूप का विचार करते समय यह जानना जरूरी है कि लोक-व्यवहार में उसका क्या रूप था। वह बोलचाल की भाषा थी या नहीं? इसके विषय में दो विरोधी मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि प्राकृत ही बोल-चाल की भाषा थी। संस्कृत तो केवल साहित्यिक भाषा है जिसका प्रयोग ग्रन्थों में ही होता था, बोलचाल में नहीं। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि यह बोल-चाल की भी भाषा रही है। किसी समय में भारतीय जनता अपने भावों को इसी भाषा के द्वारा प्रकट किया करती थी। धीरे धीरे प्राकृत के उदय होने से इसका व्यवहार-क्षेत्र कम होने लगा परन्तु फिर भी इसका चलन तथा व्यवहार शिष्ट लोगों में बना ही रहा।

महर्षि यास्क ने निरुक्त नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है जिसमें कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है। इस ग्रन्थ का प्रमाण संस्कृत को बोलचाल की भाषा सिद्ध कर रहा है[1]। वैदिक संस्कृत से भिन्न साधारण जनता की जो बोली थी उसको यास्क ने स्थान स्थान पर 'भाषा' कहा है। उन्होंने वैदिक कृदन्त शब्दों की व्युत्पत्ति उन धातुओं से तबलाई है जो लोकव्यवहार में आते थे। उस समय भिन्न-भिन्न

---

[1] भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा कृतो भाष्यन्ते—निरुक्त २।२

प्रान्तों में संस्कृत शब्दों के जो रूपान्तर तथा विशिष्ट प्रयोग काम में लाये जाते थे उन सबका उल्लेख यास्क ने किया है। उदाहरणार्थ 'शवति' क्रियापद का प्रयोग कम्बोज देश (वर्तमान पञ्जाब का पश्चिमोत्तर-प्रान्त) में 'जाने' के अर्थ में किया जाता था, परन्तु इसका संज्ञा पद 'शव' (मुर्दा) का प्रयोग आर्य लोग भिन्न अर्थ में करते थे। पूर्वी प्रान्तों में (प्राच्य) में 'दाति' क्रियापद का प्रयोग 'काटने' के अर्थ में होता था परन्तु उत्तर के लोगों में इसी से बने हुए 'दात्र' शब्द का ही प्रयोग हँसिया के अर्थ में होता था।[1] इससे स्पष्ट है कि यास्क के समय में (विक्रम से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व) संस्कृत बोलचाल की भाषा थी।

पाणिनि के समय में (विक्रम पूर्व पाँच सौ) संस्कृत का यह रूप बना ही रहा। पाणिनि भी इस बोली को 'भाषा' ही के नाम से पुकारते हैं। दूर से पुकारने के समय तथा प्रत्यभिवादन के अवसर पर पाणिनि ने प्लुत स्वर का विधान बतलाया है। यदि दूर से कृष्ण को पुकारना होगा तो संस्कृत में 'आगच्छ कृष्ण३' कहना पड़ेगा। यहाँ पाणिनि के अनुसार कृष्ण का अकार प्लुत होगा[2]। उसी प्रकार अभिवादन करने के अनन्तर जो आशीर्वाद दिया जायगा वहाँ पर भी प्लुत करना पड़ेगा। जैसे देवदत्त नामक कोई छात्र गुरु को इस प्रकार प्रणाम करे 'आचार्य देवदत्तोऽहं त्वामभिवादये (हे गुरु जी ! मैं देवदत्त आपको प्रणाम कर रहा हूँ)' तो गुरु यह कहकर आशीर्वाद देगा—'आयुष्मान् एधि देवदत्त३' अर्थात् आयुष्मान बनो, हे देवदत्त। इस आशीर्वाद-वाक्य में देवदत्त के अन्त का अकार प्लुत हो जायगा, यह पाणिनि की व्यवस्था[3] है।

---

[1] शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु—निरुक्त, वहीं।

[2] दूराद्धूते च—अष्टाध्यायी ८।२।८४

[3] प्रत्यभिवादेऽशूद्रे। ८।२।८३

इन नियमों का प्रयोग तभी होगा जब भाषा वस्तुतः बोली जाती होगी। निरुक्तकार के समान पाणिनि ने संस्कृत के उन रूपान्तरों को भी दिखलाया है जो पूर्वी तथा उत्तरी लोगों में व्यवहृत किये जाते थे। बोलचाल के बहुत से मुहावरे पाणिनि ने अपने ग्रंथ में दिये हैं जैसे 'दण्डा-दण्डि' (डण्डा डण्डी, लाठा-लाठी) केशाकेशि (नोचा नोची, बालों को खैंचकर होने वाला युद्ध) हस्ताहस्ति (हाथा-हाथी या हाथा-पाई), उदरपूरं भुङ्क्ते (पेटभर खाता है) इत्यादि। इतना ही नहीं पाणिनि ने शब्दों में स्वर-विधान के नियम को बड़े विस्तार के साथ दिया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि की भाषा बोलचाल की भाषा थी। यदि ग्रन्थ के लिखने में ही उसका उपयोग होता तो पूर्वोल्लिखित नियमों की उपयोगिता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती।

पाणिनि के अनन्तर कात्यायन के समय (विक्रमपूर्व चतुर्थ शतक) में तथा पतञ्जलि के समय में (विक्रमपूर्व द्वितीय शतक) संस्कृत भाषा व्यवहार में बढ़ती चली गई। नये-नये शब्द आने लगे; नये नये मुहावरों का प्रयोग होने लगा, इसीलिये कात्यायन ने वार्त्तिक लिखकर उनकी व्युत्पत्ति और व्यवस्था दिखला दी। पाणिनि ने 'हिमानी' तथा 'अरण्यानी' का प्रयोग केवल स्त्रीलिंग की कल्पना में माना है परन्तु कात्यायन के समय में विशिष्ट अर्थ में इनका प्रयाग होने लगा[1]। 'अरण्यानी' का अर्थ हुआ बड़ा जंगल। इसी प्रकार कात्यायन के समान 'यवनानी' का प्रयोग यवनों की लिपि के अर्थ में होने लगा[2], पाणिनि के समय में यवन की स्त्री के लिए ही इसका प्रयोग होता था।

पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में नये प्रयोगों की प्रक्रिया दिखलाई है। संस्कृत शब्दों के प्रान्तीय रूपान्तरों का उल्लेख उन्होंने भी

---

[1] हिमारण्ययोर्महत्वे—४।१।११४ पर वार्तिक

[2] यवनाल्लिप्याम्। ४।१।११४ पर वार्तिक।

किया है। जैसे 'चलने' के अर्थ में सुराष्ट्र (काठियावाड़) देश में 'हम्मति' का प्रयोग करते हैं; पूरब देश में 'रंहति' का, आर्य लोगों में गच्छति का। पतञ्जलि ने ऐसे लोगों को 'शिष्ट' बतलाया है जो बिना किसी अध्ययन के ही संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते[1] थे। इनके जो प्रयोग होते थे वह सर्वसाधारण के लिये प्रमाणभूत माने जाते थे। इनके महाभाष्य ने एक बड़ा रोचक संवाद दिया है जिसमें 'प्राजिता' (चलानेवाला) शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में वैयाकरण तथा सारथि में खूब वादविवाद हुआ है। वैयाकरण ने पूछा—इस रथ का 'प्रवेता' कौन है? सूत - आयुष्मान्, मैं इस रथ का प्राजिता (चलानेवाला) हूँ। वैयाकरण —'प्राजिता' शब्द अपशब्द है। सूत—(देवानां प्रिय) महाशय जी, आप केवल प्रासिज्ञ हैं; इष्टिज्ञ (प्रयोग ज्ञाता) नहीं हैं। वैयाकरण—अहो, यह दुष्ट सूत (दुरुत) हमें कष्ट पहुँचा रहा है। सूत—आप का 'दुरुत' प्रयोग ठीक नहीं है। 'सूत' शब्द सू (प्रसव, उत्पन्न करना) धातु से बना है, 'वेञ्' धातु (बिनना) से नहीं। अतः यदि आप निन्दा करना चाहते हैं तो 'दुःसूत' शब्द का प्रयोग करें। इस वार्तालाप[2] से प्रतीत होता है कि सूत का कथन अधिक

---

[1] एतस्मिन् आर्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमानकारणा किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारंगताः तत्रभवन्तः शिष्टाः। शिष्टाः शब्देषु प्रमाणम्—६।३।१०९ सूत्र पर भाष्य।

[2] एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह—'कोऽस्य रथस्य प्रवेता' इति। सूत आह—'अहमायुष्मन् अस्य रथस्य प्राजिता' इति। वैयाकरण आह अपशब्द इति ? सूत आह—प्रासिज्ञो देवानां प्रियः न तु इष्टिज्ञः। इष्यत एतद् रूपमिति। वैयाकरण आह—अहो खल्वेतेन दुरुतेन बाध्यामहे इति। सूत आह—न खलु वेञः सूतः, सुवतेरेव सूतः। यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या दुःसूतेनेति वक्तव्यम्। (२।४।५६ सूत्र पर भाष्य।)

उपयुक्त है। वैयाकरण तो केवल सूत्रों को ही जानता है, वास्तव में प्रयुक्त शब्दों की उसे जानकारी नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि जिस भाषा को रथ हाँकने वाला समझे और बोले उसे बोलचाल की भाषा न कहना महान् अपराध होगा। मुहावरों से तो महाभाष्य भरा पड़ा है—उन मुहावरों से. जिनका प्रयोग हमारी ग्रामीण बोलियों में आज भी विद्यमान है चाहे खड़ी बोली में भले न दीख पड़े। पतञ्जलि ने कृ धातु के निर्मलीकरण (साफ सुथरा करना) अर्थ में प्रयुक्त होने का उल्लेख किया है। यथा पादौ कुरु (=पैर साफ करो), पृष्ठं कुरु (=पीठ को मीसो)[1]। "पृष्ठं कुरु, पादौकुरु" की छाया हूबहू बनारसी बोली में इस प्रकार दीख पड़ती हैं—'गौड़ौ कइली मूड़ौ कइली तबु काम ना भइल।' अर्थ स्पष्ट है कि हर प्रकार की सेवा करने पर भी हमारा काम नहीं सरा। विक्रम के हजारों वर्ष पूर्व से लेकर विक्रम के उदय काल तक संस्कृत अवश्य बोलचाल की भाषा थी; इन प्रमाणों के आधार पर इसी परिणाम पर हम पहुँचते हैं। भारत के अनेक प्राचीन संस्कृत-प्रेमी राजाओं ने यह नियम बना रखा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत का ही प्रयोग किया जाय। राज-शेखर ने विक्रम का नाम इस प्रसंग में निर्दिष्ट किया है। उज्जयिनी के राजा साहसाङ्क पदवीधारी विक्रमादित्य ने यह नियम बना रखा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत भाषा ही बोली जाती थी (काव्यमीमांसा पृ० ५०)। धारा-नरेश राजा-भोज (११ शतक) के समय में भी संस्कृत का बोलने तथा लिखने के लिए बहुत प्रयोग होता था। इन प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत ग्रन्थों में ही केवल प्रयुक्त होने वाली

---

[1] करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि विद्यते। पृष्ठं कुरु पादौ कुरु उन्मृदानेति गम्यते। —१।३।१ पर भाष्य।

साहित्यिक भाषा न थी, प्रत्युत वह लोकभाषा थी, यद्यपि 'लोक' शब्द से हम साधारण जनता न समझ कर शिष्ट लोक ही मानते हैं।

संस्कृत साहित्य का इतिहास अनेक काल-विभागों में बाँटा जा सकता है। पहला काल श्रुतिकाल है जिसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् का निर्माण हुआ। इस काल में वाक्यरचना सरल, संक्षिप्त और क्रियाबहुल हुआ करती थी। दूसरा हुआ स्मृतिकाल इतिहास का जिसमें रामायण, महाभारत, पुराण तथा वेदाङ्गों की रचना कालविभाग हुई। तीसरा वह है जिस समय पाणिनि के नियमों के द्वारा भाषा नितान्त संयत तथा सुव्यवस्थित की गई तथा काव्य-नाटकों की रचना होने लगी। इस काल को हम मोटे तौर से 'लौकिक संस्कृत का काल' कह सकते हैं। इस अल्पकाय इतिहास में इस तीनों के विस्तृत विवेचन के लिए स्थान नहीं है। तीसरे काल का ही विशेष वर्णन यहाँ रहेगा। विषय की पूर्ति के निमित्त पूर्वकाल के साहित्य का सामान्य परिचय देकर ही हमें सन्तोष करना पड़ रहा है।

द्वितीय परिच्छेद

वैदिक साहित्य

वेद हिन्दू धर्म के सर्वस्व हैं। वे हमारे सबसे प्राचीन धर्म-ग्रन्थ हैं। भारत की धार्मिकता में जो कुछ निष्ठा देखी जाती है उसका मूल स्रोत वेद ही हैं। वेद महर्षियों के द्वारा अनुभव किये गये तत्त्वों के साक्षात् प्रतिपादक हैं। स्मृति तथा पुराण भी हमारे लिये महत्त्व मान्य हैं परन्तु वेद के अनुकूल होने के कारण से ही उनका इतना गौरव है। श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर श्रुति को ही हम अधिक गौरव देते हैं। हमारे धर्म की परिभाषा भी यही है कि जो वस्तु वेद में विहित, इष्ट पदार्थों के उत्पन्न करने में साधक है वही धर्म है। अन्य दृष्टियों से भी वेदों की विशेष महत्ता है। ये संसार के सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। आर्यों की सभ्यता और संस्कृति, समाज तथा धर्म के जानने का एकमात्र साधन यहीं उपलब्ध होता है। धर्म के विकास का पूर्ण निरूपण वेदों के अध्ययन से ही किया जा सकता है। वेद की भाषा सर्वथा प्राचीनतम है। आर्यभाषा के मूल स्वरूप जानने में वैदिक भाषा ही हमारी सहायता करती है।

वेद के प्रधानतया दो विभाग हैं—संहिता और ब्राह्मण। मन्त्रों के समुदाय का नाम संहिता है। ब्राह्मण ग्रन्थ में इन्हीं मन्त्रों की एक प्रकार से विस्तृत व्याख्या है। परन्तु विशेषतः यज्ञयाग का सविस्तर वर्णन ही इसका मुख्य उद्देश्य है। ब्राह्मण के तीन खण्ड विभाग हैं—(१) ब्राह्मण (२) आरण्यक (३) उपनिषद्। आरण्यक ग्रन्थ वे हैं जो जन साधारण से दूर जंगल में पढ़े

जाते थे। इसमें यज्ञों के आध्यात्मिक रूप का विवेचन हैं। ब्राह्मण गृहस्थों के लिये उपादेय हैं, तो आरण्यक वानप्रस्थ आश्रम में जीवन बिताने वाले मनुष्यों के लिये हितकर हैं। उपनिषदों से तात्पर्य ब्रह्मविद्या से है जिसके अनुशीलन करने से प्राणी संसार के प्रपञ्चों से छुटकारा पाकर अनन्त सुख का अधिकारी बनता है। उपनिषद् वैदिक साहित्य का अन्तभाग है। इसलिये उसे 'वेदान्त' के नाम से भी पुकारते हैं। उपनिषदों का सारांश भगवद्गीता है। ब्रह्मसूत्र में बादरायण व्यास ने उपनिषदों के सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप से दिखलाया है। ये ही तीनों ग्रन्थ--उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता--प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं। विषय की दृष्टि से वेद में दो विभाग हैं--कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक में प्रधानतया कर्म की विवेचना है। अतः ये कर्मकाण्ड के अन्तर्गत माने जाते हैं। उपनिषदों का प्रधान विषय ज्ञान का विवेचन करना है। अतः वे ज्ञानकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं।

चार संहितायें

किसी देवताविशेष की स्तुति में प्रयुक्त होनेवाले अर्थ को स्मरण कराने वाले वाक्यको 'मन्त्र' कहते हैं। ऐसे मन्त्रोंके समुदाय 'संहिता' कहलाते हैं। संहिताएँ चार हैं—(१) ऋक् संहिता (२) यजुः संहिता (३) सामसंहिता (४) तथा अथर्व संहिता। इन संहिताओं का संकलन महर्षि वेदव्यास ने यज्ञ की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर किया। यज्ञ के लिये चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती हैं—(१) होता (२) अध्वर्यु (३) उद्गाता (४) ब्रह्मा। 'होता' शब्द का अर्थ है पुकारने वाला। होता यज्ञ के अवसर पर विशिष्ट देवता के प्रशंसात्मक मन्त्रों का उच्चारण कर उस देवता का आह्वान करता है। उसके लिये आवश्यक मन्त्रों का संकलन जिस संहिता में किया गया है उसका नाम ऋक् संहिता या ऋग्वेद है। अध्वर्यु का काम यज्ञों का विधिवत् संपादन है। उसके लिये आवश्यक मन्त्रों का समुदाय यजुःसंहिता कहलाता है।

उद्गाता शब्द का अर्थ है उच्च स्वर से गानेवाला। उसका कार्य ऋचाओं के ऊपर स्वर लगाकर उन्हें मधुर स्वर में गाना होता है। इस कार्य के लिये सामवेद का संकलन किया गया है। ब्रह्मा नामक ऋत्विज् का काम यज्ञ का पूर्ण रूप से निरीक्षण करना है जिससे अनुष्ठान में किसी प्रकार की त्रुटि न हो। ब्रह्मा को समग्र वेदों का ज्ञाता होना चाहिये पर उसका विशिष्ट वेद अथर्ववेद है।

त्रयी

वेद को 'त्रयी' के नाम से भी पुकारते हैं। इसका कारण यह है कि उसमें तीन वस्तुएँ प्रधानतया पाई जाती हैं–ऋक्, साम और यजुः। पाद से युक्त छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहते हैं। इन ऋचाओं के गायन को साम कहते हैं। इन दोनों से पृथक् गद्यात्मक वाक्यों को यजुः कहते हैं। वेद ऋक्, यजुः और साम के रूप में विभक्त है। इसीलिए वह 'त्रयी' के नाम से भी अभिहित होता है।

१

वैदिक संहितायें

ऋग्वेद

इन चारों संहिताओं में ऋग्वेद संहिता सबसे प्राचीन मानी जाती है। अन्य संहिताओं में ऋग्वेद के अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। सामवेद तो पूरा का पूरा ऋग्वेद के मन्त्रों से ही बना हुआ है। ऋग्वेद एक ग्रन्थ न होकर एक विशालकाय ग्रन्थसमूह है। भाषा तथा अर्थ की दृष्टि से वैदिक साहित्य में भी यह अनुपम माना जाता है। इसके दो प्रकार के विभाग उपलब्ध होते हैं:—(१) अष्टक, अध्याय और सूक्त (२) मण्डल, अनुवाक और सूक्त। पूरा ऋग्वेद आठ भागों में विभक्त है जिन्हें 'अष्टक' कहते हैं। प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं। इस प्रचार पूरे ऋग्वेद में आठ अष्टक अथवा चौसठ अध्याय हैं। यह विभाग पाठ-

क्रम के सुभीते के लिये किया गया प्रतीत होता है। दूसरा विभाग इससे कहीं अधिक ऐतिहासिक तथा महत्त्वशाली है। इस विभाग में समग्र ऋग्वेद दश खण्डों में विभक्त हैं जिन्हें 'मण्डल' कहते हैं। मण्डल में संगृहीत मन्त्र-समूह को 'सूक्त' कहते हैं। इन सूक्तों के खण्डों को ऋचाएँ कहते हैं। ऋग्वेद में सूक्तों की संख्या 'खिल सूक्तों' को मिलाकर १०२८ है तथा मन्त्रों की संख्या ११ हजार के लगभग अर्थात् १०, ५८० है।

वेदों को हम लोग ऋषियों के द्वारा दृष्ट मानते हैं। ऋषि शब्द का अर्थ ही देखनेवाला है। यास्क ने ऋषियों को इसीलिये मन्त्र का द्रष्टा माना है। ऋग्वेद के ऋषिगण भिन्न भिन्न कुटुम्बों से सम्बद्ध हैं। एक कुल के ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संग्रह एक मण्डल में किया गया है। प्रथम मण्डल और दशम मण्डल में तो नाना कुटुम्बों के ऋषियों के मन्त्र हैं परन्तु द्वितीय से लेकर सप्तम तक प्रत्येक में एक ही कुटुम्ब के ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संकलन है। इन ऋषियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) गृत्समद (२) विश्वामित्र (३) वामदेव (४) अत्रि (५) भारद्वाज (६) वसिष्ठ—जो क्रमशः द्वितीय से लेकर सप्तम मण्डल तक से सम्बद्ध हैं। अष्टम मण्डल में काण्व वंश और अङ्गिरा गोत्र के ऋषियों के मन्त्र हैं। नवम मण्डल में सोम-विषयक मन्त्रों का ही संकलन है। सोम का नाम है पवमान अर्थात् पवित्र करने वाला। सोम-विषयक होने से ही इस मण्डल का नाम 'पवमान मण्डल' है। दशम मण्डल के मन्त्र नाना ऋषिकुलों से सम्बद्ध हैं, इसमें केवल देवताओं की स्तुति नहीं है अपि तु अन्य विषयों का भी सन्निवेश है। दूसरे से लेकर सातवें मण्डल तक ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है। दशम मण्डल पूरे ऋग्वेद में अर्वाचीन माना जाता है।

कहा गया है कि सामवेद का संकलन उद्‌गाता ऋत्विक् के निमित्त किया गया है। यज्ञ के अवसर पर जिस देवता के लिए होम किया जाता था, उसे बुलाने के लिए उद्‌गाता उचित स्वर में उस देवता का स्तुति-

सामवेद

मन्त्र गाता था। गायन को साम कहते हैं। ये ऋचाओं के ऊपर ही आश्रित हैं। ऋचायें ही गाई जाती हैं। इसलिए समग्र सामवेद में ऋचायें ही हैं। इनकी संख्या १५४९ है जिनमे केवल ७५ ऋचायें ही स्वतन्त्र हैं जो ऋक्संहिता में उपलब्ध नहीं होतीं। इसलिए सामवेद की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती। साम संहिता के दो भाग हैं—(१) पूर्वार्चिक (२) उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक को छन्दः, छन्दसी अथवा छन्दसिका कहते हैं। विषयानुसार इस खण्ड की ऋचायें ४ भागों में विभक्त की गई हैं—(क) आग्नेय पर्व (अग्नि के विषय में ऋचायें) (ख) ऐन्द्र, (ग) पवमान (सोम-विषयक मन्त्र), (घ) आरण्यक पर्व। दूसरा खण्ड उत्तरार्चिक के नाम से प्रख्यात है। इसमें विषय के अनुसार कई उपखण्ड हैं जिसमें इन अनुष्ठानों का निर्देश किया गया है— (१) दशरात्र, (२) संवत्सर, (३) ऐकाह, (४) अहीन, (५) सत्र, (६) प्रायश्चित्त और (७) क्षुद्र। साम के गायनों में सात स्वरों का प्रयोग किया जाता है। संगीत का मूल यहीं उपलब्ध होता है। उस प्राचीनकाल में संगीत की इतनी उन्नति भारतीय सभ्यता के उदात्त विकास की सूचना देती है।

यजुर्वेद

गद्य को 'यजुः' कहते हैं। इस वेद में उन गद्य वाक्यों का समूह है जिसका उपयोग अध्वर्यु यज्ञ के अवसर पर किया करता है। यज्ञ का वास्तव क्रियात्मक अनुष्ठान 'अध्वर्यु' ही करता है। अतः इस वेद का सम्बन्ध यज्ञानुष्ठान के साथ सबसे अधिक है। इसके दो भेद हैं—कृष्ण यजुः और शुक्लयजुः। इस नामकरण के विषय में एक साम्प्रदायिक कथा पुराणों में दी गई है। वेदव्यास ने यजुर्वेद अपने शिष्य वैशम्पायन को सिखलाया जिन्होंने इसे याज्ञवल्क्य ऋषि को पढ़ाया। किसी कारण गुरु अपने शिष्य से रुष्ट हो गए और पठित विद्या को उनसे माँगने लगे। याज्ञवल्क्य ने पठित यजुषों को वमन कर दिया। तब अन्य शिष्यों ने तित्तिर का रूप धारण कर उन्हें चुँग लिया। यही कृष्ण-

यजुः हुआ। उधर याज्ञवल्क्य ने सूर्य की आराधना कर नवीन यजुषों को उत्पन्न किया। यही हुआ शुक्ल यजुर्वेद। इन दोनों के रूप में महान् अन्तर है। शुक्लयजुः में केवल मन्त्रों का ही संग्रह है जिनमें विनियोग-वाक्य नहीं हैं। अतः ब्राह्मण से अमिश्रित होने के कारण यह 'शुक्ल' कहा जाता है। परन्तु कृष्णयजुर्वेद में छन्दोबद्ध मन्त्र तथा गद्यात्मक विनियोगों का मिश्रण है। इसी मिलावट के कारण इसे कृष्णयजुर्वेद कहते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद की संहिता वाजसनेयी संहिता कहलाती है क्योंकि सूर्य ने वाजी (घोड़े) का रूप धारण कर इसका उपदेश दिया था। इसमें ४० अध्याय हैं जिनकी रचना विशिष्ट यज्ञों को ध्यान में रखकर की गई है। इस वेद की दो प्रधान शाखायें हैं—माध्यन्दिन और काण्व। पहली शाखा उत्तरीय भारत में उपलब्ध है और दूसरी शाखा महाराष्ट्र में मिलती है। इन शाखाओं की संहितायें भिन्न हैं; पर भिन्नता अधिक नहीं है।

कृष्ण यजुर्वेद की भी अनेक शाखायें थीं। आजकल केवल चार शाखायें प्राप्त हैं जिनके अनुसार इस वेद की संहितायें निम्न रूप से हैं—

(१) तैत्तिरीय संहिता—यही प्रधान तथा प्रसिद्ध शाखा है। इसमें सात खण्ड हैं जिन्हें अष्टक या काण्ड कहते हैं। प्रत्येक काण्ड में कतिपय अध्याय हैं जिन्हें प्रश्न या प्रपाठक कहते हैं। ये प्रश्न अनेक अनुवाकों में विभक्त हैं।

(२) मैत्रायणी संहिता ⎫ ये दोनों संहितायें तैत्तिरीय से मिलती
(३) काठक संहिता ⎭ हैं। क्रम में यत्र तत्र अन्तर है।

(४) कठ-कापिष्ठल संहिता—अभी तक केवल आधी ही उपलब्ध हुई है।

कृष्ण यजुर्वेद में भी यज्ञों का ही वर्णन है। शुक्ल यजुः से अन्तर यही है कि इन यज्ञों का क्रम दोनों स्थानों पर भिन्न भिन्न रूप से है।

अथर्ववेद

अथर्ववेद में यज्ञभागों का सम्बन्ध बहुत ही कम है। इसमें मारण, मोहन, उच्चाटन आदि अभिचार-क्रियाओं का विशेष वर्णन है। अथर्व ऋषि के द्वारा दृष्ट होने के कारण इसे अथर्व संहिता कहते हैं। यह संहिता बीस खण्डों में विभक्त है जिन्हें 'काण्ड' कहते हैं। काण्डों के भीतर प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त तथा मन्त्र का सन्निवेश क्रमशः किया गया है। इस प्रकार अथर्व वेद में २० काण्ड, ३४ प्रपाठक, १११ अनुवाक. ७३१ सूक्त तथा ५८४९ मन्त्र हैं। इनमें लगभग बारह सौ ऋचायें ऋग्वेद से ली गई हैं। इस वेद का लगभग छठाँ भाग गद्य में है। आदि के १३ काण्डों से मारण मोहनादि क्रियाओं का सम्बन्ध है। १४ वें काण्ड में विवाहविषयक मन्त्र हैं। १८ वाँ काण्ड श्राद्ध विषयक है तथा २० वें काण्ड में सोमयोग का वर्णन है। इन काण्डों के प्रायः समस्त मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं।

देवता

ऋग्वेद में भिन्न भिन्न देवताओं के विषय में स्तुतियाँ हैं। निरुक्त के रचयिता महर्षि यास्क ने स्थान को दृष्टि से देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—पृथिवीस्थान, अन्तरिक्षस्थान तथा द्युस्थान। पृथ्वी में रहने वाले देवताओं में अग्नि सबसे बढ़कर हैं। ऋग्वेद के सबसे अधिक मन्त्र इसी अग्नि के विषय में हैं। अन्तरिक्ष में रहनें वाले देवताओंमें इन्द्र का स्थान तथा आकाश में रहने वाले देवताओं में सूर्य, सविता या विष्णु आदि सौर देवताओं का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वरुण का स्थान इन देवताओं में बहुत बड़ा है। इस जगत् में जो नियम दिखलाई पड़ता है वह वरुण के कारण है। वे सर्वज्ञ हैं, प्राणियों के शुभ और अशुभ कर्मों के देखने वाले हैं तथा अनुरूप फलों के दाता हैं। इन्द्र संग्राम में आर्य लोगों को विजय प्रदान करने वाले देवता हैं। इन्द्र के हाथ में वज्र रहता है जिसकी सहायता से वे वृत्र आदि दानवों को मार भगाते हैं और शत्रुओं के नगरों को छिन्न भिन्न कर देते हैं। इन्द्र वृष्टि के देवता हैं। विष्णु उस सूर्य के प्रतिनिधि

हैं जो सदा क्रियाशील रहता है। उन्होंने तीन पगों में इस विश्व को नाप डाला है। इसलिये वे 'त्रिविक्रम' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वैदिक देवियों में 'उषा' की कल्पना कवित्वपूर्ण है। ऋषियों ने सोने के रथ पर चढ़कर निकलने वाली चमकीली उषा के वर्णन में ऊँची प्रतिभा का परिचय दिया है। वेद के ये ही प्रधान देवता हैं।

प्राकृतिक दृश्यों को देखकर आर्य लोगों के हृदय में जो कल्पना जगी, वही देवता के रूप में वर्णित की गई है। इस प्रकार देवता प्राकृतिक दृश्यों के ही प्रतिनिधि हैं, परन्तु इतना ही नहीं है। वैदिक ऋषियों ने इस भिन्न आकार धारण करने वाले जगत् में सर्वत्र व्याप्त एक सत्ता का पता बहुत पहले लगाया था। उसी का नाम आत्मा या ईश्वर है। सब देवता लोग उसी सर्वव्यापी परमात्मा के भिन्न भिन्न प्रतीक हैं[1]।

वेदों की रचना कब हुई? यह बड़ी त्रिकट समस्या है। हम लोग तो वेदों को अपौरुषेय (किसी पुरुष के द्वारा न बनाया हुआ) मानते हैं। अतः नित्य होने से समय निर्धारण की आवश्यकता ही नहीं रहती।

वेद का काल

परन्तु पश्चिमी लोग इस बात को नहीं मानते। ऋषियों को वे मन्त्रों का द्रष्टा न मानकर कर्त्ता मानते हैं। तब ऋग्वेद जो वेदों में सबसे पुराना है कब बनाया गया? प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समुलर ने वैदिक साहित्य को चार काल विभागों में बाँटा है—छन्द:काल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल तथा सूत्रकाल तथा प्रत्येक के विकास के लिए दो दो सौ वर्ष माना है। बुद्धधर्म में सूत्रकाल में लिखे गये ग्रन्थों का तथा उनमें वर्णित यज्ञों का निर्देश मिलता है। अतः इनकी रचना बुद्ध से पहले अवश्य हुई होगी। बुद्ध की मृत्यु ईस्वी पूर्व ४८३ में हुई थी। अतः सूत्र-ग्रन्थ को इससे दो सौ वर्ष पहले

---

[1] निरुक्त (७।४।८)—माहाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

मानें तो उनका काल ६०० ई० पूर्व पहुँचता है। इसी प्रकार हर एक काल के लिये २०० वर्ष मानकर मैक्समूलर ने ऋग्वेद का समय १२०० ई० पू० माना है। यह मत बहुत प्रसिद्ध है परन्तु ऋग्वेद में जो नक्षत्र-विषयक सूचनायें दी गई हैं उनके आधार पर लोकमान्य तिलक ने ऋग्वेद का रचनाकाल ईसा से ६ हजार वर्ष पूर्व माना है। ये युक्तियाँ गणित और ज्योतिष के आधार पर हैं आश्रित होने से अकाट्य हैं। ६ हजार से लेकर ४ हजार ईस्वी वर्ष पूर्व ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना हुई। अन्य वेदों की रचना ४ हजार वर्ष से लेकर ३ हजार वर्ष तक हुई। शतपथ ब्राह्मण जो सब ब्राह्मणों में प्राचीन माना जाता है, ढाई हजार वर्ष ईस्वी पूर्व में लिखा गया माना जाता है। वेद में भूगर्भ शास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों की भी खोज की गई है। उसके आधार पर एक विद्वान् (डा० अविनाशचन्द्र दास) का तो यह कहना है कि वेदों की रचना लाखों वर्ष पूर्व हुई। ऐसी परिस्थिति में रचनाकाल का ठीक निश्चय करना नितान्त कठिन है। इस विषय की विशेष मीमांसा अभी आगे की जायगी।

२

ब्राह्मण

संहिताओं के अनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों का समय आता है। इनका सम्बन्ध यज्ञ से है। यज्ञानुष्ठान का विस्तृत वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। साथ ही साथ अनेक आख्यान शब्दों की व्युत्पत्ति तथा प्राचीन राजाओं या ऋषियों की कथाएँ यहाँ मिलती हैं। इस प्रकार अनेक वेदाङ्गों के बीज इन ग्रन्थों में संनिहित हैं। प्रत्येक वेद की शाखा के अनुसार ब्राह्मण तथा आरण्यक भिन्न भिन्न हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं—(१) ऐतरेय और (२) कौषीतकि

जिनमें ऐतरेय नितान्त प्रसिद्ध है। इसमें ४० अध्याय हैं। पाँच अध्यायों का एक समूह 'पञ्चिका' कहलाता है। इस प्रकार इसमें ८ पञ्चिकायें हैं। कौपीतकि ब्राह्मण में केवल ३० अध्याय हैं। ऋग्वेद के दो आरण्यक भी हैं—ऐतरेय आरण्यक तथा सांख्यायन आरण्यक। सामवेद के साथ सम्बद्ध बहुत से ब्राह्मण हैं जिनमें 'ताण्ड्य' ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ है। यह २५ अध्यायों में विभक्त विपुलकाय ग्रन्थ है और इसी लिये इसको 'पञ्चविंश' ब्राह्मण भी कहते हैं। कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक हैं। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण 'शतपथ ब्राह्मण' के नाम से विख्यात है, क्योंकि इसमें सौ अध्याय हैं। ऋग्वेद के अनन्तर यही ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसमें यज्ञों का विस्तृत वर्णन तो है ही, साथ ही साथ अनेक प्राचीन आख्यान, व्युत्पत्ति तथा अनेक सामाजिक बातों का संग्रह है। अथर्ववेद का ब्राह्मण 'गोपथ ब्राह्मण' के नाम से विख्यात है। इसमें केवल दो खण्ड हैं जिनमें पहले में केवल पाँच अध्याय हैं, दूसरे में केवल छः। ब्राह्मण साहित्य में गोपथ ब्राह्मण कुछ अर्वाचीन माना जाता है।

३

उपनिषद्

उपनिषद्

उपनिषद् शब्द उप तथा नि उपसर्गक सद् धातु से बना हुआ है। 'सद्' धातु के तीन अर्थ होते हैं—(१) विशरण = नाश होना (२) गति = प्राप्त होना (३) अवसादन = शिथिल करना। उपनिषद् का मुख्य अर्थ अध्यात्म विद्या है जिसके अध्ययन करने से मुमुक्षु लोगों की अविद्या नष्ट हो जाती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है तथा जिसके अभ्यास से गर्भवास आदि नाना प्रकार के दुःख शिथिल हो जाते हैं। इस प्रकार उपनिषद् के इस

अर्थ में सद्‌धातु के तीनों अर्थ सुसङ्गत होते हैं। उपनिषद् का गौण अर्थ ब्रह्म-विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ है। वैदिक साहित्य में उपनिषदों का स्थान सबसे अन्त में आता है। इसी लिये उन्हें 'वेदान्त' भी कहते हैं। 'मुक्तिकोपनिषद्' में १०८ उपनिषदों के नाम दिये गये हैं जिनमें १० उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध हैं, १९ शुक्ल-यजुर्वेद से, ३२ कृष्ण यजुर्वेद से, १६ सामवेद से तथा ३१ अथर्ववेद से। परन्तु उपनिषदों की संख्या इससे भी कहीं अधिक है। इनमें ११ उपनिषद् बहुत ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इन उपनिषदों के नाम हैं—(१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरेय (९) छान्दोग्य (१०) बृहदारण्यक तथा (११) श्वेताश्वतर। वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्यों ने इन सब उपनिषदों पर अपने मत को पुष्ट करने के लिये समय समय पर भाष्यों की रचना की है। इन उपनिषदों की रचना-शैली में भी भेद है। कुछ उपनिषद् गद्यात्मक हैं, कुछ पद्यात्मक तथा कतिपय गद्य-पद्यात्मक उभयरूप। इनके रचनाकाल के विषय में भी आलोचकों में बड़ा मतभेद है। इतना तो निश्चित ही है कि प्रधान उपनिषदों की रचना बुद्ध के आविर्भाव से बहुत पहले हो चुकी थी। छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक सब उपनिषदों से अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीन स्वीकृत किये जाते हैं। विषय-वर्णन की दृष्टि से उपनिषदों का श्रेणी-विभाग किया जा सकता है। कुछ उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय वेदान्त है जिसमें ब्रह्म तथा आत्मा के स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध का विवेचन है। कुछ योग विषयक हैं, परन्तु उपनिषदों की महती संख्या विष्णु, शिव तथा शक्ति की उपासना का प्रतिपादन करती है।

उपनिषद् भारतीय अध्यात्मशास्त्र के देदीप्यमान रत्न हैं जिनकी प्रभा पर काल का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है। ज्यों ज्यों उनका सूक्ष्म अध्ययन किया जाता है, त्यों त्यों उनका जौहर प्रकट होता जाता है।

महत्त्व भारतीय महर्षियों ने अपने प्रातिभ चक्षु से जिन आध्यात्मिक तत्त्वों का साक्षात्कार किया था उन्हीं का भाण्डार उपनिषदों में भरा हुआ है। भारतीय सभ्यता को आध्यात्मिकता की ओर झुकाने का सारा श्रेय इन्हीं ग्रन्थ-रत्नों को है। आज से बहुत पहले जिन विदेशी विद्वानों को भारतीय साहित्य के अध्ययन का अवसर मिला है उन्होंने उपनिषदों की शतमुख से प्रशंसा की है। १७ वीं शताब्दी में दाराशिकोह ने चुने हुए पचास उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद किया था। इसी अनुवाद का लैटिन भाषा में अनुवाद फ्रेञ्च विद्वान् 'आँके त्वील दूपेरों' ने किया था। वह अनुवाद टूटा फूटा तथा अधूरा है। परन्तु इसी को पढ़कर प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहोवर ने कहा था कि उपनिषद् मानव मस्तिष्क की सबसे ऊँची एवं पूर्ण रचना है और मेरे जीवन में इन्हीं ग्रन्थों से वास्तव शान्ति मिली है। इसीलिये वह विद्वान् अपनी गुरुत्रयी में प्लेटो और कैण्ट के साथ उपनिषदों को भी स्थान देता है। आजकल तो पाश्चात्य जगत् पर उपनिषदों का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा है। शायद ही कोई सभ्य भाषा होगी जिसमें उपनिषदों का अनुवाद न मिलता है।

उपनिषद् किसी एक शताब्दी की रचना न होकर अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास के फल हैं। अतः उनमें भिन्न भिन्न और परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का मिलना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। परन्तु यह विरोध केवल ऊपरी है। भीतर प्रवेश करने पर एक तात्त्विक व्यवस्था मिलती है जिसके अनुसार इस जगत् की पहेली को भलीभाँति सुलझाने का मार्ग निर्दिष्ट किया गया है। उपनिषद् के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस नानात्मक तथा सदा परिवर्तनशील जगत् के मूल में विद्यमान रहनेवाले शाश्वत पदार्थ को ढूँढ निकाला है। इस तत्त्व का नाम ब्रह्म है। जीवात्मा एवं ब्रह्म के स्वरूप में किसी प्रकार का भेद नहीं है। दोनों एक ही तत्त्व हैं। इस अभेद के ऊपर उपनिषदों

ने खूब जोर दिया है। आत्मा नित्य वस्तु है; न कभी वह मरता है, न कभी अवस्था आदि के कारण किसी दोष या विकार को प्राप्त करता है। वह इन्द्रियों से भिन्न है तथा मन बुद्धि तथा प्राणों से भी पृथक् है। उपनिषद् की मञ्जुल कल्पना के अनुसार यह शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है. इन्द्रियाँ विषयरूपी मार्ग पर ले चलने वाले घोड़े हैं और आत्मा इस रथ का स्वामी है[1]। यह आत्मा और ब्रह्म मूलतः एक ही तत्त्व हैं। ब्रह्म के दो स्वरूप हैं सगुण और निर्गुण। सगुण रूप में वह इस जगत् को उत्पन्न करता है, स्थितिकाल में इसका प्राण-धारण करता है और प्रलय में अपने में लीन कर लेता है। निर्गुण रूप ही उसका श्रेष्ठ रूप है। ब्रह्म का प्रतिपादन शब्दों के द्वारा नहीं हो सकता। इसीलिये उपनिषदों ने उसके लिये 'नेति नेति' शब्द का प्रयोग किया है। इस ब्रह्म का साक्षात्कार उपनिषदों का चरम लक्ष्य है।

उपनिषद् वास्तव में वह आध्यात्मिक मानसरोवर हैं जिनसे भिन्न भिन्न ज्ञान-सरिताएँ निकल कर इस पुण्यभूमि आर्यावर्त में मनुष्यमात्र के सांसारिक अभ्युदय तथा पारलौकिक कल्याण के लिए प्रवाहित होती हैं। हिन्दू दर्शन में तीन प्रस्थान ग्रन्थ हैं जो वैदिक धर्म के अनुसार मार्ग तथा उसके साधन के प्रतिपादक हैं। इस प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत उपनिषद् ही प्रथम प्रस्थान के रूप में ग्रहण किया गया है। द्वितीय प्रस्थान भगवद्गीता है जो समस्त उपनिषद् रूपी धेनुओं का वत्सरूपी पार्थ के लिये भगवान् गोपाल कृष्ण के द्वारा दूहा हुआ सुधा-सहोदर

---

[1] आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इद्रियाणि हयानाहुर्विषयान् तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ कठ—२।३

सारभूत दूध है[1]। तृतीय प्रस्थान बादरायण व्यास के द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र है जिसमें विरोधी प्रतीत होनेवाले उपनिषद् के वाक्यों का समन्वय और अभिप्राय ब्रह्म में दिखलाया गया है। इस प्रकार गीता और ब्रह्म उपनिषदों पर ही आश्रित हैं। अतः उपनिषद् ही भारतीय दर्शन के मूल स्रोत हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसीलिये नवीन मत के संस्थापक आचार्यों ने अपने मत को प्रामाणिक तथा अक्षुण्ण सिद्ध करने के लिये इन तीनों ग्रन्थ-रत्नों पर, विशेषतः उप-निषदों पर, अपने मत के अनुकूल व्याख्याग्रन्थों की रचना की है।

४

वेदाङ्ग—साहित्य

ब्राह्मणकाल के अनन्तर सूत्रकाल का आरम्भ होता है। अब इस काल में हम श्रुतिं से हटकर स्मृति में आते हैं। इन ग्रन्थों की रचना भी बड़ी विलक्षण है। छोटे छोटे अल्प अक्षरों के द्वारा विपुल अर्थों के प्रदर्शन का उद्योग किया गया है। यज्ञयाग का इतना अधिक विस्तार हो गया था कि इसे याद करने के लिये ऐसे छोटे छोटे ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस काल में जो ग्रन्थ रचे गये वे वेद के अर्थ तथा विषय को समझने के लिये नितान्त उपयोगी हैं। इसीलिये इन्हें वेद का अङ्ग या 'वेदाङ्ग' कहते हैं जो संख्या में छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्यौतिष। इनमें व्याकरण वेद का मुख है, ज्यौतिष

---

[1] सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

नेत्र, निरुक्त श्रोत्र, कल्प हाथ, शिक्षा नासिका, छन्द दोनों पाद[1]। इस प्रकार वेदाङ्ग का वेद के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(१) शिक्षा—उन ग्रन्थों को कहते हैं जिनकी सहायता से वेदों के उच्चारण का भलीभाँति ज्ञान प्राप्त हो जाय। वेदपाठ में स्वरों का बड़ा महत्त्व है। स्वर में गलती होने के कारण से महान् अनर्थ हो जाता है। अतः स्वर की शिक्षा के लिये एक अलग वेदाङ्ग की रचना की गई। प्रत्येक वेद की अलग अलग शिक्षा है। याज्ञवल्क्य शिक्षा शुक्ल यजुर्वेद की है और नारदशिक्षा सामवेद की है। पाणिनि की बनाई हुई भी एक बहुत अच्छी शिक्षा है जो 'पाणिनीय शिक्षा' कहलाती है।

(२) छन्द—छन्द का बिना ज्ञान प्राप्त किये हुए वेदमन्त्रों का ठीक ठीक उच्चारण नहीं हो सकता। मन्त्र छन्दोबद्ध हैं। अतः छन्द का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। शौनक विरचित 'ऋक्प्रातिशाख्य' के अन्त में छन्दों का पर्याप्त विवेचन है। परन्तु इस वेदाङ्ग का एकमात्र स्वतन्त्र ग्रन्थ 'पिंगल' है जो किसी पिंगल नामक आचार्य के द्वारा रचा गया था। इस ग्रन्थ में वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन मिलता है।

(३) निरुक्त—इस वेदाङ्ग में शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है। वेद के अर्थ जानने के लिये शब्द व्युत्पत्ति की बड़ी आवश्यकता है। आजकल केवल एक ही निरुक्त उपलब्ध होता है और इसके रचयिता महर्षि यास्क हैं। बहुत प्राचीन काल से निघण्टु नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है जिसमें वेद के

---

[1] छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥

—पाणिनीय शिक्षा ४१–४२

कठिन शब्दों की क्रमबद्ध तालिका है। इसी ग्रन्थ पर यास्क ने वह विस्तृत भाष्य बनाया जो 'निरुक्त' के नाम से प्रसिद्ध है। यास्क का मत है कि समस्त शब्द धातुओं से उत्पन्न हुए हैं। अतः उनकी व्युत्पत्ति दिखलाने का प्रयत्न भी इस ग्रन्थ में किया गया है। यास्क पाणिनि से पहले हुए। अतः इनका समय ईस्वी से पूर्व सात सौ वर्ष के लगभग होना चाहिए।

(४) व्याकरण—इस वेदाङ्ग का एकमात्र उद्देश्य वेदों के अर्थ को समझाना तथा वेदार्थ की रक्षा करना है। आजकल पाणिनि व्याकरण ही इस वेदाङ्ग का एकमात्र प्रतिनिधि है। परन्तु व्याकरण पाणिनि से भी पुराना है। पाणिनि ने आठ अध्यायों में सूत्ररूप में व्याकरण लिखा है जो 'अष्टाध्यायी' के नाम से विख्यात है। उनके पहले भी गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि अनेक आचार्य थे जिनका उल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी में किया है। इनसे भी पहले के 'प्रातिशाख्य' नामक ग्रन्थ हैं जिनमें स्वर, छन्द के साथ व्याकरण का भी विशेष वर्णन है। ऐसे ग्रन्थ प्रत्येक शाखा के अलग अलग थे। आजकल ऋग्वेद से सम्बद्ध शौनक प्रातिशाख्य तथा शुक्ल यजुः का कात्यायन प्रातिशाख्य विशेष प्रसिद्ध है। अन्य वेदों के भी प्रातिशाख्य मिलते हैं।

(५) ज्यौतिष—वेद के अंगों में इसका विशेष महत्त्व है। वेद यज्ञ के प्रतिपादन के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं और काल के उचित निवेश से यज्ञ का सम्बन्ध है। इसीलिए ज्यौतिष को काल का विधायक शास्त्र कहते हैं। जो व्यक्ति ज्यौतिष को जानता है वह यज्ञ को जानता है[1]। इसका प्रतिनिधि 'वेदाङ्ग ज्यौतिष' है। इसके रचयिता का नाम 'लगध'

---

[1] वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्यौतिषं वेद स वेद यज्ञान् ॥
—आर्च ज्यौतिष श्लो० ३६।

है। इसके दो संस्करण उपलब्ध हैं—एक यजुर्वेद से सम्बद्ध और दूसरा ऋग्वेद से सम्बद्ध। याजुष ज्योतिष में ४३ श्लोक हैं तथा आर्च में केवल ३६। सामान्यतः श्लोक एक ही प्रकार के हैं। इसके कतिपय श्लोकों का अर्थ अभी तक ठीक ठीक नहीं लगता। 'सोमाकर' की प्राचीन टीका तथा सुधाकर द्विवेदी का नया 'सुधाकर' भाष्य प्रसिद्ध है।

(६) कल्पसूत्र—ब्राह्मण-काल में यज्ञ-याग का इतना अधिक विस्तार हुआ कि उनके यथोचित ज्ञान के लिए कतिपय संक्षिप्त एवं पूर्ण परिचय देनेवाली रचनाओं की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी की पूर्ति कल्पसूत्रों द्वारा की गई। कल्पसूत्र दो प्रकार के हैं—श्रौतसूत्र तथा स्मार्तसूत्र। स्मार्तसूत्रों के दो भेद हैं—गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र। श्रौत शब्द का अर्थ है श्रुति (वेद) से सम्बद्ध यज्ञ-याग। अतः श्रौतसूत्रों में तीन प्रकार के अग्नियों (आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि) के आधान, अग्निहोत्र, दर्श तथा पूर्णमास नामक इष्टियाँ, पशुयाग, विशेषतः भिन्न प्रकार के सोमयागों का वर्णन किया गया है। श्रौतसूत्रों में इस प्रकार भारतीय याग-पद्धति का मूलस्वरूप जानने के लिए सबसे प्राचीन तथा पर्याप्त सामग्री है। गृह्यसूत्रों में उन अनुष्ठान, आचार तथा यागों का वर्णन है जिसका करना प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ के लिए आवश्यक है। विशेषतः षोडश संस्कारों का वर्णन गृह्यसूत्रों में बड़े विस्तार से है जिनमें उपनयन तथा विवाह का वर्णन बड़े ही साङ्गोपाङ्ग रूप से किया गया है। इन ग्रन्थों के अध्ययन करने से प्राचीन भारतीय समाज के घरेलू आचार-विचार का, भिन्न भिन्न प्रान्तों के रीति-रिवाज का परिचय पूर्णरूप से हो जाता है। पश्चिमी जातियों में से ग्रीक और रोमन लोग काफी पुराने हैं। उनका साहित्य भी कम विशाल या व्यापक नहीं है, परन्तु उनके यहाँ भी ऐसी रचना बहुत ही कम हैं जिनसे उनके रहन-सहन का प्रामाणिक

परिचय प्राप्त हो सके। इस प्रकार गृह्यसूत्रों का उपयोग हमारे ही लिए नहीं है प्रत्युत समाजशास्त्र तथा जातिशास्त्र (एथ्नोलॉजी) के प्रत्येक विद्वान् के लिए है। गृह्यसूत्रों के साथ धर्मसूत्र भी सम्बद्ध हैं। इन सूत्रों में धार्मिक नियमों, प्रजा के तथा राजा के कर्त्तव्य और अधिकार का पूरा पूरा वर्णन मिलता है। साथ ही साथ चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) तथा चारों आश्रम (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास) के धर्म या कर्त्तव्यों का पूर्ण वर्णन किया गया है। इन्हीं धर्मसूत्रों से आगे चलकर स्मृतियों की उत्पत्ति हुई जिनकी व्यवस्था आज भी हमारे लिए मान्य है। शुल्वसूत्र भी कल्पसूत्र के ही अङ्ग हैं। उनका साक्षात् सम्बन्ध श्रौतसूत्रों से है। शुल्व का अर्थ है मापसूत्र अर्थात् नापने का डोरा। नाम के अनुरूप शुल्वसूत्रों में वेदियों का नापना, उनके लिए स्थान चुनना तथा उनकी रचना आदि विषयों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। ये सूत्र भारतीय ज्यामिति के प्राचीन ग्रन्थ हैं। इतना ही नहीं, जिस सिद्धान्त के आविष्कार करने का श्रेय पाश्चात्य विद्वान् ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक पाइथेगोरस को देते हैं उसकी स्थापना उनसे सैकड़ों वर्ष पहले इन शुल्वसूत्रों में प्रमाण-पुरःसर की गई है।

ऋग्वेद के कल्पसूत्र हैं—आश्वलायन और सांख्यायन। दोनों कल्पसूत्रों में श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र दोनों सम्मिलित हैं। शुक्लयजुर्वेद के कल्पसूत्र हैं—कात्यायन श्रौतसूत्र, पारस्करगृह्यसूत्र और कात्यायन शुल्वसूत्र। कृष्ण यजुर्वेद की बौधायन और आपस्तम्ब शाखा में जो कल्पसूत्र उपलब्ध होते हैं उन्हें हम समग्र तथा महत्त्वपूर्ण कह सकते हैं क्योंकि उनमें श्रौत, गृह्य धर्म और शुल्वसूत्र—चारो पूर्णरूप से पाये जाते हैं। इनमें परस्पर इतना अधिक सम्बन्ध है कि यदि हम इन्हें एक ही ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न खण्ड कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

सामवेद से सम्बद्ध कल्पसूत्र हैं—लाट्यायन और द्राह्यायन के श्रौत-

सूत्र तथा जैमिनि शाखा से सम्बद्ध जैमिनीय श्रौतसूत्र और जैमिनि गृह्यसूत्र, गोभिल और खादिर के गृह्यसूत्र। सामवेद के ही अन्तर्गत 'आर्षेय कल्प' की भी गणना की जाती है। इसका दूसरा नाम मशककल्पसूत्र है जिसमें साम के गायनों के भिन्न भिन्न रागों तथा लयों का वर्णन है। यह सूत्र पञ्चविंश ब्राह्मण के साथ सम्बद्ध है और लाट्यायन श्रौतसूत्र से भी प्राचीन प्रतीत होता है। अथर्ववेद के कल्पसूत्र के अन्तर्गत दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) वैतान श्रौतसूत्र (जो विशेष प्राचीन नहीं माना जाता) तथा (२) कौशिक सूत्र (जो गृह्यसूत्र होते हुए भी अथर्ववेद में वर्णित अभिचारों से सम्बद्ध नाना प्रकार के अनुष्ठानों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है) प्राचीन भारत के अभिचारों को जानने के लिए इससे अधिक उपयोगी कोई अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

अनुक्रमणी—वेदाङ्गसाहित्य के ही अन्तर्गत उन अनुक्रमणियों का उल्लेख आवश्यक है जिनकी रचना वेदों की रक्षा तथा वेदार्थ की मीमांसा के लिए की गई। आर्षानुक्रमणी में ऋग्वेद के मन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों के नाम मन्त्रक्रम से दिए गये हैं। छन्दोऽनुक्रमणी में ऋग्वेद में प्रयुक्त छन्दों का क्रमशः वर्णन है। देवतानुक्रमणी में ऋग्वेद के देवताओं का मन्त्रक्रम से खूब विस्तृत विवेचन है। शौनक का 'बृहद्देवता' भी इस विषय का एक प्रामाणिक तथा उपादेय ग्रन्थ है जिसमें ऋग्वेद के देवताओं का क्रमशः वर्णन तो है ही, साथ ही साथ उनसे सम्बद्ध अनेक प्राचीन आख्यानों तथा कथानकों का भी अत्यन्त उपादेय और रोचक विवरण यहाँ मिलता है कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी भी, इस विषय की प्रसिद्ध पुस्तक है जिसपर षड्गुरुशिष्य का भाष्य (द्वादश शतक) अत्यन्त उपयोगी तथा प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में अनेक अनुक्रमणियों में आये हुए विषयों का थोड़े में संक्षिप्त विवेचन है। इस प्रकार वेद तथा वेदार्थ की रक्षा के लिए अनुक्रमणी साहित्य की रचना पिछली शताब्दियों में की गई।

इस प्रसङ्ग में हम उस विद्वान् को नहीं भुला सकते जिनके भाष्यों की सहायता से ही हम वेद के विषम दुर्ग में प्रवेश पा सके हैं। वेद की भाषा, उसकी शब्दावली, उसकी नवीन रूपकमयी कल्पना आदि इतनी विचित्र हैं कि बिना सायण की व्याख्या का अध्ययन किये इन्हें जान लेना नितान्त दुष्कर है। ये सायणाचार्य[1] विजयनगर राज्य के संस्थापक महाराज बुक्क प्रथम (१३५०–७९ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी महाराज हरिहर (१३७९–९९ ई०) के राज्य-काल में दक्षिण भारत में उत्पन्न हुए थे। इन्हीं राजाओं की छत्रछाया में इन्होंने अपने भाष्यों की रचना की है। सायण के भाष्य ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता काण्व संहिता, सामसंहिता, अथर्वसंहिता—अर्थात् माध्यन्दिन संहिता को छोड़कर समग्र संहिताओं पर हैं। ब्राह्मण साहित्य में ऐतरेय ब्राह्मण तथा ऐतरेय आरण्यक, तैत्तिरीय ब्राह्मण और आरण्यक, पञ्चविंश ब्राह्मण जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर भी इनके भाष्य विद्यमान हैं।

५

वेदों का रचनाकाल

वेदों के निर्माणकाल का यथातथ्य निर्णय करना नितान्त दुष्कर कार्य है। विद्वानों की गहरी छानबीन करने पर भी यह प्रश्न आज भी इदमित्थं रूप से निर्णीत नहीं हो पाया है और न भविष्य में ही निर्णय की कोई सम्भावना है। भारतीय दृष्टि से वेद अपौरुषेय हैं, नित्य हैं, कालातीत हैं और इसीलिए उनकी रचना के काल निरूपण का अवसर

---

[1] सायणाचार्य के विशेष विवरण के लिए देखिए— बलदेव उपाध्याय रचित ‘आचार्य सायण और माधव’ पृ० ८३–११४।

ही नहीं आता, परन्तु पश्चिमी विद्वानों में इस प्रश्न की विवेचना में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है।

डा० मैक्समूलर का मत—

सबसे पहिले १८५६ ई० में प्रोफेसर मैक्समूलर ने इस प्रश्न के निर्णय का प्रथम प्रयास किया। उनकी दृष्टि में ऋग्वेद की रचना १२०० विक्रमपूर्व में सम्पन्न हुई थी। बुद्धधर्म के उदय से पहिले ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था, क्योंकि ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में विस्तृत रूप से वर्णित याग-विधान बुद्ध की तीक्ष्ण आलोचनाओं का प्रधान विषय था और उपनिषदों में विवेचित अनेक अध्यात्मतत्त्व उनके लिए सर्वथा ग्राह्य थे। वैदिक साहित्य की बुद्धधर्म के उदय से पूर्वभाविता को दृढ़ आधार शिला मानकर मैक्समूलर ने अपना सिद्धान्त निर्णीत तथा पुष्ट किया है। उन्होंने वैदिक युग को चार काल-विभागों में विभक्त किया है—छन्दःकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल तथा सूत्रकाल और प्रत्येक युग की विचारधारा के उदय तथा ग्रन्थ-निर्माण के लिए उन्होंने २०० वर्षों का काल माना है। अतः बुद्ध के प्रथम होने से सूत्रकाल का प्रारम्भ ६०० विक्रम-पूर्व माना गया है। इस काल में श्रौत (कात्यायन, आपस्तम्ब आदि) तथा गृह्यसूत्रों की निर्मिति प्रधानरूपेण अङ्गीकृत की जाती है। इसके पूर्व ब्राह्मणकाल था जिसमें भिन्न २ ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना, यागानुष्ठान का विपुलीकरण, उपनिषदों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विवेचन आदि सम्पन्न हुआ। इसके विकास के लिये ८०० वि. पू.—६०० वि. पू. तक दो सौ सालों का काल उन्होंने माना है। इससे पूर्ववर्ती मन्त्रयुग के लिए, जिसमें मन्त्रों का यागविधान की दृष्टि से चार विभिन्न संहिताओं में संकलन किया गया, १००० वि. पू. से लेकर ८०० वि. पू. का समय स्वीकृत किया गया है। इससे भी पूर्ववर्ती कल्पना तथा रचना की दृष्टि से नितान्त श्लाघनीय युग—छन्दःकाल—था जिसमें ऋषियों

ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर अर्थगौरव से भरे हुए मन्त्रों की रचना की थी। मैक्समूलर के हिसाब से यही मौलिकता का युग था, कमनीय कल्पनाओं का यही काल था जिसके लिए १२००-१००० वि० पू० का काल उन्होंने माना है। ऋग्वेद का यही काल है। अतः बुद्ध के जन्म से पीछे हटते हटते हम ऋग्वेदके काल तक सुगमता से पहुँच जाते हैं। इस मत के अनुसार ऋग्वेद की रचना आज से लगभग ३२०० वर्ष पूर्व की गई थी।

किसी प्रतिष्ठित विद्वान् की चलाई कल्पना, चाहे वह अत्यन्त निराधार ही क्यों न हो, जब एक बार चल निकलती है, तब विन्ध्यकी बरसाती नदियों की धारा की तरह रोके नहीं रुकती। वह अपने सामने सब प्रकार की विघ्न-बाधाओं को, प्रबल विरोधों को, दूर हटाती सरकती हुई चली ही जाती है। ठीक यही घटना इस कल्पना के साथ भी घटी। मैक्समूलर ने जिसे एक सामान्य सम्भावना के रूपमें अग्रसर किया था, उसे ही उनका सिक्का माननेवाले लोगों ने उसे एक मान्य वैज्ञानिक तथ्य के रूप में ग्रहण कर लिया परन्तु उन्होंने स्वयं तीस बरस पीछे १८८९ ई० भौतिक धर्म शीर्षक अपने जिफोर्ड व्याख्यानमाला के अवसर पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि इस भूतल पर कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है जो कभी निश्चय कर सके कि वैदिक मन्त्रों की रचना १००० या १५०० या २००० या ३००० वि० पू० में की गई हो। इसकी पुष्टि में इतना ही उन्होंने माना कि ऋग्वेद की यही पिछली सीमा है जिसके पीछे ऋग्वेद का काल कथमपि नहीं लाया जा सकता। परन्तु इसकी ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया कि भाषा तथा विचारों के विकाश के लिए दो सौ वर्षों का काल नितान्त काल्पनिक, अपर्याप्त तथा अनुचित है।

वेद में ज्योतिष-तत्त्व—

वेदों की संहिता तथा ब्राह्मणों में निर्दिष्ट ज्योतिष सम्बन्धी

सूचनाओं का अनुशीलन कर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक तथा जर्मनी के विख्यात विद्वान् डा० याकोबी ने वेदों का काल विक्रमपूर्व चार सहस्र वर्ष निश्चित किया है। उनके प्रमाणों को समझने के लिए ज्योतिष-सम्बन्धी सामान्य तथ्यों से परिचय नितान्त आवश्यक है।

पाठक जानते हैं कि एक वर्ष के अन्दर ६ ऋतुयें होती हैं—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त तथा शिशिर। इन ऋतुओं का आविर्भाव सूर्य के सक्रमण पर निर्भर रहता है। यह बात सुविख्यात है कि प्राचीन काल से लेकर आजतक ऋतुयें पीछे हटती चली जा रही हैं अर्थात् प्राचीन काल में जिस नक्षत्र के साथ जिस ऋतु का उदय होता था, आज वही ऋतु उस नक्षत्र से पूर्ववर्ती नक्षत्र के समय आकर उपस्थित होती है। प्राचीन काल में वसन्त से वर्ष का प्रारम्भ माना जाता था। इसीलिए वसन्त भगवान् की विभूति माना जाता है—'ऋतूनां कुसुमाकरः'—गीता। आजकल 'वसन्त सम्पात' (वर्नल इक्विनाक्स) मीन की संक्रान्ति से आरम्भ होता है और यह संक्रान्ति पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र के चतुर्थ चरण से आरम्भ होती है, परन्तु यह स्थिति धीरे धीरे नक्षत्रों के एकके बाद एकके पीछे हटने से हुई है। किसी समय वसन्त सम्पात उत्तरा भाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा आदि नक्षत्रों में था जहाँ से वह क्रमशः पीछे हटता हुआ आज वर्तमान स्थिति पर पहुँच पाया है। नक्षत्रों के पीछे हटने से ऋतु-परिवर्तन तब लक्ष्य में भली भाँति आने लगता है जब वह एक मास पीछे हट जाता है। सूर्य के संक्रमण वृत्तको २७ नक्षत्रों में भारतीय ज्योतिषियों ने विभक्त कर रखा है। पूरा संक्रमण वृत्त ३६० अंशों का है। अतः प्रत्येक नक्षत्र (३६० ÷ २७) = १३ १/३ अंशों का एक चाप बनाता है। संक्रमण बिन्दु को एक अंश पीछे हटने में ७२ वर्ष लगते हैं। अतः पूरे एक नक्षत्र पीछे हटने के वास्ते उसे (७२ ×

१३½) ९७२ वर्षों का महान् काल लगता है। आजकल वसन्त सम्पात पूर्वाभाद्रपद के चतुर्थ चरण से पड़ता है अर्थात् जब वह कृत्तिका नक्षत्र में पड़ता था, तब से लेकर आजतक वह लगभग साढ़े चार नक्षत्र पीछे हट आया है। अतः ज्योतिष गणना के आधार पर कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त-सम्पात का काल आज से (९७२ × ४½ = ४३७४) लगभग साढ़े चार हजार वर्ष पहले था अर्थात् २५०० वि० पू० के समय ज्योतिष की यह घटना सम्भवतः मोटे तौर पर घटी होगी।

वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणों में अनेक स्थलों पर ऋतुसूचक तथा नक्षत्र-निर्देशक वर्णनों का प्राचुर्य पाया जाता है। महाराष्ट्र के विख्यात ज्योतिर्विद् पण्डित शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ ब्राह्मण से एक महत्त्वपूर्ण अंश खोज निकाला है जिससे उस ग्रन्थ के रचना-काल के विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस वाक्य में कृत्तिकाओं के ठीक पूर्वीय बिन्दु पर उदय होने का वर्णन है जहाँ से वे तनिक भी च्युत नहीं होतीं :—

एकं द्वे त्रीणि चत्वारि वा अन्यानि नक्षत्राणि, अथैता एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिकास्तद् भूमानमेव एतदुपैति तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत। एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते, सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते (शतपथ २।१।२)।

आजकल वे पूर्वीयबिन्दु से कुछ उत्तर ओर हटकर उदय लेती हैं। अतः दीक्षितजी की गणना के अनुसार ऐसी ग्रहस्थिति ३००० वि० पू० में हुई होगी जो शतपथ का निर्माणकाल माना जा सकता है। तैत्तिरीय संहिता जिसमें कृत्तिका तथा अन्य नक्षत्रों का वर्णन है निश्चयपूर्वक शतपथ से प्राचीन हैं। ऋग्वेद तैत्तिरीय से भी पुराना है। अब यदि प्रत्येक के लिए २५० वर्ष का अन्तर मान लें तो ऋग्वेद का समय ३५०० वि० पू० से इधर का कभी नहीं हो सकता। अतः दीक्षितजी के

मत में ऋग्वेद आज से लगभग ५५०० साढ़े पाँच हजार वर्ष नियमतः पुराना सिद्ध हो जाता है[1]।

लोकमान्य तिलक का मत—

लोकमान्य की विवेचना के अनुसार यह समय और भी पूर्ववर्ती होना चाहिए। ऋग्वेद का गाढ़ अनुशीलन कर उन्होंने मृगशिरा नक्षत्र में वसन्त सम्पात होने के अनेक निर्देशों को एकत्र किया है। तैत्तिरीय संहिता का कहना है कि 'फाल्गुनी पूर्णिमा वर्ज का मुख है'। तिलकजी ने इस कथन का स्वारस्य दिखलाया है। यदि पूर्ण चन्द्रमा फाल्गुनी नक्षत्र में था, तो सूर्य अवश्यमेव मृगशिरा में रहेगा जब वसन्त सम्पात भी होगा। ऋग्वेद के भीतर ही अनेक आख्यायिकायें इस ग्रहस्थिति की सूचना देने वाली हैं। मृगशिरा की आकाश-स्थिति का निर्देश अनेक मन्त्रों तथा आख्यानों में पूर्णतया अभिव्यक्त किया गया है जिसकी एक झलक कालिदास ने अभिज्ञानशकुन्तल के आरम्भ में ही 'मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्' में उपमा के द्वारा दे दी है। मृगशिरा में वसन्त संपात का समय कृत्तिका वाले समय से लगभग २००० वर्ष पूर्व अवश्य होगा, क्योंकि मृगशिरा से कृत्तिका तक पीछे हटने में उसे दो नक्षत्रों को पार करना होगा (९७२ × २ = १९४४)। अतः जिन मन्त्रों में मृगशिरा के वसन्त सम्पात का उल्लेख किया गया है, उनका समय मोटे तौर से (२५०० + १९४४) ४५०० वि० पू० होना न्याय्य है। तिलकजी के अनुसार 'वसन्त सम्पात' के मृगशीर्ष से भी आगे पुनर्वसु नक्षत्र में होने का भी यथेष्ट संकेत ऋग्वेद में मिलते हैं[2]।

---

[1] शंकर बालकृष्ण दीक्षित—ज्योतिष शास्त्रा चा इतिहास (मराठी)

[2] द्रष्टव्य तिलकजी का 'ओरायन' नामक ग्रन्थ।

अदिति के देवमाता कहलाने का भी यही रहस्य है। पुनर्वसु नक्षत्र की देवता अदिति है[1]। अतः अदिति को देवजननी कहने का स्वारस्य यही है कि पुनर्वसु नक्षत्र में वसन्त संपात होने से वर्ष तथा देवयान का आरम्भ इसी काल से माना जाता था। पुनर्वसु ही उस समय नक्षत्रमाला में आदि नक्षत्र था। पुनर्वसु में सूर्य के संक्रमण होते ही देवताओं के पवित्र काल (उत्तरायण-देवयान) का आरम्भ होता था। यह काल दो नक्षत्र आगे हटकर होने के कारण मृगशिरा-वाले समय से लगभग २००० वर्ष अवश्य पहले होगा अर्थात् तिलक जी के अनुसार यही अदिति-युग भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम युग है। यह युग ६०००—४००० वि० पू० तक माना जा सकता है। इस काल की स्मृति किसी भी अन्य आर्य संस्कृति में उपलब्ध नहीं होती। न तो ग्रीक लोगों की ही सभ्यता में, न पारसियों के धर्मग्रन्थों में इस सुदूर अतीत की झलक दीख पड़ती है। डाक्टर याकोबी इतना दूर जाना उचित नहीं मानते। उन्होंने गृह्यसूत्रों में उल्लिखित ध्रुव-दर्शन के आधार पर स्वतन्त्र रूप से वेदों का समय विक्रमपूर्व चतुर्थ सहस्राब्दी माना है[2]।

इस प्रकार लोकमान्य ने समग्र वैदिककाल को चार युगों में विभक्त किया है :—

(१) अदिति काल (६०००–४००० वि० पू०) इस सुदूर प्राचीन-काल में उपास्य देवताओं के नाम, गुण तथा मुख्य चरित के

---

[1] दस्रो यमोऽनलो ब्रह्मा चन्द्रो रुद्रोऽदितिर्गुरुः।
... ... क्रमान्नक्षत्र देवताः ॥
लघुसंग्रह श्लो० ६१–६३

[2] इनके मत के लिए द्रष्टव्य डा० विन्टरनित्स—हिस्टरी ऑफ इण्डियन लिटरेचर, प्रथम भाग, पृष्ठ २९६-२९७।

वर्णन करनेवाले निविदों (यागसम्बन्धी विधिवाक्यों) की रचना कुछ गद्य में और कुछ पद्य में की गई तथा अनुष्ठान के अवसर पर उनका प्रयोग किया जाता था।

(२) मृगशिरा काल (लगभग ४०००–२५०० वि० पू०) आर्य सभ्यता के इतिहास में नितान्त महत्त्वशाली युग यही था, जब ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों का निर्माण किया गया। रचना की दृष्टि से यह युग विशेषतः क्रियाशील था।

(३) कृत्तिका काल (लगभग २५००-१४०० वि० पू०) इस काल में तैत्तिरीय संहिता तथा शतपथ आदि अनेक प्राचीन ब्राह्मणों का निर्माण सम्पन्न हुआ। वेदाङ्ग ज्योतिष की रचना इस युग के अन्तिम भाग में की गई, क्योंकि इसमें सूर्य और चन्द्रमा के श्रविष्ठा के आदि में उत्तर ओर घूम जाने का वर्णन मिलता है[1] और यह घटना १४०० वि० पू० के आसपास गणित के आधार पर अंगीकृत्त की गई है।

(४) अन्तिमकाल (१४००–५०० वि० पू०) एक हजार वर्षों के अन्दर श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, दर्शन सूत्रों की रचना हुई और बुद्धधर्म का उदय वैदिकधर्म की प्रतिक्रिया के रूप मे इसके अंतिम भाग में हुआ।

नवीन अन्वेषणों से इस काल की पुष्टि भी हो रही है। सन् १९०७ ई० में डाक्टर ह्यूगो विंकलर ने एशिया माइनर (वर्तमान तर्की) के 'बोघाज़कोइ' नामक स्थान में खुदाई कर एक प्राचीन शिलालेख की प्राप्ति की। यह हमारे विषय के समर्थन में एक नितान्त

---

[1] प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्
सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघ श्रावणयोः सदा। ६।
—ऋग्वेद ज्यो०

इसकी मीमांसा के लिए द्रष्टव्य गीतारहस्य पृ० ५४६;
वैद्य—हिस्ट्री श्राफ वेदिक लिटरेचर भाग१ पृ० ३५-३७

महत्त्वपूर्ण प्रमाण माना जाता है। पश्चिमी एशिया के इस खण्ड में कभी दो प्राचीन जातियों का निवास था—एक का नाम था 'हित्तिति' और दूसरे का 'मितानि'। ईंटों पर खुदे इन लेखों से पता चलता है कि इन दोनों जातियों के राजाओं ने अपने पारस्परिक कलह के निवारण के लिए आपस में सन्धि की जिसमें सन्धि के संरक्षक रूप में दोनों जातियों के देवताओं की अभ्यर्थना की गई है। इन संरक्षक देवों की सूची में अनेक बाबुल देशीय तथा हित्तित्ति जाति के देवताओं के अतिरिक्त मितानि जाति के देवों में मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्यौ (अश्विनौ) का नाम उपलब्ध होता है। मितानि नरेश का नाम 'मत्तिउज़ा' था और हित्तिति राजा की विलक्षण संज्ञा थी 'सुब्बिलुलिउमा'। दोनों में कभी घनघोर युद्ध हुआ था जिसके विराम के अवसर पर मितानि नरेश ने अपने शत्रुराजा की पुत्री के साथ विवाह कर अपनी नवीन मैत्री के ऊपर मानो मुहर लगा दी। इसी समय की पूर्वोक्त सन्धि है जिसमें चार वैदिक देवताओं के नाम मिलते हैं। अब प्रश्न है कि मितानि जाति के देवताओं में वरुण इन्द्र आदि देवों का नाम क्योंकर सम्मिलित किया जाता है? उत्तर में यूरोपीय विद्वानों ने विलक्षण कल्पनाओं की लड़ी लगा दी है। इन प्रश्नों का न्याय्य उत्तर यही है कि मितानि जाति भारतीय वैदिक आर्यों की एक शाखा थी जो भारत से पश्चिमी एशिया में आकर बस गई थी या वैदिक धर्म को मानने वाली एक आर्य जाति थी। उस प्राचीन काल में पश्चिमी एशिया तथा भारत का परस्पर सम्बन्ध अवश्यमेव ऐतिहासिक प्रमाणों पर सिद्ध किया जा सकता है। वरुण, मित्र, आदि चारों देवताओं का जिस प्रकार एक साथ निर्देश किया गया है उससे इनके 'वैदिक देवता' होने में तनिक भी सन्देह नहीं है। 'इन्द्र' को तो पाश्चात्य विद्वान् भी आर्यावर्त में ही उद्भावित आर्यों का प्रधान सहायक देवता मानते हैं।

इस शिलालेख का समय १४०० विक्रमी पूर्व है। इसका अर्थ यह है कि इस समय से बहुत पहिले आर्यों ने आर्यावर्त में अपने वैदिक धर्म तथा वैदिक देवताओं की कल्पना पूर्ण कर रखी थी। आर्यों की कोई शाखा पश्चिमी एशिया में भारतवर्ष से आकर बस गई और यहीं पर उन्होंने अपने देवता तथा धर्म का प्रचुर प्रचार किया। बहुत सम्भव है कि वैदिक देवताओं को मान्य तथा पूज्य मानने वाली यह मितानी जाति भी वैदिक आर्यों की इसी शाखा के अन्तर्भुक्त थी। इस प्रकार आजकल पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों का प्राचीनतम काल विक्रमपूर्व २०००–२५०० तक मानने लगे हैं, परन्तु वेदों में उल्लिखित ज्योतिष सम्बन्धी बातों की युक्तियुक्तता तथा उनके आधार पर निर्णीत काल-गणना में अब पाश्चात्य विद्वानों को भी विश्वास होने लगा है[1]। अतः तिलकजी के पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धान्त को ही हम इस विषय में मान्य तथा प्रामाणिक मानते हैं।

---

[1] डा० अविनाशचन्द्र दास ने वेदों में निर्दिष्ट अनेक 'भूगर्भ' शास्त्र सम्बन्धी तथ्यों, विशेषतः आर्यावर्त के चारों ओर चतुः समुद्रों की स्थिति, के आधार पर वेदों का समय २५ हजार वर्ष पूर्व माना है। अत्यन्त प्राचीनकाल के पोषक इस सिद्धान्त पर विद्वानों की विशेष आस्था नहीं है। द्रष्टव्य अविनाशचन्द्र दास—ऋग्वेदिक इंडिया, प्रथम भाग, कलकत्ता, १९२१। डी० एन० मुखोपाध्याय—'हिन्दू नक्षत्रज़', कलकत्ता।

तृतीय परिच्छेद

उपजीव्य काव्य

वैदिक साहित्य के अनन्तर लौकिक संस्कृत में निबद्ध साहित्य का उदय होता है। लौकिक संस्कृत में लिखा गया साहित्य विषय, भाषा, भाव आदि की दृष्टि में अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। वैदिक भाषा में जो साहित्य निबद्ध हुआ है उस साहित्य से इनकी तुलना करने पर अनेक नवीन बातें आलोचकों के सामने आती हैं। यह साहित्य वैदिक साहित्य से आकृति, भाषा, विषय तथा अन्तस्तत्त्व की दृष्टि में नितान्त पार्थक्य रखता है।

१

वैदिक और लौकिक साहित्य का अन्तर

(क) विषय—वैदिक साहित्य मुख्यतया धर्मप्रधान साहित्य है। देवताओं को लक्ष्य कर यज्ञ-याग का विधान तथा उनकी कमनीय स्तुतियाँ इस साहित्य की विशेषताएँ हैं। परन्तु लौकिक संस्कृतसाहित्य, जिसका प्रसार प्रत्येक दिशा में दीख पड़ता है, मुख्यतया लोकवृत्त प्रधान है। पुरुषार्थ के चारो अङ्गों में अर्थ-काम की ओर इसकी प्रवृत्ति विशेष दीख पड़ती हैं। उपनिषदों के प्रभाव से इस साहित्य के भीतर नैतिक भावना का महान् साम्राज्य है। धर्म का वर्णन भी है परन्तु यह धर्म वैदिक धर्म पर अवलम्बित होने पर भी कई बातों में कुछ नूतन भी है।

ऋग्वेदकाल में जिन देवताओं की प्रमुखता थी अब वे गौणरूप में ही वर्णित पाये जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपासना पर ही अधिक महत्त्व इस युग में दिया गया। नये देवताओं की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार प्रतिपाद्य विषय का अन्तर इस साहित्य में स्पष्ट दीख पड़ता है।

(ख) आकृति—लौकिक साहित्य जिस रूप में हमारे सामने आता है वह साहित्य के रूप से अनेक अंशों में भिन्नता रखता है। वैदिक साहित्य में गद्य की गरिमा स्वीकृत की गई है। तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता से ही वैदिक गद्य आरम्भ होता है। ब्राह्मणों में गद्य ही का साम्राज्य है। प्राचीन उपनिषदों में भी उदात्त गद्य का प्रयोग मिलता है। परन्तु न जाने क्यों ? लौकिक साहित्य के उदय होते ही गद्य का ह्रास आरम्भ हो जाता है। वैदिक गद्य में जो प्रसार, जो प्रसाद तथा जो सौन्दर्य दीख पड़ता है वह लौकिक संस्कृत के गद्य में दिखलाई नहीं पड़ता। अब तो गद्य का क्षेत्र केवल व्याकरण और दर्शन शास्त्र ही रह जाता है। परन्तु वह गद्य दुरूह, प्रसादविहीन तथा दुर्बोध ही है। पद्य की प्रभुता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ज्योतिष और वैद्यक जैसे वैज्ञानिक विषयों का भी वर्णन छन्दोमयी वाणी में ही किया गया है। साहित्यिक गद्य केवल कथानक तथा गद्यकाव्यों में ही दीख पड़ता है। परन्तु सीमित होने के कारण यह गद्य वैदिक गद्य की अपेक्षा कई बातों में हीन तथा न्यून प्रतीत होता है। पद्य की रचना जिन छन्दों में की गई है, वे छन्द भी वैदिक छन्दों से भिन्न ही हैं। पुराणों में तथा रामायण महाभारत में विशुद्ध 'श्लोक' का ही विशाल साम्राज्य विराजमान है। परन्तु पिछले कवियों ने साहित्य में नाना प्रकार के छोटे बड़े छन्दों का प्रयोग विषय के अनुसार किया है। वेद में जहाँ गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती का प्रचलन है वहाँ उक्त संस्कृत में उपजाति, वंशस्थ और वसन्ततिलका विराजती है। लौकिक छन्द वैदिक छन्दों से ही

निकले हुए हैं, परन्तु इनमें लघुगुरु के विन्यास को विशेष महत्त्व दिया गया है।

(ग) भाषा—भाषा की दृष्टि से भी यह साहित्य पूर्वयुग में लिखे गये साहित्य की अपेक्षा भिन्न है। इस युग की भाषा के नियामक तथा शोधक महर्षि पाणिनि हैं जिनकी अष्टाध्यायी में लौकिक संस्कृत का भव्य विशुद्ध रूप प्रस्तुत किया गया है। इस युग के आदिम काल में पाणिनि के नियमों की पाबन्दी करना उतना आवश्यक नहीं था। इसीलिये रामायण महाभारत तथा पुराणों में बहुत से 'आर्ष' प्रयोग मिलते हैं जो पाणिनि के नियमों से ठीक नहीं उतरते। पिछली शताब्दियों में तो पाणिनि तथा उनके अनुयायियों की प्रभुता इतनी जम जाती है कि अपाणिनीय प्रयोग के आते ही भाषा अत्यधिक खटकने लगती है। 'च्युत-संस्कारता' के नित्यदोष माने जाने का यही तात्पर्य है। आशय यह है कि वैदिक काल में संस्कृत भाषा व्याकरण के नपे-तुले नियमों से जकड़ी हुई नहीं थी, परन्तु इस युग में व्याकरण के नियमों से बँधकर वह विशेष रूप से संयत कर दी गयी है।

(घ) अन्तस्तत्त्व—वैदिक साहित्य में रूपक की प्रधानता है। प्रतीक रूप से अनेक अमूर्त्त भावनाओं की मूर्त्त कल्पना प्रस्तुत की गयी है। परन्तु लौकिक साहित्य में अतिशयोक्ति की ओर अधिक अभिरुचि दीख पड़ती है। पुराणों के वर्णन में जो अतिशयोक्ति दीख पड़ती है वह पौराणिक शैली की विशेषता है। वैदिक तथा पौराणिक तत्त्वों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है, भेद शैली का ही है। वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध इन्द्रवृत्र युद्ध अकाल दानव के ऊपर वर्षा-विजय का प्रतिनिधि है। पुराण में भी उसका यही अर्थ है परन्तु शैली-भेद होने से दोनों से पार्थक्य दीख पड़ता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस युग में वैदिक युग में विकसित होकर अत्यन्त आदरणीय माना जाने लगा। ऐसी अनेक कहानियाँ मिलेंगी जिसके नायक कभी तो पशुयोनि में जन्म लेता है

और वही कभी पुण्य के अधिक सञ्चय होने के कारण देवलोक में जा विराजने लगता है। साहित्य मानव समाज का प्रतिबिम्ब हुआ करता है। इस सत्य का परिचय लौकिक संस्कृत के साहित्य के अध्ययन से भली भांति मिलता है। मानवजीवन से सम्बद्ध तथा उसे सुखद बनानेवाला शायद ही कोई विषय होगा जो इस साहित्य से अछूता बच गया है। पूर्वकाल में जहाँ पर नैसर्गिकता का बोलबाला था, वहाँ अब अलंकृति की अभिरुचि विशेष बढ़ने लगी। अलंकारों की प्रधानता का यही कारण है।

२

इतिहास की कल्पना

लोगों में एक धारणा-सी फैली हुई है कि भारतवर्ष के साहित्य में ऐतिहासिक ग्रन्थों का अस्तित्व नहीं है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि भारतीय लोग ऐतिहासिक भावना से परिचित ही न थे। परन्तु ये धारणायें नितान्त निराधार हैं। भारतीय साहित्य में पुराणों के साथ इतिहास वेद के समकक्ष माना जाता है। ऋक् संहिता में ही इतिहास से युक्त मन्त्र हैं[1]। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार से ब्रह्मविद्या सीखने के समय अपनी अधीत विद्याओं में नारद मुनि ने 'इतिहास-पुराण' को पञ्चम वेद बतलाया है[2]। यास्क ने निरुक्त में ऋचाओं के विशदीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ तथा प्राचीन आचार्यों

---

[1] त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ् मिश्रं गाथामिश्रं भवति—निरुक्त ४।६।

[2] ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणम् इतिहास-पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्—छान्दोग्य ७।१।

की कथाओं को 'इतिहास-माचक्षते' ऐसा कहकर उद्धृत किया है। वेदार्थ के निरूपण करनेवाले विभिन्न सम्प्रदायों में ऐतिहासिकों का भी एक अलग सम्प्रदाय था इसका स्पष्ट परिचय निरुक्त से चलता है— 'इति ऐतिहासिकाः'। इतना ही नहीं. वेद के यथार्थ अर्थ समझने के लिए इतिहास पुराण का अध्ययन आवश्यक बतलाया गया है। व्यास का स्पष्ट कथन है कि वेद का उपबृंहण इतिहास और पुराण के द्वारा होना चाहिये, क्योंकि इतिहास-पुराण से अनभिज्ञ लोगों से वेद सदा भयभीत रहता है[1]। राजशेखर ने उपवेदों में इतिहास-वेद को अन्यतम माना है। कौटिल्य ने ही सबसे पहले 'इतिहास-वेद' की गणना अथर्ववेद के साथ की है तथा इसके अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का अन्तर्भाव माना है[2]। इतने पुष्ट प्रमाणों के रहते हुए भारतीयों को इतिहास की कल्पना से ही शून्य मानना नितान्त अनुचित है। हमारे प्राचीन साहित्य में इतिहास-विषयक ग्रन्थ थे जो धीरे धीरे उपलब्ध हो रहे हैं। परन्तु पाश्चात्य इतिहास-कल्पना और हमारी इतिहास-कल्पना में एक अन्तर है जिसे समझ लेना आवश्यक है। पाश्चात्य इतिहास घटना-प्रधान है अर्थात् उसमें युद्ध आदि की घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करना ही मुख्य उद्देश्य रहता है। परन्तु भारतीय कल्पना के अनुसार घटना-वैचित्र्य विशेष महत्त्व नहीं रखता। हमारे जीवन सुधार से उनका जहाँ तक लगाव है वहीं तक हम उन्हें उपादेय समझते आये हैं।

---

[1] इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्,
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥—महाभारत

[2] अथर्ववेद इतिहासवेदौ च वेदाः। पश्चिमं (अहर्भागं) इतिहासश्रवणे। पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः।
—अर्थशास्त्र।

भारतीय साहित्य में इतिहास शब्द से प्रधानतया महाभारत का ही ग्रहण होता है और यह ग्रहण करना सर्वथा उचित है। महाभारत कौरवों और पाण्डवों के युगान्तरकारी युद्ध का ही सच्चा इतिहास नहीं है प्रत्युत उसे हमारी संस्कृति, समाज, राजनीति तथा धर्म के प्रतिपादक इतिहास होने का भी गौरव प्राप्त है। यहाँ इतिहास के अन्तर्गत हम वाल्मीकीय रामायण को भी रखना उचित समझते हैं। प्रचलित परिपाटी के अनुसार इसे 'आदि महाकाव्य' मानना ही न्याय-संगत होगा परन्तु धार्मिक दृष्टि से उसका गौरव महाभारत से घटकर नहीं है। रामायण के द्वारा चित्रित भारतीय सभ्यता महाभारत से भी प्राचीन है। रामायण मर्यादा पुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्र के जीवन चरित को चित्रित करनेवाला अनुपम ग्रन्थ है। रामराज्य की कल्पना जो भारतीय राजनीति में आदर्श मानी जाती है महर्षि वाल्मीकि की ही देन है। यह जानना आवश्यक है कि रामायण और महाभारत की घटनायें ऐतिहासिक हैं। ये दोनों महत्त्वपूर्ण युद्ध इसी भारतवर्ष की सीमा के भीतर लड़े गये थे। उन्हें अन्तर्जगत् के धर्म और अधर्म के द्वन्द्व-युद्ध का प्रतीकमात्र मान लेना नितान्त अनुचित है। वैदिक साहित्य में हम जिस धर्म का सिद्धान्त रूप में दर्शन करते हैं उसी का व्यावहारिक रूप हमें इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। सच्ची बात तो यह है कि रामायण और महाभारत जीवित भारतीय संस्कृति के प्रकाशस्तम्भ हैं जिनके प्रकाश से हम अपने वैदिक धर्म के अनेक अन्धकार से आवृत तथ्यों के साक्षात् करने में समर्थ होते हैं। ये दोनों इतिहास ग्रन्थ हैं। परन्तु उस अर्थ में ये इतिहास ग्रन्थ नहीं हैं जिस अर्थ में समझा जाता है। इतिहास शब्द यहाँ अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इतिहास का शब्दार्थ ही है = इति + ह + आस—जो इस तरह से था। इस प्रकार से हमारे प्राचीन धर्म तथा हमारी सभ्यता में जो कुछ था, उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन हमें इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

इतिहास के द्वारा वेद के अर्थ का उपबृंहण होता है, इसका भी यही रहस्य है। वेद का अर्थ तो स्वयं सूक्ष्म ठहरा, जिसे सूक्ष्म मतिवाले लोग ही भली भाँति समझ सकते हैं। परन्तु इन इतिहास तथा पुराण ग्रन्थों में हम उसी सूक्ष्म अर्थ का प्रतिपादन जनसाधारण के लिए बोधगम्य, सरस तथा सरल भाषा में पाते हैं। इतिहास और पुराणों में जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैं वे सिद्धान्त वेद के ही हैं; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। परन्तु हमारे समझने योग्य भाषा में लिखे जाने के कारण ये हमारे हृदय को अधिक स्पर्श करते हैं। इस तरह वैदिक सिद्धान्तों के बहुल प्रचारक होने के कारण ही धार्मिक दृष्टि से इन ग्रन्थों का महत्त्व है। व्यास ने इतिहास की महत्ता बतलाते हुए इसी बात की ओर संकेत किया है :—

इतिहासपुराणाभ्यां, वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

इतिहास के जिस व्यापक अर्थ का हमने अभी निर्देश किया है उसका समर्थन राजशेखर की काव्यमीमांसा से भी होता है। राजशेखर का कहना है कि इतिहास दो प्रकार का है (१) परिक्रिया (२) पुराकल्प। 'परिक्रिया' से अभिप्राय उस इतिहास से है जिसका नायक एक ही व्यक्ति होता है जैसे रामायण। 'पुराकल्प' अनेक नायक वाले इतिहास ग्रन्थ का सूचक है जैसे महाभारत। राजशेखर के अनुसार भी ये दोनों ग्रंथ-रत्न 'इतिहास' के ही अन्तर्गत ठहरते हैं। राजशेखर का कथन है—

परिक्रिया पुराकल्पः इतिहास–गतिर्द्विधा।
स्यादेक-नायका पूर्वा, द्वितीया बहुनायका॥

भारतीय काव्य साहित्य के आधार तथा उपजीव्य हैं वे ही इतिहास-पुराण। अतः उसके प्रकृत वर्णन प्रस्तुत करने से पहिले इन आधार-ग्रन्थों का अनुशीलन यहाँ नितान्त आवश्यक है।

३

उपजीव्य काव्य

प्रत्येक साहित्य में प्रतिभाशाली कवियों की लेखनी से प्रसूत कतिपय ऐसे मर्मस्पर्शी काव्य हुआ करते हैं जिनसे स्फूर्ति तथा प्रेरणा लेकर अवान्तरकालीन कविगण अपने काव्यों को सजाया करते हैं। ऐसे काव्यों को हम व्यापक प्रभाव संसम्पन्न होने के हेतु, 'उपजीव्य काव्य' के नाम से पुकार सकते हैं। संस्कृतसाहित्य में भी ऐसे उपजीव्य काव्य विद्यमान हैं जिनसे संस्कृत भाषा तथा अर्वाचीन प्रान्तीय भाषाओं के कवियों ने अपने विषय के निर्देश के लिए तथा काव्यशैली के विमल विधान के निमित्त सन्तत उत्साह तथा अश्रान्त स्फूर्ति ग्रहण की है तथा आज भी वे कर रहे हैं। ऐसे उपजीव्य काव्य संख्या में तीन हैं—(१) रामायण, (२) महाभारत तथा (३) श्रीमद् भागवत। इन तीनों का अवान्तर काव्य साहित्य के ऊपर बड़ा ही विशाल, मार्मिक तथा आभ्यन्तर प्रभाव पड़ा है। आदिकवि की वाणी पुण्य-सलिला भागीरथी है जिसमें अवगाहन कर पाठक तथा कवि अपने आपको पवित्र ही नहीं जानते, प्रत्युत रसमयी काव्यशैली के हृदयावर्जक स्वरूप के समझने में भी कृतकार्य होते हैं। काव्य तथा नाटकों को विषय निर्देश देने में रामायण एक अक्षुण्ण स्रोत है। महाभारत तो वस्तुतः व्यासवाणी का विमल प्रसाद है। वह सचमुच विचार-रत्नों का एक अगाध महार्णव है जिसमें गोते लगानेवाला कवि आज भी अपने काव्य को चमत्कृत तथा अलंकृत बनाने के लिए नवीन जगमगाते हीरों को खोज निकालता है। व्यासजी की वह उक्ति अतिशयोक्ति का साधन नहीं है जिसमें उन्होंने डंके की चोट इस ग्रन्थ-रत्न की भव्यता का निर्देश करते हुए कहा है कि जो कुछ इस महाभारत में है वह

दूसरे स्थलों पर है, परन्तु जो इसके भीतर नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्

भागवत—

रामायण तथा महाभारत—ये दोनों काव्य-रत्न तो हमारे कविजनों के लिए उपजीव्य माने ही जाते हैं, परन्तु एक तीसरा भी ऐसा ही उपादेय विस्तृत प्रभावशाली ग्रन्थ है जिसकी ओर काव्य के आलोचकों की दृष्टि नहीं गई है। वह ग्रन्थ है पुराणों का मुकुटमणि श्रीमद्भागवत। भारतीय धर्म के विकाश में भागवत का व्यापक प्रभाव किसी भी विज्ञ आलोचक से छिपा नहीं है, परन्तु भारतीय काव्य के कोमल विलास तथा प्रचुर प्रसार में भी भागवत का नितान्त महनीय प्रभाव आलोचकों की दृष्टि से ओझल नहीं हो सकता है। यह तो निर्विवाद है कि भारतीय साहित्य में जो मधुरिमा, सरसता तथा हृदयावर्जकता है वह वैष्णव धर्म की देन है। 'रसो वै सः' के प्रत्यक्ष निदर्शनभूत रसिकशिरोमणि श्यामसुन्दर की ललित लीला तथा लावण्यमय विग्रह की भव्य झाँकी प्रस्तुत करने वाला यह भागवत पुराण भारतीय साहित्य के गीति काव्यों तथा प्रगीत मुक्तकों का अक्षय स्रोत है जिसकी माधुर्य भावना को ग्रहण कर कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने काव्यों में लालित्य का, सरसता का तथा हृदयानुरञ्जकता का पुट देकर उन्हें शोभन तथा हृदयावर्जक बनाया है। संस्कृत कृष्ण-कवियों की मधुर सूक्तियों में भागवत की मधुरिमा झलकती है। जयदेव की कोमल कान्त पदावली का विन्यास भागवत की सरसता से ओतप्रोत है। मध्ययुगीय वैष्णव पदकारों के पदों में लालित्य का तथा रस-निर्भरता का विधान श्रीमद्भागवत के गाढ़ अनुशीलन का परिणत फल है। वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी हिन्दी तथा गुजराती कवियों में भागवत का उतना ही रस-निस्यन्द है जितना गौडीय वैष्णवों की बंगला कविता में। ऐसे महनीय

काव्य-ग्रन्थ को उपजीव्य काव्य की श्रेणी में अन्तर्भुक्त मानना नितान्त उपयुक्त है।

रूप-भेद—

इन ग्रन्थों में उपजीव्यता तथा काव्य की दृष्टि से समानता होने पर भी स्वरूपगत तथा कालगत विषमता स्पष्ट है। रामायण महाकाव्य है; महाभारत इतिहास है तथा श्रीमद्भागवत पुराण है। वाल्मीकि ने मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र के आदर्श चरित्र का अंकन रसात्मिका शैली के द्वारा किया है जिसमें केवल कर्णों को सुख लेने वाले वर्णों का विन्यास न होकर सहृदयों के हृदयों को मुग्ध करनेवाले शब्दों का विलास ही अधिक है। महाभारत शान्तरस-प्रधान सुहृद्सम्मित काव्य है जिसमें व्यासदेव ने भारतीय संस्कृति के ग्राह्य आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक रूप का अंकन पाण्डव-कौरव के संघर्ष के व्याज से किया है। इसी से यह मानवों के लिए सदाचार की सौम्य शिक्षा का एक विराट कोश है। श्रीमद्भागवत चरित-प्रधान होने से पुराण है जिसमें मानवों के कल्याण के निमित्त धराधाम पर अवतीर्ण होने वाले भगवान् के नाना चरितों, अवतारों तथा तत्सम्बद्ध कथाओं का मुख्यतया विवरण विन्यस्त है। इस स्वरूपगत विभेद के अतिरिक्त एक और भी भेद दृष्टिगोचर होता है। वाल्मीकीय रामायण रामचन्द्र के कार्यों का ही मुख्यतया प्रतिपादक होने से कर्मप्रधान है। महाभारत आचार, नीति तथा लोकव्यवहार का विशाल भाण्डागार होने के कारण तथा श्रीमद्भगवद्गीता जैसे अध्यात्म-प्रधान ग्रन्थ के समावेश के हेतु स्फुटतया ज्ञान-प्रधान है। भागवत लोक में न्याय-अन्याय, राग-द्वेष, मैत्री-कलह के सन्तत जागरूक संघर्ष को मिटाने तथा सरस सामञ्जस्य को स्थापित करने वाले भगवान् की मधुर लीलाओं का आयत्त आगार होने के कारण नितान्त भक्ति-प्रधान है। इस प्रकार रामायण, महाभारत तथा भागवत कर्मकालिन्दी, ज्ञान-सरस्वती तथा भक्ति-गंगा की

भव्य त्रिवेणी है जिसका अवगाहन काव्य के साधकों को कर्म, ज्ञान तथा भक्ति की भावना को दृढ़ तथा शुद्ध बनाने के लिए नितान्त आवश्यक है।

कालगत भेद—

तीनों में कालगत भेद भी स्पष्ट है। कतिपय पश्चिमी आलोचक महाभारत के कथानक में अव्यवस्थित आदिकालीन समाज-व्यवस्था का निर्देश पाने के कारण उसे रामायण से प्राचीनतर मानने की भ्रान्त धारणा बनाये हुये हैं, परन्तु दोनों की रूपगत, अन्तरंग परीक्षा के अनन्तर रामायण की प्राचीनता स्वतः प्रामाणसिद्ध हो जाती है। वाल्मीकीय रामायण में महाभारत के न तो पात्रों का ही कहीं उल्लेख है और न उसकी घटनाओं का ही, ग्रन्थस्थ पद्यों के उद्धरण तथा संकेत पाने की तो बात ही असंगत है। परन्तु महाभारत के वनपर्व में पूरा रामचरित 'रामोपाख्यान' के नाम से अनेक अध्यायों में केवल वर्णित ही नहीं है, प्रत्युत वाल्मीकि के स्पष्ट निर्देश के साथ रामायण के कतिपय श्लोक भी निर्दिष्ट किये गये हैं। इसका निष्कर्ष यही है कि महाभारत रामकथा से ही परिचित नहीं है, बल्कि वह वाल्मीकि के वर्तमान रामायणसे भी पूर्णतया अभिज्ञ है। फलतः रामायण का महाभारत की अपेक्षा प्राचीनतर होना नितान्त सिद्ध है। भागवत की रचना महाभारत से अर्वाचीन है। भागवत के प्रथम स्कन्ध के पञ्चम अध्याय में उसके निर्माण का बीज निर्दिष्ट किया गया है। आचार-व्यवहार के इतने विशाल कोशभूत महाभारत की रचना करने पर भी व्यासदेव को आन्तरिक शान्ति जब नहीं मिली तब महर्षि नारदजी के उपदेश से उन्होंने भक्तिप्रधान भागवत का निर्माण किया (भाग० १।७।८)। महाभारत में वीररस-प्रधान होने से चित्त में उद्वेग तथा क्षोभ उत्पन्न करने वाले भीषण कूट संग्रामों की ही चर्चा अधिक है, भगवान् के सरस, हृदयरञ्जक चरित्र का वर्णन नहीं के

बराबर है। इसी त्रुटि को दूर करने के लिए भगवान् की मधुर चरितावली से सम्पन्न भागवत को लिखकर महर्षि व्यासदेव ने हृदय की दुर्लभ शान्ति तथा सान्त्वना प्राप्त की। अतः भागवत का महाभारत से अर्वाचीन होना अन्तरंग परीक्षण से स्वयं सिद्ध है।

४

रामायण

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा॥

—त्रिविक्रमभट्ट

संस्कृत साहित्य में महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण 'आदि काव्य' समझा जाता है तथा वाल्मीकि 'आदिकवि' माने जाते हैं। कथा प्रसिद्ध है कि जब व्याध के बाण से विधे हुए क्रौञ्च के लिए विलाप करनेवाली क्रौञ्ची का करुण शब्द ऋषि ने सुना, तो उनके मुँह से अकस्मात् यह श्लोक निकल पड़ा जिसका आशय यह है कि हे निषाद! तुमने काम से मोहित इस क्रौञ्च पक्षी को मारा है। अतः तुम सदा के लिये प्रतिष्ठा प्राप्त न करो[१]। महर्षि की कल्याणमयी वाणी सुनकर स्वयं ब्रह्मा उपस्थित हुए और उन्होंने रामचरित लिखने के लिये उनसे कहा। रामायण की रचना इसी प्रेरणा का फल है। वाल्मीकि अनुष्टुप् छन्द के आविष्कारक माने जाते हैं। उपनिषदों में भी अनुष्टुप् छन्द है, परन्तु लौकिक संस्कृत में व्यवहृत होने वाले सम अक्षर से युक्त अनुष्टुप् का प्रथम प्रयोग वाल्मीकि ने किया जिसमें लघुगुरु का निवेश नियमबद्ध था।

---

[१] मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

बहुत से विद्वान् लोग उत्तरकाण्ड को तथा बालकाण्ड के कतिपय अंश को एकदम प्रक्षिप्त बतलाते हैं। उनका कहना है कि बालकाण्ड के प्रथम और तृतीय सर्ग में जो विषय-सूची दी गई है उसमें उत्तरकाण्ड का निर्देश नहीं है। जर्मन विद्वान् 'याकोबी' मूल रामायण में अयोध्या काण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक पाँच ही काण्ड मानते हैं। लङ्काकाण्ड के अन्त में ग्रन्थ के अन्त होने की सूचना सी प्रतीत होती है, इसलिये उत्तर काण्ड पीछे से जोड़ा गया माना जाता है। इस काण्ड में कुछ ऐसे आख्यानों की चर्चा है जिनका संकेत पहले के काण्डों में नहीं मिलता है, फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि वह बहुत पीछे जोड़ा गया है। बौद्धों में एक प्रसिद्ध जातक है—'दशरथ जातक' जिसमें रामायण का वर्णन संक्षेप रूप में उपलब्ध होता है। इसमें पाली भाषा में रूपान्तरित उत्तरकाण्ड का एक श्लोक हूबहू मिलता है। इस जातक का समय विक्रमपूर्व तृतीय शतक माना जाता है। अतः मानना पड़ेगा कि उत्तर काण्ड की रचना उक्त तृतीय शतक से पहले की है।

इस आदिकाव्य को 'चतुर्विंशति साहस्री संहिता' कहते हैं अर्थात् इसमें २४ हजार श्लोक हैं—ठीक उतने ही हजार, जितने 'गायत्री' के अक्षर हैं। प्रत्येक हजार श्लोक का पहला अक्षर गायत्री मन्त्र के ही अक्षर से क्रमशः आरम्भ होता है, यह विद्वानों का कहना है। अनुष्टुप् श्लोकों के अतिरिक्त अन्य छन्दों में भी पद्य मिलते हैं। विद्वान् लोग इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर क्षेपक भी मानते हैं, परन्तु काव्य में एकता का कहीं भी अभाव नहीं दीख पड़ता। ग्रन्थ में पाठभेद भी कम नहीं हैं। उत्तरी भारत, बङ्गाल तथा काश्मीर में रामायण के जो संस्करण उपलब्ध होते हैं उनमें पाठभेद बहुत ही अधिक हैं। उनमें एक दूसरे से श्लोकों का ही अन्तर नहीं है, प्रत्युत कहीं-कहीं तो सर्ग के सर्ग भिन्न दिखाई पड़ते हैं। रामायण के अनेक टीकाकार भी हुए जिनमें नागेशभट्ट की 'तिलक' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त अन्य टीकाएँ ये

हैं—'शृंगार तिलक' (गोविन्दराजकृत), रामायण कूट (रामानन्दतीर्थकृत) 'वाल्मीकितात्पर्यतरणि' (विश्वनाथ कृत) तथा 'विवेकतिलक' (वरदराजकृत)। इन सबों से प्राचीन टीका का नाम 'कतक' है, जिसका उल्लेख नागेश ने आदरपूर्वक अपनी टीका में किया है।

संस्करण

रामायण के अनेक संस्करण उपलब्ध होते हैं—(१) बम्बई से प्रकाशित देवनागरी संस्करण[1]। उत्तरी भारत में इसी संस्करण का विशेष प्रचलन है। नागोजी भट्ट की लिखी हुई 'तिलक' टीका इसी संस्करण पर है। (२) वङ्गाल संस्करण (कलकत्ते से प्रकाशित) इस पर लोकनाथ की प्रसिद्ध टीका है। इस संस्करण का अनुवाद डाक्टर गोरेशियो ने अनेक उपयोगी टिप्पणियों के साथ किया है[2]। (३) काश्मीर संस्करण जिसका प्रचलन उत्तर पश्चिमीय भारत में विशेष रूप से था[3]। (४) दक्षिण भारत संस्करण[4] (मद्रास से प्रकाशित) इसमें और देवनागरी संस्करण में विशेष भेद नहीं है। आरम्भ के तीनों संस्करणों में पर्याप्त भिन्नता है। वाल्मीकि का मूल रामायण कौन सा था ? इसका निर्णय करना नितान्त कठिन है। कुछ विद्वान् वङ्गाल संस्करण को अधिक पुराना तथा विशुद्ध मानते हैं, तो कुछ देवनागरी

---

[1] निर्णय सागर से प्रकाशित।

[2] डा० गोरेशिओ (G. Gorresio) ने इस संस्करण को प्रकाशित किया है तथा इटैलियन भाषा में इसका अनुवाद भी किया है (१८४३-१७)।

[3] डी० ए० बी० कालेज लाहौर के अनुसन्धान कार्यालय से प्रकाशित, १९१३।

[4] मध्व विलास बुकडिपो, कुम्भकोणम् से प्रकाशित, १९२९-३०।

संस्करण को। इस विषय के लिए इन संस्करणों का विशेष मन्थन तथा अनुशीलन अपेक्षित है।

समय

वाल्मीकीय रामायण के निर्माण का समय बाहरी तथा भीतरी प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। राम वैदिक, बौद्ध तथा जैन धर्मों में समभाव से मर्यादा-पुरुष माने जाते हैं। बौद्ध साहित्य में तथा जैन साहित्य में रामकथा का निर्देश स्पष्टतया किया गया है। बौद्ध कवि कुमारलात (१०० ई०) की 'कल्पना मण्डतिका' में रामायण के सर्वसाधारण में वाचन का उल्लेख है। जैन कवि विमलसूरि ने रामकथा को 'पउम चरिअ' नामक प्राकृत भाषा के महाकाव्य में निबद्ध किया है। विमलसूरि ने इस काव्य की रचना महावीर की मृत्यु से ५३० वर्ष के अनन्तर (लगभग ६२ ई०) में की है। यह काव्य वाल्मीकीय रामायण को आदर्श मानकर जैनधर्मावलम्बियों को इस मर्यादापुरुष के चरित से परिचय प्राप्त कराने के लिये ही लिखा गया है। महाकवि अश्वघोष (७८ ई०) ने अपने बुद्धचरित में सुन्दरकाण्ड की अनेक रमणीय उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं को निबद्ध किया है। बौद्धों के अनेक जातकों में रामकथा का स्पष्ट निर्देश है। 'दशरथ जातक' तो रामायण का पूरा आख्यान ही है जिसमें रामपण्डित बुद्ध के ही पूर्वकालीन प्रतिनिधि माने गये हैं। वाल्मीकि रामायण का एक श्लोक भी इस जातक में पालीरूप मे उपलब्ध होता है। जातकों का समय-निरूपण झमेले का विषय है। यद्यपि उनकी कथाएँ इससे भी पूर्व इस देश में प्रचलित थीं, तथापि उनका समय तृतीय शतक ई० पूर्व में साधारणतया माना जाता है। इन बाहरी प्रमाणों के आधार पर रामायण तृतीय शतक ई० पूर्व से भी पहले की रचना सिद्ध होता है।

वर्तमान महाभारत रामकथा ही से परिचित नहीं है, अपि तु वह वाल्मीकि के रामायण से भी भली-भाँति अवगत है। रामायण में महाभारत के

पात्रों का कहीं भी उल्लेख नहीं है, परन्तु वनपर्व का रामोपाख्यान (अध्याय २७३–९३) वाल्मीकि में दी गई कथा का संक्षिप्त संस्करण है। रामचन्द्र से सम्बद्ध स्थान महाभारत में तीर्थरूप से माने गये हैं। श्रृङ्गवेरपुर[1] (सिंगरौर जि० प्रयाग) तथा गोप्रतार[2] (फैजाबाद में गुप्तार घाट) वनपर्व में तीर्थ माने गये हैं। अत: महाभारत के वर्तमान रूप प्राप्त होने से पहले ही रामायण अवान्तर अंशों के साथ प्राचीन तथा पुराना ग्रन्थ माना जाता था। दोनों ग्रन्थों की तुलना आगे की जायेगी। महाभारत को वर्तमानरूप ईस्वी के आरम्भ में प्राप्त हुआ है। अतः रामायण की रचना इससे भी पहले ही अवश्य की गई होगी।

रामायण का अनुशीलन उसकी रचना के समय को भली-भाँति प्रकट कर रहा है। रामायण के समय की राजनीतिक अवस्था का परिचय इस महाकाव्य के अध्ययन से भलीभाँति मिलता है:—

अन्त:प्रमाण

(१) पाटलिपुत्र नगर की स्थापना ५०० ई० पूर्व में मगध नरेश अजातशत्रु ने की। पहले यह एक साधारण ग्राम था जिसका नाम बौद्धग्रन्थों में 'पाटलिग्राम' दिया गया है। अजातशत्रु ने शत्रु लोगों के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के निमित्त

---

[1] ततो गच्छेत राजेन्द्र श्रृङ्गवेरपुरं महत्।
यत्र तीर्णो महाराज रामो दाशरथिः पुरा॥
तस्मिन् तीर्थे महाबाहो सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

—वनपर्व ८५।६५

[2] गोप्रतारं ततो गच्छेत् सरय्वास्तीर्थमुत्तमम्॥७०॥
यत्र रामो गतः स्वर्गं सभृत्यबलवाहनः।
देहं त्यक्त्वा महाराज! तस्य तीर्थस्य तेजसा॥७१॥

—वनपर्व अ० ८४

गंगा-सोन के संगम पर इस ग्राम में किला बनवाया[1]। इनके पिता बिम्बसार की राजधानी राजगृह था गिरिव्रज थी। रामायण में राम शोण और गंगा के संगम से होकर जाते हैं पर पाटलिपुत्र का उल्लेख यहाँ नहीं मिलता[2]। इससे स्पष्ट है कि रामायण ५०० ई० पूर्व से पहले लिखा गया।

(२) कोशल जनपद की राजधानी रामायण में अयोध्या बतलाई गई है[3], परन्तु जैन और बौद्ध ग्रन्थों में अयोध्याके स्थान पर वह 'साकेत' नाम से ही प्रख्यात है। लव ने अपनी राजधानी 'श्रावस्ती' में स्थिर की[4]। रामायण की रचना उस समय की गई होगी, जब अयोध्या को छोड़कर श्रावस्ती में राजधानी नहीं लाई गई थी। बुद्ध के समय में कोशल के राजा प्रसेनजित् 'श्रावस्ती' में ही राज्य करते थे। अतः रामायण की रचना इससे पूर्वकाल में हुई।

(३) गंगा पार करने पर राम 'विशाला' में पहुँचे। इसके राजा का नाम सुमति' था जिसने इन लोगों की बड़ी अभ्यर्थना की—गङ्गाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशुः पुरीम्—बाल ४५।८। इक्ष्वाकु की 'अलम्बुसा' नामक रानी से उत्पन्न 'विशाल' नामक पुत्र ने इस नगरी को बसाया था। इसी लिए यह 'विशाला' के नाम से विख्यात थी। रामायण में विशाला[5] और मिथिला[6] दो स्वतन्त्र राजतन्त्र राज्य थे,

---

[1] राय चौधरी—पोलिटिकल हिस्टरी आफ ऐन्शन्ट इंडिया, पृ० १४१

[2] बालकाण्ड सर्ग ३१।

[3] अयोध्या नाम नगरी तत्रासीत् लोकविश्रुता।—बाल ५।६

[4] श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य च॥—उत्तर १०८।४

[5] द्रष्टव्य बालकाण्ड, सर्ग ४७, श्लोक ११–२०

[6] मिथिला में जनकवंशी नरेशों का आधिपत्य था। उस समय मिथिला के राजा का नाम सीरध्वज जनक था।—द्रष्टव्य बाल० सर्ग ५०।

परन्तु बुद्ध के समय में ये दोनों राज्य पृथक स्वतन्त्र न होकर वैशाली राज्य के रूप में सम्मिलित कर दिये गये थे और शासन पद्धति भी गणतन्त्र राज्य के समान थी। अतः रामायण को बुद्ध से प्राचीन होना चाहिए।

(४) भारत का दक्षिण अंश एक विराट् अरण्यानी के रूप में अंकित किया गया है जिसमें बन्दर भालू आदि असभ्य या अर्धसभ्य जातियाँ निवास करती थीं। आर्य सभ्यता के इन देशों में प्रसार होने से पहले की यहीं अवस्था था। अतः दक्षिण भारत को आर्य बनने से पहले रामायण का निर्माण हुआ।

(५) उत्तरी भारत आर्य अवश्य था, परन्तु बालकाण्ड से सिद्ध है कि कोशल, अंग, कान्यकुब्ज, मगध, मिथिला आदि अनेक छोटे छोटे राज्यों में यह बँटा था। यह राजनीतिक अवस्था बुद्ध-पूर्व भारत में ही दृष्टिगोचर होती है।

(६) सारे रामायण में केवल दो पद्यों में ही यवनों का नाम आता है। इसी सामान्य आधार पर जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि रामायण पर यूनानी सभ्यता का प्रभाव पड़ा है, पर डा० याकोबी ने इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। अतः यूनानी आक्रमण के अनन्तर ये पद्य रामायण में मिला दिये गये होंगे।

इन प्रमाणों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामायण की रचना बुद्ध के जन्म से पहले ही हुई। अर्थात् रामायण को ५०० ई० पू० से पहले की रचना मानना न्यायसंगत है।

समीक्षण

महर्षि वाल्मीकि आदिकवि हैं और उनका रामायण आदि काव्य है। कवि के सच्चे रूप की कल्पना हमने वाल्मीकि से सीखी और महाकाव्य के महत्त्व को हमने रामायण से ग्रहण किया। यदि वाल्मीकि न

होते, तो कवि के वास्तव स्वरूप और अभिराम आदर्श को हम कहाँ से सीखते ? और यदि उनकी प्रसन्न-गम्भीर रामायण हमें नहीं मिलती तो हम महाकाव्य के माहात्म्य तथा गौरव को कैसे पहचानते ? कवि और काव्य के विशुद्ध रूप की कसौटी है—आदि कवि का परम पावन, माननीय तथा मननीय आदिकाव्य रामायण। कवि का पद ऋषि के समान है। ऋषि का भी अर्थ है—द्रष्टा। वस्तुओं के विचित्र भाव, धर्म तथा तत्त्व को भलीभाँति अवगत करनेवाला व्यक्ति ही 'ऋषि' के महनीय पद का वाच्य है। कवि का भी अर्थ है क्रान्तदर्शी—'कवयः क्रान्तदर्शिनः' —अर्थात् नेत्रों के व्यापार से दूर रहनेवाले अतीत एवं भविष्य के पदार्थों को यथार्थ रूप से देखनेवाला पुण्यात्मा पुरुष। परन्तु दोनों में थोड़ा अन्तर है। वस्तुतत्त्व के दर्शन होने से ऋषित्व की प्राप्ति हो जाती है; परन्तु जब तक वह अपने अनुभूत वस्तुतत्व को शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं करता, तब तक वह 'कवि' नहीं कहला सकता। 'कवि' की कल्पना में 'दर्शन' के साथ 'वर्णना' का भी मनोरम सामञ्जस्य है और इस कल्पना के जनक स्वयं महर्षि वाल्मीकि ही हैं। उन्हें वस्तुओं का निर्मल दर्शन नित्यरूप से था, परन्तु जब तक 'वर्णना' का उदय नहीं हुआ, तब तक उनकी 'कविता' का प्राकट्य नहीं हुआ। 'मा निषाद' पद्य के उच्चारण करते ही ब्रह्मा स्वयं ऋषि के सामने उपस्थित हुए और कहने लगे—महर्षे! तुम्हारी आर्ष चक्षु या प्रातिभ चक्षु का अब उन्मेष हो गया है। तुम आद्य कवि हो। भवभूति के स्मरणीय शब्दों में—

ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद् ब्रूहि रामचरितम्।
अव्यहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभाति।। आद्यः कविरसि।

कवि के यथार्थ रूपको वाल्मीकि के दृष्टान्त के द्वारा प्रसिद्ध समालोचक-शिरोमणि भट्ट तौत ने इस पद्य में सुन्दरता से समझाया है—

दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः।
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥

संस्कृत काव्यधारा की दिशा तो उसी अवसर पर निर्दिष्ट हो गयी, जब प्रेम-परायण सहचर के आकस्मिक वियोग से सन्तप्त क्रौञ्ची के करुण निनाद को सुनकर वाल्मीकि के हृदय का शोक श्लोक के रूप में छलक पड़ा था। काव्य का जीवन रस है, काव्य का आत्मा रस है—इसे साहित्य-संसार ने तभी सीख लिया, जब आदिकवि की आदि कविता के रसामृत का उसने पान किया; बारम्बार प्रीयमाण तथा नितान्त विस्मित शिष्यों ने आश्चर्यभरे शब्दों में इस रहस्यभूत तत्त्व को पहचाना—

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

(रामायण १।२।४०)

महाकवि कालिदास ने भी इसी तथ्य की अभिव्यक्ति की है—

तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

(रघुवंश १४।७०)

इन्हीं सूत्रों को पकड़कर आनन्दवर्धन ने 'प्रतीयमान' अर्थ के सामान्यरूपेण काव्य में मुख्य होने पर भी रस को ही काव्य का आत्मा स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

(ध्वन्यालोक १।५)

आदिकवि का यह समग्र काव्य ही कविता के सच्चे रूप को प्रकट कर रहा है। वाल्मीकीय रामायण मनोरम उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं का एक विराट् भव्य प्रासाद है; परन्तु उसके बाह्य आवरणों में उसका

विशुद्ध रसमय हृदय भली भाँति झलक रहा है, इतने स्पष्ट रूप में कि उसकी सत्ता का परिचय हमें पद-पद पर प्राप्त होता है। रामायण का हृदय है—रस-पेशल-वर्णन और इस वर्णन में सर्वत्र विद्यमान है—समग्र-काव्यगत व्यापक औचित्य। महाकाव्य का प्रथम तथा भव्य निदर्शन है—यही वाल्मीकीय रामायण। रामायण का ही विश्लेषण कर आलङ्कारिकों ने 'महाकाव्य' का लक्षण प्रस्तुत किया है। 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' लक्षण का प्रथम तथा सबसे सुन्दर लक्ष्य है—रामायण। दण्डी का यह प्रसिद्ध लक्षण 'रामायण' को ही आदर्श मानकर लिखा गया है—

अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थापि जायेत सदलंकृति॥

रामायण में करुण रस—

आनन्दवर्धन ने स्पष्टतः 'करुण' को ही रामायण का मुख्य रस कहा है। रामायण का आरम्भ 'करुण' से होता है तथा राम के सामने सीता के पृथ्वी के भीतर अन्तर्धान होने के दृश्य से रामायण का अन्त भी 'करुण' से ही होता है—

रामायणे हिं करुणो रसः स्वयमादिकविना सूचितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येववादिना। निर्व्यूढश्च स एवं सीताऽत्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता।

(ध्वन्यालोक, उद्योत ४ पृ० २३७)

वाल्मीकि समग्र कविसमाज के उपजीव्य हैं—विशेषतः कालिदास तथा भवभूति के। इन दोनों महाकवियों ने रामायण का गाढ़ अनुशीलन

किया था और इनकी कविता में हमें जो रस मिलता है, उसमें रामायण की भक्ति कम सहायक नहीं रही है। कालिदास का शृंगार-रस सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, परन्तु उनका 'करुण' रस कम प्रभावशाली नहीं है। कालिदास ने उभयविध 'करुण' को उपस्थित कर उसे साङ्गोपाङ्ग रूप से दिखलाया है। पत्नी के लिये पति की करुणा का रूप हम रघुवंश के 'अज-विलाप' में पाते हैं और पति के निमित्त पत्नी की करुण परिवेदना 'रति-विलाप' के रूप में हमें रुलाती है। ताप से लोहा भी पिघल उठता है, तब कोमल, मानव-चित्त सन्ताप से मृदु बन जाय—क्या इस विषय में सन्देह के लिये स्थान है ? 'अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ?' कालिदास के इन करुण वर्णनों में मानव-हृदय को प्रभावित करने की क्षमता है, परन्तु भवभूति के उत्तर-चरित में तो यह अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है। यह भवभूति का ही काम था कि उन्होंने सीता के वियोग में राम को रोते देखकर पत्थर को रुलाया है और वज्र हृदय को भी विदीर्ण होते दिखलाया है—

'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।'

इन करुण उक्तियों की चोट से क्षुब्ध होकर, गोवर्धनाचार्य ने भवभूति की भारती को 'भूधर की कन्या' बतलाया है। तभी तो उसके करुणक्रन्दन को सुनकर पत्थर का हृदय पिघल गया था। प्यारी पुत्री का रुदन सुनकर किस पिता का हृदय द्रवित होकर आँसुओं के रूप में नहीं बह निकलेगा ?

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति ।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ॥

भवभूति ने करुण को 'एको रसः'–मुख्य रस, अर्थात् समस्त रसों की प्रकृति माना है और अन्य रसों को उसकी विकृति माना है। 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्'—इस कथन के मूल को हमें वाल्मीकि के अन्दर खोजना चाहिये।

वाल्मीकि का यह महाकाव्य पृथ्वीतल को विदीर्ण कर उगनेवाले उस विराट् वट-वृक्ष के समान है, जो अपनी शीतल छाया से भारत के समस्त मानवों को आश्रय देता हुआ प्रकृति की विशिष्ट विभूति के समान अपना मस्तक ऊपर उठाए हुए खड़ा है। महाकाव्य प्रधानतया वीर-रस-प्रधान हुआ करते हैं, जिनमें युद्ध का घोष, विजय-दुन्दुभिका गर्जन तथा सैनिकों का तर्जन मानवों के हृदय में उत्साह तथा स्फूर्ति उत्पन्न किया करते हैं, परन्तु रामायण का माहात्म्य वीर-रस के प्रदर्शन में नहीं है। किसी देव-चरित के वर्णन में भी रामायण का गौरव नहीं है; क्योंकि महर्षि वाल्मीकि ने जब आदर्श गुणों से मण्डित किसी व्यक्ति का परिचय पूछा, तब नारदजी ने एक मानव को ही उन अनुपम गुणों का भाजन बतलाया—'तैर्युक्तः श्रूयतां नरः।' यह नर-चरित्र का ही कीर्तन है। भारतीय गार्हस्थ्य-जीवन का विस्तृत चित्रण रामायण का मुख्य उद्देश्य प्रतीत हो रहा है। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भ्राता, आदर्श पति, आदर्श पत्नी—आदि जितने आदर्शों को इस अनुपम महाकाव्य में आदि कवि की शब्द-तूलिका ने खींचा है वे सब गृहधर्म के पट पर ही चित्रित किये गये हैं। इतना ही क्यों, राम-रावण का वह भयानक युद्ध भी इस काव्य का मुख्य उद्देश्य नहीं है। वह तो राम-जानकी—पति पत्नी—की परस्पर विशुद्ध-प्रीति को पुष्ट करने का एक उपकरण-मात्र है और ऐसा होना स्वाभाविक ही है। रामायण को भारतीय सभ्यता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिये प्रधान साधन बना रखा है और भारतीय सभ्यता की प्रतिष्ठा है—गृहस्थाश्रम। अतः यदि इस गार्हस्थ्य धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये आदिकवि ने इस महाकाव्य का प्रणयन किया तो इसमें आश्चर्य क्या है? रामायण तो भारतीय सभ्यता का प्रतीक ठहरा, दोनों में परस्पर उपकार्योपकारक-भाव बना हुआ है। एक को हम दूसरी की सहायता से समझ सकते हैं।

रामचरित्र

आदिकवि ने अपने काव्य-मन्दिर की पीठ पर प्रतिष्ठित किया है—मर्यादा-पुरुषोत्तम महामानव महाराजा रामचन्द्र को। विभिन्न विकट परिस्थितियों के बीच में रहकर व्यक्ति अपने शीलके सौन्दर्य की किस प्रकार रक्षा कर सकता है? यह हमें वाल्मीकि ने ही सिखलाया है। यदि आदिकवि ने इस चरित्र का चित्रण न किया होता, तो हमें मंजुल गुणों के सामञ्जस्य का परिचय कहाँ से मिलता? भारतवासी किसी मानव के आदर्श चरित्र को सुनने के लिये लालायित थे, वाल्मीकि ने उसी चरित्र को उनके सामने प्रस्तुत किया। यही कारण है कि इस काव्य की मोहकता कभी कम नहीं होती; इसके शब्दों में इतनी माधुरी है, चित्रों में इतनी चमक है कि मानव के कान और मन इसके परिशीलन से एक साथ ही आप्यायित हो उठते हैं। रामायण को जितनी बार पढ़ा जाव, उतनी ही बार उसमें नयी-नयी बातें सूझती हैं। इन सरल परिचित शब्दों में इतना रस-परिपाक हुआ है कि पढ़ने वाले का चित्त आनन्द से गद्गद हो उठता है। सच बात तो यह है कि रामायण के इन अनुष्टुपों को पढ़कर शताब्दियों से भारत का हृदय स्पन्दित हो रहा है और सदैव भविष्य में भी होता रहेगा।

राम के किन आदर्श गुणों के अङ्कन में यह लेखनी प्रवृत्त हो? उनकी कृतज्ञता का वर्णन किन शब्दों में किया जाय? राम तो किसी तरह किये गये एक ही उपकार से सन्तुष्ट हो जाते हैं; और अपकार चाहे कोई सैकड़ों ही करे, उनमें से एक का भी स्मरण उन्हें नहीं रहता। अपकारों को भूलने वाला हो तो ऐसा हो—

कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥

(रामायण २।१।११)

उनका क्रोध तथा प्रसाद दोनों ही अमोघ है। अपने पापों के कारण हननःयोग्य व्यक्तियों को बिना मारे वे नहीं रहते और अवध्य के ऊपर क्रोध के कारण कभी उनकी आँख भी लाल नहीं होती—

नास्य क्रोधः प्रसादो वा निरर्थोऽस्ति कदाचन।
हन्त्येष नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति।
(रामायण २।१।४६)

राम का शील कितना मधुर है। वे सदा दान करते हैं; कभी दूसरे से प्रतिग्रह नहीं लेते। वे अप्रिय कभी नहीं बोलते। साधारण स्थिति की बात नहीं, प्राण-सङ्कट उपस्थित होने की विषम दशा में भी राम इन नियमों का उल्लङ्घन नहीं करते।

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयान्न ब्रूयात् किञ्चिदप्रियम्।
अपि जीवितहेतोर्वा रामः सत्यपराक्रमः॥
(रामायण ५।३३।२६)

अपने कुटुम्बियों के प्रति उनका व्यवहार कितना कोमल तथा सहानुभूति पूर्ण है! सीता के प्रति राम के प्रेम का वर्णन करते समय आदिकवि ने मानव-तत्त्व का बड़ा ही सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत किया है। राम सीता के वियोग में चार कारणों से सन्तप्त हो रहे हैं—सीता के प्रति उनके परिताप का कारण चतुर्मुखी है। धर्मशास्त्र आपत्ति में स्त्री की रक्षा करने का उपदेश देता है, परन्तु राम से यह न हो सका; अतः वह अबला स्त्री की रक्षा न कर सकने के कारण 'कारुण्य' से सन्तप्त हैं। वन में सीता राम की आश्रिता थीं, परन्तु राम ने अपने आश्रित की रक्षा नहीं की; अतः 'आनृशंस्य'—आश्रित जनों के संरक्षक-स्वभाव से सन्तप्त हैं। सीता उनकी पत्नी सहधर्मिणी ठहरीं। उनके नष्ट होने पर उनके (श्रीराम के) धर्म का पालन क्योंकर हो सकेगा, अतः शोक से। वे उनकी प्रिया, प्रियतमा ठहरीं, परम सुख की साधिका ठहरीं। उस

परम लावण्यमयी स्त्री के नाश ने उनके हृदय में अतीत के उस आनन्दमय जीवन की मधुर स्मृति जगा दी है—इस कारण 'प्रेम' से । इन नाना भावों के कारण सीता के वियोग में राम सन्तप्त हो रहे हैं—

इयं सा यत्कृते रामश्चतुर्भिः परितप्यते ।
कारुण्येनानृस्शयेन शोकेन मदनेन च ॥
स्त्री प्रणष्टेति कारुण्यादाश्रितेत्यानृशंस्यतः ।
पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च ॥
(रामायण ५।१५।४८-४९)

लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम ने भ्रातृप्रेम के विषय में जो उद्गार निकाले हैं, उनकी समता भला किसी अन्य सुशिक्षित कहलानेवाले देश के साहित्य में भी कभी मिल सकती है ? 'यदि मनुष्य चाहे तो एक देश के बाद दूसरे देश में उसे विवाहयोग्य स्त्रियाँ मिल सकती हैं, प्रत्येक देश में मित्र भी मिल सकते हैं; परन्तु मैं उस देश को नहीं देखता, जहाँ सहोदर भ्राता मिल सकें ।' धन्य हैं भगवान् रामचन्द्र । केवल इस उक्ति के अनूठेपन पर समस्त साहित्य को न्योछावर कर देने का मन होता है । यह सूक्ति हृदय पर कितना अधिक चोट कर रही है—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः ।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥

रामचन्द्र की शरणागत-वत्सलता का चरम दृष्टान्त है—अपने मायावी शत्रु के भाई को उसी की नगरी में आश्रय प्रदान करना । उनके औदार्य की झलक रावणवध होने के बाद रावण के दाह-संस्कार के समय मिलती है । राम का कहना है कि रावण जिस प्रकार विभीषण का सगा सम्बन्धी है, उसी प्रकार उनका भी है । रावण की मृत्यु के साथ-साथ उनका उसके प्रति वैर-भाव भी शान्त हो गया है । अब वैर लेने की क्या आवश्यकता रह गई ?

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम् ।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥

सीता-चरित्र

भगवती जनक-नन्दिनी के शील-सौन्दर्य की ज्योत्स्ना किस व्यक्ति के हृदय को शीतलता तथा शान्ति नहीं प्रदान करती ? जानकी का चरित्र भारतीय ललना के महान् आदर्श का प्रतीक है । रावण के बारंबार प्रार्थना करने पर भी सीता ने जो अवहेलना-सूचक वचन कहा है, वह भारतीय नारी के गौरव को सदा उद्घोषित करता रहेगा । इस निशाचर रावण से प्रेम करने की बात तो दूर रही, मैं तो इसे अपने पैर से—नहीं-नहीं, बायें पैर से भी नहीं छू सकती—

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम् ।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम् ॥
(रामायण ५।२६।१०)

रावण की मृत्यु के अनन्तर राम ने सीता के चरित्र की विशुद्धि सामान्य जनता के सामने प्रकट करने के लिये अनेक कटु वचन कहे । उन वचनों के उत्तर में सीता के वचन इतने मर्मस्पर्शी हैं कि आलोचक का हृदय आनन्दातिरेक से गद्गद हो जाता है । सीताजी के कतिपय कथनों पर दृष्टि डालिये । 'मनुष्य' उसी वस्तु के लिये उत्तरदायी हो सकता है, जिसपर उसका अधिकार हो । मैं अपने हृदय की स्वामिनी हूँ । वह सदा आपके चिन्तन में निरत रहा है । अङ्गों पर मेरा अधिकार नहीं । वे पराधीन ठहरे । रावण ने बलात्कार से उनका स्पर्श कर लिया तो इसमें मेरा क्या अपराध है?—

मदधीनं तु यत्तन्मे हृदयं त्वयि वर्तते ।
पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरा ॥

'मेरे चरित्र पर लाञ्छन लगाना कथमपि उचित नहीं है। मेरे निर्बल अंश को आपने पकड़कर आगे किया है, परन्तु मेरे सबल अंश को पीछे ढकेल दिया है। नारी का दुर्बल अंश है—उसका स्त्रीत्व और उसका सबल अंश है—उसका पत्नीत्व तथा पातिव्रत। नर-शार्दूल! आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं; परन्तु क्रोध के आवेश में आपका यह कहना साधारण मनुष्यों के समान है। आपने मेरे स्त्रीत्व को तो दोषारोपण करने के निमित्त आगे किया है, परन्तु आपने इस बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया कि बालकपन में ही आपने मेरा पाणिग्रहण किया है, आपकी मैं शास्त्रानुमोदित धर्मपत्नी हूँ। मैं आपकी भक्ति करती हूँ तथा मेरा स्वभाव निश्छल और पवित्र है। आश्चर्य है आप जैसे नर-शार्दूल ने मेरे स्वभाव को, भक्ति को तथा पाणिग्रहण को पीछे ढकेल दिया, केवल स्त्रीत्व को आगे रखा है—

त्वया तु नरशार्दूल! क्रोधमेवानुवर्तता।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम्॥
न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम्॥

कितनी ओजस्विता भरी है इन सीधे-सादे निष्कपट शब्दों में। अनादृता भारतीय ललना का यह हृदयोद्गार कितना हृदय-वेधक है! सुनते ही सहृदय मनुष्य की आँखों में सहानुभूति के आँसू छलक पड़ते हैं।

राम और सीता का निर्मल चरित्र वाल्मीकि की कोमल काव्य-प्रतिभा का मनोरम निदर्शन है। रामायण हमारा जातीय महाकाव्य है। वह भारतीय हृदय का उच्छ्वास है। वाल्मीकि हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। रामायण का जितना पठन किया जायेगा, रामचरित्र का जितना चिन्तन किया जायेगा, वह उतना ही मङ्गलप्रद होगा; क्योंकि सच-

मुच यह मानव-जीवन राम-दर्शन के बिना निरर्थक है—'राम-दर्शन' उभय अर्थ में—राम-कर्तृक दर्शन (राम के द्वारा देखा जाना) तथा राम-कर्मक दर्शन (राम को देखना)। राम जिसको नहीं देखते, वह लोक में निन्दित है। और जो व्यक्ति राम को नहीं देखता, उसका जीवन भी निन्दित है। उसका अन्तःकरण स्वयं उसकी निन्दा करने लगता है—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः स भवेल्लोके स्वात्माप्येनं विगर्हते॥

मानवता की कसौटी

महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि में 'चरित्र' ही मानवता की कसौटी है। चारित्र से युक्त मनुष्य की खोज तथा उसका विशद वर्णन ही रामायण का मुख्य उद्देश्य है। वाल्मीकि ने महर्षि नारद से यही जिज्ञासा की है—

चारित्रेण च को युक्तः।

चारित्र ही मानव को देवता बनाता है। इस चरित्र का पूर्ण विकाश मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र में दृष्टिगोचर होता है। रामचरित्र ही आर्य-चरित्र का आदर्श है और वह मानवता की चरम अभिव्यक्ति है। राम में मानसिक विकाश की ही पूर्णता लक्षित नहीं होती, अपि तु शारीरिक सौन्दर्य का भी मञ्जुल पर्यवसान उनमें उपलब्ध होता है (द्रष्टव्य सुन्दर काण्ड, अध्याय ३५)। राम में धैर्य का चूडान्त दृष्टान्त हमें मिलता है। साधारण मनुष्य जीवन के साफल्यभूत राज्य से बहिर्भूत होने पर कितना व्यथित तथा आर्त होता, यह अनुभव से हमें भली-भाँति पता चलता है। परन्तु राम के ऊपर इस निर्मम घटना का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता है। वे महनीय हिमालय के समान अडिग तथा अडोल खड़े होकर विपत्ति के दुर्दान्त तरंगों को अपने

विशाल वक्षःस्थल के ऊपर सहते हैं, परन्तु उनके चित्त में किसी प्रकार का विकार लक्षित नहीं होता :—

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम् ।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥

—अयोध्या १९।३३

इसका कारण यह था कि उनमें समत्व बुद्धि का प्रकृष्ट विलास दृष्टिगोचर होता है । भगवद्गीता के अनुसार आदर्श मानव में जिन गुणों का सद्भाव रहता है रामचन्द्र उन समग्र गुणों की जीवन्त मूर्ति थे । विषमबुद्धि ही परिस्थिति के विपर्यय से परिताप का आश्रय बनता है, परन्तु समबुद्धि विषम विपर्यय में भी परिताप को अपने पास फटकने नहीं देता । समबुद्धि तथा समदर्शी राम परिताप करने से इसीलिए कोसों दूर हैं—

यथा मृतस्तथा जीवन् यथाऽसति तथा सति ।
यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात् परितप्येत केन सः ॥

—अयोध्या १०६।३

राम क्षात्र धर्म के साकार विग्रह हैं । भारतवर्ष का क्षत्रियत्व राम के नस-नस में व्याप्त हो रहा है । ऋषियों के विशेष आग्रह करने पर राम राक्षसों के मारने की विकट प्रतिज्ञा करते हैं । सीता क्षात्रधर्म के सेवन से बुद्धि के मलिन होने की बात सुनाकर उन्हें इस कार्य से विरत करना चाहती हैं :—

तदार्य कलुषाबुद्धिर्जायते शस्त्र-सेवनात् ।
पुनर्गत्वा , त्वयोध्यायां क्षत्रधर्मं चरिष्यसि ॥

अरण्य ९।२७

परन्तु राम इस प्रेममय उपालम्भ का तिरस्कार कर डंके की चोट क्षत्रियत्व के आदर्श को प्रकट करते हैं :—

क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्त-शब्दो भवेदिति ।

—अरण्य १०।३

क्षत्रियों के द्वारा धनुष धारण करने की यही आवश्यकता है कि पीड़ितों का शब्द ही कहीं न हो। जगत् की रक्षा का भार धनुर्धारी क्षत्रियों के ऊपर सर्वदा रहता ही है।

राम सत्य तथा प्रतिज्ञा-पालन के महनीय व्रती हैं। सत्यनिष्ठा तथा प्रतिज्ञा-निर्वाह के महनीय व्रत के कारण वे संसार में महिमा-सम्पन्न माने जाते हैं। जाबालि ने राम को अयोध्या लौट जाने तथा सिंहासन पर आसीन होने के लिए कम युक्तियों का व्यूह नहीं रचा, परन्तु राम अपने सत्य से, पिता के सामने की गई प्रतिज्ञा से, रंचक मात्र भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने बड़े आग्रह से कहा कि न तो लोभ से, न मोह से, न अज्ञान से मैं सत्य के सेतु को तोड़ूँगा। पिता के सामने प्रतिज्ञा का निर्वाह अवश्य करूँगा—

नैव लोभान्न मोहाद्वा न ह्यज्ञानात् तमोन्वितः ।
सेतुं सत्यस्य भेत्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः ॥

—अयोध्या १०९।१७

सीताजी के द्वारा बारम्बार क्षात्रधर्मानुकूल प्रतिज्ञा पालन से पराङ्मुख किये जाने पर राम का क्षत्रियत्व उबल उठता है। वे डंके की चोट पुकार उठते हैं—मैं अपने प्राणों को भी छोड़ सकता हूँ। हे सीते, लक्ष्मण के साथ तुम्हें भी छोड़ सकता हूँ, परन्तु प्रतिज्ञा कभी नहीं छोड़ सकता, विशेष- कर ब्राह्मणों के साथ की गई प्रतिज्ञा तो मेरे लिए नितान्त अपरिहार्य है—

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ॥

—अरण्य १०।१९

राजा की महिमा

वाल्मीकि आर्यधर्म के रहस्य का उद्घाटन करते हैं जब वे कहते हैं कि आर्यजीवन धर्मबन्ध से बँधा हुआ है। मानव भारतीय संस्कृति के अनुसार स्वतन्त्र प्राणी तो अवश्य है, परन्तु समग्र मानव एक दूसरे से धर्मबन्ध में बँधकर एक दूसरे के हित-चिन्तन तथा हिताचरण में संलग्न है तथा अपने निर्दिष्ट नैतिक मार्ग से एक पग भी नहीं डिगता। भरत अपने शुद्ध भावों की सफाई देते कह रहे हैं कि धर्मबन्धन के कारण ही मैं वध करने योग्य भी पापाचारिणी माता को मार नहीं डालता—

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम्।
हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम्॥

—अयोध्या १०६।८

वाल्मीकि समग्र राष्ट्र के हितचिन्तक कवि हैं। राष्ट्र का केन्द्र है राजा। भारतीय राजा पाश्चात्य राजाओं के समान प्रजा की इच्छाओं का दलन करनेवाला स्वेच्छाचारी नरपति नहीं होता प्रत्युत वह प्रजाओं का रक्षक (प्रकृतिरक्षक), उनका हितचिन्तक तथा राष्ट्र का उन्नायक होता है। इस प्रसंग में 'अराजक जनपद' की दुरवस्था का वर्णन पढ़कर वाल्मीकि की मनोवृत्ति का हम अन्दाजा लगा सकते हैं। अयोध्या काण्ड के ६७ वें सर्ग का 'नाराजके जनपदे' वाला लोकगायन भारतीय राजनीति के सिद्धान्तों का प्रकाशक एक महनीय वस्तु है। राजा राष्ट्र के धर्म तथा सत्य का उद्भव स्थल है (अयोध्या ६७।३३,३४)। इसीलिए उसके अभाव में राष्ट्र का कोई भी मंगल न सम्पन्न हो सकता है, न कोई कल्याण कल्पित हो सकता है। इस प्रसंग का प्रकाशक एक ही पद्य पर्याप्त होगा—

नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः ।
शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्ष-जीविनः ॥
—अयोध्या ६७।१९

इस प्रकार वाल्मीकि भारतीय साहित्य के हृदय के ही प्रकाशक आदि कवि नहीं है, बल्कि वे भारतीय संस्कृति के संस्कारक मनीषी हैं। कमनीय काव्य कला उनके रामायण के पद्यों में स्वत: नाचती है और भारत की भव्य संस्कृति उनके पात्रों के द्वारा अपनी मनोरम झाँकी दिखाती है। इसीलिए कविता कल्पद्रुम के कमनीय कोकिल-रूप वाल्मीकि का कूजन किसे आनन्द-विभोर नहीं बनाता ?

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकि-कोकिलम् ॥

५

महाभारत

व्यासगिरां निर्यासं सारं विश्वस्य भारतं वन्दे ।
भूषणतयैव संज्ञां यदङ्कितां भारती वहति ॥—गोवर्धनाचार्य ।

धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥ —महाभारत ।

महत्त्व

रामायण तथा महाभारत हमारे जातीय इतिहास हैं। भारतीय सभ्यता का भव्य रूप इन ग्रन्थों में जिस प्रकार से फूट निकलता है वैसा अन्यत्र नहीं। कौरवों और पाण्डवों का इतिहास वर्णन ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है, अपि तु हमारे हिन्दू-धर्म का विस्तृत एवं पूर्ण चित्रण भी प्रयोजन है। महाभारत का शान्तिपर्व जीवन की समस्याओं को सुलझाने का कार्य हजारों

वर्षों से करता आ रहा है। इसलिए इस इतिहास-ग्रन्थ को हम अपना धर्मग्रन्थ मानते आये हैं जिसका पठन-पाठन, श्रवण-मनन, सब प्रकार से हमारा कल्याणकारक है। इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक मूल्य भी कम नहीं है। सच तो यह है कि केवल इसीं ग्रन्थ के अध्ययन से हम अपनी संस्कृति के शुद्ध स्वरूप से परिचय पा सकते हैं। भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'भगवद्गीता' इसी महाभारत का एक अंश है। इसके अतिरिक्त 'विष्णुसहस्रनाम', 'अनुगीता', 'भीष्मस्तवराज', 'गजेन्द्रमोक्ष' जैसे आध्यात्मिक तथा भक्तिपूर्ण ग्रन्थ यहीं से उद्धृत किये गये हैं। इन्हीं पाँच ग्रन्थों को 'पञ्चरत्न' के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं गुणों के कारण महाभारत 'पञ्चम वेद' के नाम से विख्यात है। वाल्मीकि के समान व्यास जी भी संस्कृत के कवियों के लिये उपजीव्य हैं। महाभारत के उपाख्यानों का अवलम्बन कर ही कालान्तर में हमारे कवियों ने काव्य नाटक, गद्य, पद्य, चम्पू, कथा, आख्यायिका नानाप्रकार के साहित्य की सृष्टि की है। इतना ही क्यों? जावा सुमात्रा के साहित्य में भी महाभारत विद्यमान है। वहाँ के लोग भी महाभारत के कथानक से उसी प्रकार शिक्षा ग्रहण करते हैं तथा पाण्डव-चरित के अभिनय से उसी प्रकार अपना मनोरञ्जन करते हैं जिस प्रकार यहाँ के लोग। महाभारत इतना विशाल है कि व्यास जी का यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है—'इस ग्रन्थ में भी कुछ है वह अन्यत्र है, परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।' प्राचीन राजनीति जानने के लिये हमें इसी ग्रन्थ की शरण लेनी पड़ती है। विदुरनीति जिसमें आचार तथा लोक-व्यवहार के नियमों का सुन्दर निरूपण है महाभारत का ही एक अंश है। इस प्रकार ऐतिहासिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि अनेक दृष्टियों से महाभारत एक गौरवपूर्ण ग्रन्थ है।

रचयिता

महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास का सम्बन्ध महाभारत के पात्रों के साथ बहुत ही घनिष्ठ है। उनकी माता का नाम सत्यवती था जो चेदिराज वसु उपरिचर के वीर्य से यमुना के किसी द्वीप में उत्पन्न हुई थी। मल्लाहों के राजा दाशराज के द्वारा जन्मकाल से ही उनकी रक्षा तथा पोषण हुआ था। यमुना के किसी द्वीप में जन्म के कारण व्यास जी 'द्वैपायन' कहलाते थे, शरीर के रंग के कारण 'कृष्णमुनि' तथा एक वेद के यज्ञीय उपयोग के लिए चार संहिताओं में विभाग करने के कारण 'वेदव्यास' के नाम से विख्यात थे। वे धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर के जन्मदाता ही न थे, प्रत्युत पाण्डवों को विपत्ति के समय छाया के समान अनुगमन करने वाले थे तथा अपने उपदेशों से उन्हें धैर्य, ढाढस तथा न्यायपथ पर आरूढ़ रहने की शिक्षा दिया करते थे। कौरवों को युद्ध से विरत करने के लिए इन्होंने कोई भी प्रयत्न उठा नहीं रखा, परन्तु विषय-भोग के पुतले इन कौरवों ने इनके उपदेशों को लात मारकर अपनी करनी का फल खूब ही पाया। इनसे बढ़कर भारतीय युद्ध के वर्णन करने का अधिकारी कोई भी विद्वान् न था। इन्होंने तीन वर्षों तक सन्तत परिश्रम से—सदा उत्थान से—इस अनुपम ग्रन्थ की रचना की:—

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् ॥

(आदिपर्व–५६।३२)

ऐसे महनीय ग्रन्थ की तीन वर्षों के भीतर रचना का कार्य ग्रन्थकार की अनुपम काव्यप्रतिभा तथा अदम्य उत्साह का पर्याप्त सूचक है।

आजकल महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं इसलिए इसे 'शतसाहस्री संहिता' कहते हैं। इसका यह स्वरूप कम से कम डेढ़ हजार वर्ष से अवश्य है क्योंकि गुप्तकालीन शिलालेख में यह 'शत

साहस्री संहिता' के नाम से उल्लिखित हुआ है।

विकास विद्वानों का कहना है कि महाभारत का वह रूप अनेक शताब्दियों में विकसित हुआ है। बहुत प्राचीन काल से अनेक गाथाएँ तथा आख्यान इस देश में प्रचलित थे जिनमें कौरवों तथा पाण्डवों की वीरता का वर्णन किया गया था। अथर्ववेद में परीक्षित का आख्यान उपलब्ध होता है। अन्य वैदिक ग्रन्थों में यत्रतत्र महाभारत के वीर पुरुषों की बातें उल्लिखित मिलती हैं। इन्हीं सब गाथाओं तथा आख्यानों को एकत्र कर महर्षि वेदव्यास ने साहित्य का रूप दिया और वही आजकल का सुप्रसिद्ध महाभारत है। इसके विकास के तीन क्रमिक स्वरूप माने जाते हैं—(१) जय, (२) भारत, (३) महाभारत। इस ग्रन्थ का मौलिक रूप 'जय' नाम से प्रसिद्ध था। ग्रन्थ के आरम्भ में नारायण[1], नर, सरस्वती देवी को नमस्कार कर जिस 'जय' नामक ग्रन्थ के पठन का विधान है वह 'महाभारत' का मूल प्रतीत होता है। वहीं स्वयं लिखा हुआ है कि इसका प्राचीन नाम जय था[2]। पाण्डवों के विजय वर्णन के कारण ही इस ग्रन्थ का ऐसा नामकरण किया गया प्रतीत होता है।

(२) भारत—दूसरी अवस्था में इसका नाम 'भारत' पड़ा। इसमें उपाख्यानों का समावेश नहीं था। केवल युद्ध का विस्तृत वर्णन ही प्रधान विषय था। इसी भारत को वैशम्पायन ने पढ़कर जनमेजय को सुनाया था[3]।

---

[1] नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥
महाभारत—मंगल-श्लोक।

[2] 'जय' नामेतिहासोऽयम्।

[3] चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावत् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥ महाभारत।

(३) महाभारत—विक्रम से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व विरचित आश्वलायन गृह्यसूत्र में 'भारत' के साथ 'महाभारत' का नाम निर्दिष्ट है। अतः यह रूप भी दो हजार वर्ष से पुराना ही प्रतीत होता है। भारत के वर्तमान रूप में परिबृंहण का कार्य उपाख्यानों के जोड़ने से ही निष्पन्न हुआ है। इन उपाख्यानों में कुछ तो प्राचीन ऋषि तथा राजाओं के जीवन से सम्बद्ध होने के कारण घटना-प्रधान हैं, कतिपय ऐतिहासिक होने से प्राचीन इतिहास की अमूल्य निधि हैं, कतिपय तत्कालीन लोककथा के ही साहित्यिक संस्करण हैं और इस दृष्टि से इनकी तुलना जातकों के साथ की जा सकती है। अध्यात्म, धर्म तथा नीति की विशद विवेचना ने इस महाभारत को भारतीय धर्म तथा संस्कृति का विशाल 'विश्वकोष' बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है। डाक्टर सुकथनकर का प्रमाणपुष्ट मत[1] है कि भृगुवंशी ब्राह्मणों के द्वारा किये गये सम्पादनों का ही फल है महाभारत का वर्तमान वृद्धिंगत रूप। कुलपति शौनक स्वयं भार्गव थे, उनकी पहिली जिज्ञासा भार्गव-वंश की कथा सुनने की थी—

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्।

महाभारत के नाना उपाख्यानों का सम्बन्ध स्पष्टरूप से भार्गवों के साथ है। और्व (आदि), कार्तवीर्य (वन), अम्बोपाख्यान (उद्योग) विपुला (शान्ति), उत्तंक (अश्व०) इन समग्र विख्यात आख्यानों का सीधा सम्बन्ध भार्गवों के साथ है। आदि पर्व के प्रथम ५३ अध्याय (पौलोम तथा पौष्यपर्व) भार्गववंशीय कथा से अपना सम्बन्ध रखते हैं। आजकल महाभारत की 'शतसाहस्री संहिता' के नाम से प्रख्याति का कारण इसके एक लक्ष परिमित

---

[1] भंडारकर रिसर्च इन्सीट्यूट की पत्रिका भाग १८, पृ० १,७६ तथा नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ४५, पृ० २०५—२६२।

श्लोकों की संख्या ही है। यह संख्या अठारहों पर्वों के श्लोकों के साथ हरिवंश के श्लोकों को मिलाने से ही सिद्ध होती है। इसी लिए 'हरिवंश' महाभारत का परिशिष्ट माना जाता है। इस ग्रन्थ के दो प्रधान पाठ-सम्प्रदाय हैं; एक उत्तर भारत का, दूसरा दक्षिण भारत का। दोनों की श्लोक संख्या, अध्यायों के क्रम, आख्यानों का सन्निवेश—आदि विषयों में महान् अन्तर है। मूल महाभारत की खोज बहुत दिनों से हो रही है। आजकल भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीचयूट पूना से एक संस्करण निकल रहा है जिसमें इस ग्रन्थ के विशुद्ध रूप को निश्चित करने का उद्योग है।

इस महाभारत की रचना काल का निर्णय निम्नलिखित प्रमाणों से किया जा सकता है:—

रचना-काल

४४५ ई० (५०२ वि०) के एक शिलालेख में महाभारत का निर्देश इस प्रकार है—'शतसाहस्र्यां संहितायां वेदव्यासेनोक्तम्'। इससे प्रतीत होता है कि इससे कम से कम २०० वर्ष पहले इसका अस्तित्व अवश्य होगा। कनिष्क के सभापण्डित अश्वघोष ने 'वज्रसूची' उपनिषद् में हरिवंश के श्लोक तथा स्वयं महाभारत के भी कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं[1]। अश्वघोष का समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी है। अतः उस समय यह ग्रन्थ हरिवंश के साथ लक्षश्लोकात्मक था, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।४।४) में 'भारत' तथा 'महाभारत' का पृथक् पृथक् उल्लेख किया गया है[2]। बौधायन के गृह्यसूत्र में 'विष्णु सहस्रनाम' का स्पष्ठ उल्लेख है तथा भगवद्गीता का एक श्लोक

---

[1] सप्त व्याध्या दशार्णेषु मृगाः कालञ्जरे गिरौ।

[2] सुमन्तुजैमिनिवैशम्पायनपैल-सूत्रभाष्यभारतमहाभारतधर्माचार्याः।
—आश्वलायन गृह्य०, अध्याय ३ खण्ड ४।

प्रमाण रूप से उद्धृत किया गया है[1]। इन दोनों ग्रन्थकारों की स्थिति ईस्वी के लगभग चार सौ वर्ष पहले मानी जाती है। ये दोनों ग्रन्थकार महाभारत के विस्तृत रूप से परिचित हैं। गीता को भगवान् के वचन रूप से जानते हैं। ययाति के उपाख्यान का निर्देश करते हैं। अतः स्पष्ट है कि मूल महाभारत की रचना इससे (४०० ई० पू०) कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व अवश्य हुई होगी। महाभारत बुद्ध के पहले की रचना है; परन्तु वर्तमान रूप उसे बुद्ध के पीछे प्राप्त हुआ, यही मानना न्याय-संगत है।

विषय

महाभारत के खण्डों को पर्व कहते हैं। ये संख्या में अठारह हैं (१) आदि (२) सभा (३) वन (४) विराट् (५) उद्योग (६) भीष्म (७) द्रोण (८) कर्ण (९) शल्य (१०) सौप्तिक (११) स्त्री (१२) शान्ति (१३) अनुशासन (१४) अश्वमेध (१५) आश्रमवासी (१६) मौसल (१७) महाप्रस्थानिक (१८) स्वर्गारोहण। आदि पर्व में चन्द्रवंश का विस्तृत इतिहास तथा कौरव पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन है। सभा पर्व में है द्यूतक्रीड़ा, वन पर्व में पाण्डवों का वनवास, विराट् पर्व में पाण्डवों का अज्ञातवास, उद्योग पर्व में श्रीकृष्ण का दूत बन कर कौरवों की सभा में जाना तथा शान्ति का उद्योग करना, भीष्म पर्व में अर्जुन को गीता का उपदेश, युद्ध का आरम्भ, भीष्म का युद्ध और शरशय्या पर पड़ना; द्रोण पर्व में अभिमन्यु-वध, द्रोणाचार्य का युद्ध और वध; कर्ण पर्व में कर्ण का युद्ध और वध, शल्य पर्व में शल्य की अध्यक्षता में लड़ाई और अन्त में वध, सौप्तिक पर्व में वन में पाण्डवों के

---

[1] देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यात् मनसा वार्चयेत् इति तदाह भगवान्—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(गीता ९।२६)

सोये हुए पुत्रों का रात में अश्वत्थामा द्वारा वध, स्त्री पर्व में स्त्रियों का विलाप ; शान्ति पर्व में भीष्मपितामह का युधिष्ठिर को मोक्ष धर्म का उपदेश, अनुशासन पर्व में धर्म तथा नीति की कथाएँ, अश्वमेध में युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ करना, आश्रमवासी पर्व में धृतराष्ट्र गन्धारी आदि का वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना, मौसल पर्व में यादवों का मूसल के द्वारा नाश, महाप्रस्थानिक पर्व में पाण्डवों की हिमालय-यात्रा तथा स्वर्गारोहण पर्व में पाण्डवों का स्वर्ग में जाना वर्णित है।

इनके अतिरिक्त महाभारत में अनेक रोचक तथा शिक्षाप्रद उपाख्यान भी हैं जिनमें निम्नलिखित आख्यान विशेष प्रसिद्ध हैं—

उपाख्यान

(१) शकुन्तलोपाख्यान—यह उपाख्यान महाभारत के आदिपर्व में है जिसमें दुष्यन्त और शकुन्तला की मनोहर कथा है। महाकवि कालिदास के 'शाकुन्तल' नाटक का आधार यही आख्यान है।

(२) मत्स्योपाख्यान—यह वनपर्व में है। इसमें मत्स्यावतार की कथा है जिसमें प्रलय उपस्थित होने पर मत्स्य के द्वारा मनु के बचाये जाने का विवरण है। यह कथा 'शतपथ' ब्राह्मण में भी उपलब्ध होती है तथा भारत से भिन्न देशों के इतिहास में भी इसका उल्लेख मिलता है।

(३) रामोपाख्यान—यह भी कथा वनपर्व में है। वाल्मीकीय रामायण की कथा का यह संक्षेपमात्र है। वाल्मीकि ने बालकाण्ड में गंगावतरण की जो कथा लिखी है, वह भी यहाँ उपलब्ध होती है। इससे स्पष्ट है कि वाल्मीकीय रामायण महाभारत से पहले लिखा गया।

(४) शिवि उपाख्यान—यह सुप्रसिद्ध कथानक वनपर्व में ही है जिसमें उशीनर के राजा शिवि ने अपना प्राण देकर शरण में आये हुए कपोत की रक्षा बाज से की थी। यह कथा जातकों में भी आती है।

(५) सावित्री उपाख्यान—भारतीय ललनाओं के लिए आदर्श-रूप सावित्री की कथा वनपर्व में मिलती है। महाराज द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान् तथा सावित्री का उपाख्यान पातिव्रत धर्म की पराकाष्ठा है। ऐसी सुन्दर कथा शायद ही किसी अन्य साहित्य में प्राप्त हो।

(६) नलोपाख्यान—राजा नल और दमयन्ती की कमनीय कथा इसी पर्व में मिलती है। श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' महाकाव्य का यही आधार है।

हरिवंश महाभारत का ही अंश समझा जाता है। इसमें सोलह हजार श्लोक हैं जिसमें यादवों की कथा बड़े विस्तार के साथ दी गई है। इसमें तीन पर्व हैं—(१) हरिवंशपर्व—जिसमें श्रीकृष्ण के पूर्वजों का वर्णन है (२) विष्णुपर्व—जिसमें श्रीकृष्ण की लीला का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है (३) भविष्यपर्व—जिसमें कलियुग के प्रभाव का कथन है।

समीक्षण

विवेचन

संस्कृत साहित्य में आदिकवि वाल्मीकि के अनन्तर महर्षि व्यास ही सर्वश्रेष्ठ कवि हुए। इनके लिखित काव्य 'आर्य काव्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं। पिछली शताब्दियों में संस्कृत साहित्य की जो उन्नति हुई, जिन काव्य-नाटकों की रचना की गई उसमें इन दो ग्रन्थों का प्रभाव मुख्य है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में इन कवियों की ओर बड़े आदर के शब्दों में संकेत किया है। व्यास की प्रतिभा की परिचायक यही घटना है कि युद्धों के वर्णन में कहीं भी पुनरुक्ति नहीं दीख पड़ती। व्यास जी का अभिप्राय महाभारत लिखकर केवल युद्धों का वर्णन नहीं है, अपि तु इस भौतिक जीवन की निःसारता दिखला कर प्राणियों को मोक्ष के लिये उत्सुक बनाना है। इसीलिये महाभारत का मुख्य रस शान्त

है[1]। वीर तो अङ्गीभूत है। इसमें प्राकृतिक वर्णन नितान्त अनूठे तथा नवीनता-पूर्ण हैं। व्यास जी की यह कृति महाकाव्य न होकर इतिहास कही जाती है क्योंकि वह हमारे आदरणीय वीरों की पुण्यमयी गाथा है। यह वह धार्मिक ग्रन्थ है जिससे प्रत्येक श्रेणी का मनुष्य अपने जीवन के सुधार की सामग्री प्राप्त कर सकता है। राजनीति का तो यह सर्वस्व ही है। राजा और प्रजा के पृथक् पृथक् कर्तव्यों तथा अधिकारों का समुचित वर्णन इसकी महती विशेषता है। वाल्मीकि के साथ-साथ व्यास से भी हमारे कवियों को काव्यसृष्टि के लिये प्रेरणा तथा स्फूर्ति मिलती आई है और आगे भी मिलेगी। भगवद्गीता की महत्ता का प्रदर्शन करना अनावश्यक है। कर्म, ज्ञान और भक्ति का जैसा मञ्जुल समन्वय गीता में किया गया है वैसा अन्यत्र अप्राप्य है। व्यास जी का कथन है कि इस आख्यान को बिना जाने हुए जो पुरुष अङ्ग तथा उपनिषदों को भले जाने, वह कभी विचक्षण नहीं कहा जा सकता[2], क्योंकि यह महाभारत एक साथ ही अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा कामशास्त्र है[3]। जिसने इस आख्यान का रसमग्न श्रवण किया है उसे अन्य कथानकों में किसी प्रकार का रस नहीं मिलता, ठीक उसी प्रकार, जैसे

---

[1] महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यरूपाच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसान—वैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्य-जननं तात्पर्यं प्रधान्येन प्रबन्धस्य दर्शयता मोक्ष लक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया सूचितः। ध्वन्यालोक ४ उद्योत।

[2] यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥ ८२॥

[3] अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥ ८३॥
महा॰ आदि॰ अ॰ २

कोकिल की मधुर कूक के आगे कौए की बोली नितान्त रूखी प्रतीत होती है[1]। महाभारत की प्रशंसा में व्यास ने स्वयं इसे समस्त कविजनों के लिए उपजीव्य बतलाया है। इस ग्रन्थ के अभ्यास से कवियों की बुद्धि में स्फूर्ति उत्पन्न होती है। व्यास जी का यह कथन अक्षरशः सत्य है। बाद के कविजनों ने सचमुच महाभारत से बहुत कुछ लिया है :—

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कवि-बुद्धयः।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः ॥

× × ×

इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥

महाभारत के पात्रों में एक विचित्र सजीवता भरी हुई है। सब अपने अपने ढंग से निराले पात्र हैं। परन्तु धर्मराज में जो धार्मिकता दिखाई पड़ती है वह एक अद्भुत वस्तु है। महाभारत सदा से धर्मशास्त्र के रूप में ही गृहीत होता आया है और वस्तुतः वह है भी धर्म का ही प्रतिपादक ग्रन्थ। व्यास ने अपना सन्देश मनुष्यों के लिए इस सुन्दर श्लोक में निबद्ध कर दिया है[2]। यदि मनुष्य सच्चा सुख का अभिलाषी है तो उसका परम कर्तव्य धर्म का सेवन है।

---

[1] श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते।
पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्वाङ्क्षस्य वागिव ॥ ८४ ॥
—महाभारत आदिपर्व, अध्याय २

[2] ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चित् शृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स किमर्थं न सेव्यते ॥
—महाभारत।

महाभारत का वैशिष्ट्य

महर्षि वेदव्यास ने भारतीय अर्थनीति, राजनीति तथा अध्यात्म शास्त्र के सिद्धान्तों का सारांश इतनी सुन्दरता से इस ग्रन्थरत्न में प्रस्तुत किया है कि यह वास्तव में भारत के धर्म तथा तत्त्वज्ञान का विश्वकोष है। धर्म ही भारतीय संस्कृति का प्राण है और इसीलिए व्यासजी ने अधर्म से देश का नाश तथा धर्म से राष्ट्र के अभ्युत्थान की बात बड़े ही सुन्दर आख्यानों के द्वारा हमें सिखलाई है। 'भारत सावित्री' में (जो महाभारत की भव्य शिक्षा का सार-संकलन माना जाता है) व्यास की स्पष्ट उक्ति है कि धर्म का परित्याग किसी भी दशा में भय से या लोभ से कभी न करना चाहिए। धर्म शाश्वत है, चिरस्थायी है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्,
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुख-दुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

व्यास कर्मवादी आचार्य हैं। कर्म ही मनुष्य का पक्का लक्षण है, कर्म से पराङ्मुख मानव मानव की पदवी से सदा वंचित रहता है।

प्रकाश-लक्षणा देवा मनुष्याः कर्म-लक्षणाः।
(अश्वमेध ४३।२०)

इसीलिए यह भव्य भारतभूमि कर्मभूमि है। फल भोगने का स्थान तो स्वर्ग है जो इस भूमि के छोड़ने के अनन्तर प्राप्त होता है। इस विशाल ब्रह्माण्ड में मनुष्य ही सबसे श्रेष्ठ वस्तु है जिसके कल्याण के लिए पदार्थों की सृष्टि होती है तथा समाज की व्यवस्था की जाती है। आज के समाज-शास्त्रियों का यह सिद्धान्त कि मनुष्य ही इस विश्व का केन्द्र है व्यास के इस कथन पर आश्रित है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि।
नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ॥
(शान्ति १८०।१२)

मानवता का उन्नायक तत्त्व पुरुषार्थ ही है। व्यास के शब्दों में यह सिद्धान्त 'पाणिवाद' के नाम से विख्यात है। जगत् में जिन लोगों के पास 'हाथ' है—जो कर्म में दक्ष तथा उत्साही हैं—उनके सब अर्थ सिद्ध होते हैं। संसार में पाणिलाभ से बढ़कर लाभ ही कोई दूसरा नहीं है। मानव जीवन की कृतकार्यता हाथ रखने तथा हस्त-संचालन में ही तो है। हाथ रहते भी हाथ पर हाथ रखकर जीवन बिताना पशुत्व का व्यञ्जक चिह्न है। इस में मानव की सिद्धार्थता नहीं है—

अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः।
अतीव स्पृहये. तेषां येषां सन्तीह पाणयः।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते ॥
शान्ति १८०।११,१२

राष्ट्रभावना

व्यासजी की राष्ट्रभावना बड़ी ही उदात्त, विशुद्ध तथा ओजस्विनी है। राष्ट्र का केन्द्र होता है राजा। भारतीय राजा प्रजातन्त्र युग के अधिनायकों के दुर्गुणों से सर्वथा मुक्त होता है तथा स्वेच्छाचारी राजाओं के दोषों से भी विहीन होता है। वह होता है प्रजा का सर्वभावेन हितचिन्तक तथा मंगलसाधक। भारतीय धर्म ही राजमूलक होता है अर्थात् धर्म की व्यवस्था तथा संचालन का उत्तरदायित्व राजा के ही ऊपर एकमात्र आश्रित रहता है। यदि राजा प्रजा का पालन नहीं करे, तो प्रजा ही एक दूसरे को न खा डालेगी, प्रत्युत वेदत्रयी का भी अस्तित्व लोप हो जावेगा और विश्व को धारण करनेवाला धर्म ही रसा-

तल में डूब जावेगा[1]। राजधर्म के बिगड़ने पर समाज तथा राष्ट्र का सर्वनाश हो जाता है। राजनीतिक नेता के लिए महाभारत एक विलक्षण आदर्श उपस्थित करता है जो आज भी उतने ही सुन्दर रूप से अनुकरणीय है तथा ग्राह्य है। भारत कृषि-प्रधान राष्ट्र है। अतः व्यासजी का आग्रह है जो नेता स्वयं अपने हाथों कृषि नहीं करता, खेत नहीं जोतता बोता, उसे नेता बनाकर राष्ट्र की समिति में जाने का अधिकार नहीं होता।

न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् कृषिम् ॥
(उद्योग ३६।३१)

ठीक ही है, किसानों के नेता किसान ही हो सकता है। कृषि से अनभिज्ञ कुर्सीतोड़ बकवादी नेता किसानों का कौन-सा मंगल कर सकता है ?

अध्यात्मतत्त्व

व्यासजी अध्यात्म शास्त्र की सूक्ष्म बारीकियों में न पड़कर हमें सुखद तथा नियमित जीवन बिताने की शिक्षा पर आग्रह करते हैं। मानव का आध्यात्मिक कल्याण इन्द्रिय निग्रह से ही होता है[2]। मनुष्य इन्द्रियों का दास बनकर पशुभाव को प्राप्त होता है और इन्द्रियों का स्वामी बनकर अपने जीवन को सफल बनाने में समर्थ होता है। एक स्थान पर व्यास की यह सारगर्भित उक्ति है कि वेद का उपनिषत्

---

[1] राजमूलो महाप्राज्ञ ! धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम्।
मज्जेद् धर्मः त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत् ॥
(शान्ति ६८ अ०)

[2] आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रिय-निग्रहात्। उद्योग ६९।१७

अर्थात् रहस्य है—सत्य। सत्य का भी उपनिषत् है—दम और इसी दम—इन्द्रिय दमन का रहस्य है मोक्ष। समग्र अध्यात्म शास्त्र का यही निचोड़ है—

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषन् मोक्षः एतत् सर्वानुशासनम्॥
शान्ति २९९।१३

'करनी बड़ी है कथनी से'—व्यासजी यही मान्य शिक्षा है मानवों के लिए। महाभारत में किसी बोध्य ऋषि के द्वारा कही गई यह प्राचीन गाथा इसी तथ्य पर जोर देती है—

उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कञ्चन।
(शान्ति १७८।६)

भारतीय संस्कृति आर्जव—ऋजुभाव—सीधे स्पष्ट कथन तथा आचरण को ही मानव जीवन में नितान्त महत्त्व देती है। वह जिह्म मार्ग—टेढ़ा रास्ता—मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् को मृत्यु का रूप बतलाती है तथा प्राणियों को उसके मानने से सदा दूर भागने का उपदेश देती है—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति॥
(आश्व० ११।४)

काल के चक्र से कोई बच नहीं सकता। पाण्डवों की विषम तथा समृद्ध दशाओं के आलोचक की दृष्टि में काल की महिमा अपरिमेय है। काल ही कभी बलवान् बनता है और कभी दुर्बल। वही जगत् को अपनी इच्छा से ग्रसता है। इसी चक्र के भीतर यह समग्र विश्व अपनी सत्ता धारण किये हुए है। यह देव-निर्मित मार्ग है जिसे लाख चेष्टा करने पर भी कोई पलट नहीं सकता। मानव जीवन का

श्रेयस्कर मार्ग है धर्म का आश्रय लेकर आत्मविजय करना। व्यासजी ने आत्म-साक्षात्कार के लिए बड़ी सुन्दर उपमा दी है। जिस प्रकार मूँज से सींक को अलग किया जाता है, उसी प्रकार पञ्चकोशों में अन्तर्निहित चैतन्यरूप आत्मा को भी साधक पृथक् कर साक्षात्कार करता है। आनन्दवर्धन की तो यह स्पष्ट सम्मति है कि महाभारत का मुख्य रस शान्त रस है। नाना विकट प्रपंचों में न लिप्त होकर मानव आत्मस्वरूप का परिचय पाकर मोक्ष का सम्पादन करे, महाभारत की यही अमूल्य शिक्षा है।

६

तुलना

स्वरूपतः तुलना

रामायण और महाभारत की तुलना करने से अनेक आवश्यक तथ्यों का पता चलता है। मुख्य तुलना दो विषयों में की जा सकती है। प्रथम तो उनके वर्णनीय विषय को लेकर और दूसरा उनके रचना काल को लेकर। रामायण आदिकाव्य माना जाता है, और महाभारत इतिहास गिना जाता है। इस साम्प्रदायिक भेद का यह अभिप्राय है कि रामायण में काव्यगत चमत्कार महत्त्व की वस्तु है। महाभारत में प्राचीनकाल के अनेक प्रसिद्ध राजाओं के इतिवृत्त का वर्णन करना ही ग्रंथकार का उद्देश्य है। इसीलिए रामायण में राम रावण युद्ध की घटना ही सर्वतोभावेन मुख्य है। अन्य छोटे मोटे कथानक भी हैं, परन्तु वे प्रधान वृत्त को पुष्ट करने के लिए ही रचित हैं। उधर महाभारत में प्रधान घटना कौरवों तथा पाण्डवों का युद्ध है, पर इसके साथ साथ प्राचीन काल की अनेक कथायें अवान्तर रूप से दी हुई हैं जो मुख्य घटना से कम महत्त्व नहीं रखतीं।

दोनों का भौगोलिक विस्तार भिन्न भिन्न है। रामायण में जिस भारतवर्ष की चर्चा है उसकी दक्षिणी सीमा विन्ध्य और दण्डक है, पूर्वी सीमा विदेह है तथा पश्चिमी सीमा सुराष्ट्र है। परन्तु महाभारत के समय आर्य्यावर्त का विशेष विस्तार दीख पड़ता है। पूर्वी सीमा गङ्गा-सागर का सङ्गम है, दक्षिण में चोल तथा मालावार प्रान्तों की सत्ता है। इतना ही नहीं, लङ्का के भी अधिपति उपहार लेकर युधिष्ठिर के राजसूय में उपस्थित होते हैं।

दोनों के स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर है। रामायण में एक ही कवि की कोमल लेखनी ने अपना चमत्कार दिखलाया है। कविता में समरसता है, शब्द और अर्थ का मञ्जुल समाञ्जस्य है जिससे यह स्पष्ट है कि इसके रचना का श्रेय किसी एक ही व्यक्ति को है। परन्तु महाभारत के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह तो अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयासों का फल है। धीरे-धीरे अपने अल्पकलेवर से बढ़ता हुआ वह लक्षश्लोक विशालकाय ग्रन्थ के रूप में आ गया है। रामायण के लेखक की चर्चा कहीं नहीं है, प्रत्युत लव तथा कुश के उसके गाये जाने की बात से हम परिचित हैं[1]। परन्तु महाभारत लिपिबद्ध किया गया ग्रन्थरत्न है, जिसके प्रथम लिपिबद्ध करने का श्रेय स्वयं गणेशजी को प्राप्त है। व्यासजी बोलते जाते थे और गणेशजी उसे लिखते जाते थे।

रामायण और महाभारत में किसकी रचना पहले हुई? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। गत शताब्दी के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने पहले पहल यह कहना प्रारम्भ किया था कि रामायण की अपेक्षा

---

[1] ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे।
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुस्तौ समाहितौ ॥ १३ ॥

—बालकाण्ड, ४ सर्ग

रचना-काल की तुलना

महाभारत की रचना पहले हुई थी। रामायण में सुन्दर पदविन्यास तथा सुबोध रचना को वे अर्वाचीनता का परिचायक मानते थे। भारत के भी कतिपय विद्वानों ने भी इसी मत की घोषणा की, परन्तु भारतीय की परम्परा उक्त मत के अत्यन्त विरुद्ध है। वाल्मीकि आदि कवि हैं और महाभारत के रचियता व्यास उनके पश्चाद्वर्ती द्वितीय कवि हैं। युग के हिसाब से भी अन्तर पड़ता है। वाल्मीकि त्रेता युग में होने वाले रामचन्द्र के समकालिक हैं और व्यास द्वापर युग में उत्पन्न होने वाले पाण्डवों के समसामयिक हैं। इतना ही नहीं, दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट पता चलता है कि कालक्रम में वाल्मीकि-रामायण महाभारत से पहले की रचना है। इसके पोषक प्रमाण मुख्यः नीचे दिये जाते हैं—

(१) महाभारतके पात्रों के चरित में तथा घटनाओंमें व्यावहारिकता का पुट है। जुआ खेलना, खेल में हार जाना, राज्य का न मिलना और उसके लिये युद्ध करना आदि घटनायें व्यवहार तथा विश्वास के क्षेत्र से बाहर नहीं हैं। पर रामायण में ऐसी घटनाएँ हैं जिन पर साधारण मनुष्य अपना विश्वास नहीं जमाता। सन्तान के लिये पुत्रेष्टि याग करना, रीछ और वानरों की सहायता से लड़ना, समुद्र के ऊपर पत्थर का विराट पुल बाँधना, रावण का दस सिर होना आदि घटनाएँ मानव संस्कृति की उस प्राथमिक दशा की ओर संकेत करती हैं जब आश्चर्यजनक घटनाओं में विश्वास करना कोई अस्वाभाविक बात न थी।

(२) रामायण में आर्य सभ्यता अपने विशुद्धरूप में चित्रित की गई है। उसमें म्लेच्छों का, जो सम्भवतः भिन्न धर्म तथा संस्कृति के अनुयायी थे, तनिक भी सम्पर्क नहीं दीख पड़ता। परन्तु महाभारत में म्लेच्छों का सम्पर्क पर्याप्त रूप से विद्यमान है। दुर्योधन की आज्ञा से जिस पुरोचन नामक मन्त्री ने लाख (लाक्षा) का घर बनाया था

वह म्लेच्छ ही था। महाभारत के युद्ध में दोनों ओर से लड़ने वाले अनेक म्लेच्छ राजाओं के भी नाम मिलते हैं। इतना ही नहीं, विद्वान् लोग म्लेच्छों की भाषा से भी परिचित थे। विदुर ने इसी म्लेच्छ भाषा में युधिष्ठिर को लाख के घर की घटना की सूचना पहले ही सभा में दे रखी थी। उक्त भाषा का प्रयोग इसीलिये किया गया कि अन्य सभासद इस को समझ न सकें।[1]

(३) भौगोलिक दृष्टि से विचार करने पर भी महाभारत पीछे लिखा गया मालूम होता है। रामायण की रचना के समय में दक्षिण भारत में अनार्य जंगली जातियों का ही निवास था। आर्यों की सभ्यता विन्ध्य पर्वत तक ही सीमित थी। परन्तु महाभारत के समय में दक्षिण भारत राजनीतिक दृष्टि से व्यवस्थित, सुशासित तथा सभ्य दीख पड़ता है। भीष्मपर्व में दक्षिण भारत के राजाओं के प्रतिनिधि राजसूय यज्ञ में उपहार लेकर उपस्थित होते हैं। दक्षिण भारत का यह राजनीतिक परिवर्तन सूचित करता है महाभारत की रचना पीछे हुई।

(४) महाभारत युद्ध में युद्धकला की विशेष उन्नति दिखाई पड़ती है। द्रौपदी के स्वयम्बर में सीता-स्वयम्बर के समान केवल एक धनुष को तोड़ देना ही वीरत्व का मापदण्ड नहीं है, प्रत्युत एक विशिष्ट प्रकार से लक्ष्य-भेद करना वीरता की कसौटी है। लंकायुद्ध में योद्धागण परस्पर केवल पत्थरों और वृक्षों से प्रहार करते हैं, परन्तु महाभारत युद्ध में

---

[1] इस भाषा का उल्लेख निम्नलिखित श्लोक में किया गया है—जिसके अर्थ को समझने के लिये नीलकण्ठ की टीका देखनी आवश्यक है:—

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत् ॥१४५॥

आदिपर्व, अ० २०

सैनिक लोग विशिष्ट सेनापति की देख रेख में लड़ते हैं। व्यूह की रचना इस युद्ध की महती विशेषता है जिसमें अल्पसंख्यक सैनिक बहुसंख्यक सेना के आक्रमण को रोकने में असमर्थ होते हैं। युद्धकला का यह महाभारत-कालीन विकास इस बात को प्रमाणित कर रहा है कि महाभारत बाद की रचना है।

(५) दोनों की सामाजिक दशा में विशेष अंतर है। रामायण का समाज आदर्शवाद पर प्रतिष्ठित है। पिता कुटुम्ब का नेता तथा पोषक है। राम आदर्श पुत्र है, भरत भ्रातृत्व के गुणों के आगार हैं, सुग्रीव मित्रता की कसौटी हैं। उधर महाभारत की सामाजिक दशा में आदर्शवाद के लिए स्थान नहीं हैं। भरत के समान भीम अपने पितृतुल्य जेठे भाई के आदेश का पालन करना अपना कर्तव्य नहीं मानते। यदि धर्मराज संधि करने के इच्छुक हैं, तो वे उनका घोर विरोध करने पर तुले हैं। विजय की सिद्धि के लिए चोरी करना या असत्य भाषण किसी प्रकार का पाप नहीं माना जाता था।

(६) रामायण में नैतिक भावना अपने ऊँचे आदर्श पर प्रतिष्ठित है, परंतु महाभारत में यह भावना ह्रास को पाकर नीचे खिसकने लगी है। मैथिली तथा द्रौपदी के चरित्र की तुलना इसे स्पष्ट करती है। सुंदरकाण्ड में हनुमान् सीता को अपनी पीठ पर बैठाकर राम के पास ले चलने का प्रस्ताव करते हैं, परन्तु सीता पर-पुरुष के शरीर का स्पर्श नहीं कर सकती है। अतः वह इसे तिरस्कार कर देती है। रावण वध के अनन्तर सीता कठिन अग्निपरीक्षा में तप्त होकर अपने पावन चरित्र को सिद्ध करती हैं। महाभारत की द्रौपदी काम्यक वन में जयद्रथ के द्वारा हरण की जाती है परन्तु उसका पुनर्ग्रहण बिना किसी रोक टोक के धीरे से कर लिया जाता है।

(७) रामायण में महाभारत की घटनाओं तथा पात्रों का उल्लेख तक नहीं है, परन्तु महाभारत रामायण की कथा तथा पात्रों से पूरी तरह

परिचित है। वनपर्व के तीर्थ-यात्रा प्रसंग में शृङ्गवेरपुर[1] (प्रयाग जिले का सिंगरामऊ) तथा गोप्रतार[2] (फैजाबाद में सरयू का गुप्तार घाट) तीर्थ में गिने गये हैं, क्योंकि पहले स्थान पर राम ने गंगा पार किया और दूसरे पर वे अपनी प्रजाओं के साथ भूलोक से स्वर्ग में चले गये। वनपर्व के १९ अध्यायों में (अ० २७३-९३) रामोपाख्यान पर्व है जिसमें रामचन्द्र की कथा विस्तार से वर्णित है। इस उपाख्यान में वाल्मीकीय रामायण के श्लोक ज्यों के त्यों रखे गये हैं। उपमायें तथा कल्पनायें वाल्मीकि से ली गई हैं।

रामायण के श्लोकों की समता केवल रामोपाख्यान में ही उपलब्ध नहीं होती, प्रत्युत महाभारत के अन्य पर्वों में भी यह समता तथा निर्देश नितान्त सुस्पष्ट है। उदाहरणार्थ मायासीता के मारते समय इन्द्रजीत ने हनुमान्जी से जो वचन कहे थे, वे ही वचन द्रोणपर्व में भी अक्षरशः प्राप्त होते हैं।

> न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवंगम।
> पीडाकरममित्राणां यच्च कर्तव्यमेव तत्॥ —युद्ध ८१।२८

> अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि।
> न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवङ्गम॥
> सर्वकालं मनुष्येण व्यवसायवता सदा।
> पीडाकरममित्राणां यत् स्यात् कर्तव्यमेव तत्॥ —द्रोणपर्व

इन प्रमाणों के अनुशीलन से किसी भी निष्पक्ष आलोचक को भारतीय परम्परा की सत्यता पर अविश्वास नहीं हो सकता कि रामायण कालक्रम से महाभारत से पूर्व की रचना है।

---

[1] वनपर्व ८५।६५

[2] म० भा० वनपर्व ८४।७०।

७

श्रीमद्भागवत

पुराणों के रचनाकाल का निर्णय एक झमेले की चीज़ है। पश्चिमी शिक्षा के दूषित वातावरण में पुराण के रूप को ठीक ठीक न समझना कोई नई बात नहीं है। पुराणों की कथाओं, घटनाओं तथा कालनिर्देशों के वास्तव महत्त्व से अपरिचित आलोचकों की दृष्टि में पुराण एक बड़ा बीहड़ बखेड़ा खड़ा करता है। वे लोग इसे लेखकों की अश्रान्त कल्पना का एक विभ्राट् मानने के अतिरिक्त विशेष महत्त्व नहीं देते। इसका मुख्य कारण दूषित भावना के अतिरिक्त पुराणों के गाढ़ अनुशीलन का अभाव भी है। अब तक इसी भावना के कारण न तो पुराणों का कोई प्रामाणिक संस्करण ही उपलब्ध है जिसका पाठ अनेक प्रतियों की तुलना के द्वारा निश्चित किया गया हो और न पुराणों के विविध विषय की सहानुभूतिपूर्ण गहरी छानबीन ही की गई है। परन्तु इधर विद्वानों का रुचि कुछ बदली है। अब वे समझने लगे हैं कि पुराणों की अपनी एक स्वतन्त्र शैली है जिसमें वर्णित विषय के बाह्य रूप को हटाकर भीतर पैठने पर उसकी प्रामाणिकता स्वयं झलकने लगती है। प्राचीन इतिहास को प्रस्तुत करने में भी 'पञ्चलक्षण'[१] पुराणों की अपनी एक विशिष्ट दिशा है। वे कतिपय देशों के ही एकाङ्गी वृत्त के वर्णन करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं मानते, बल्कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि से लेकर प्रलय तक महनीय घटनाओं के अंकन में निमग्न रहते हैं। राजवंशों में भी प्रधान वंशों का ही उल्लेख किया गया है तथा उन्हीं राजाओं का भी चरित्र चित्रित किया गया है

---

[१] सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पंचलक्षणम्॥

जो उपदेशप्रद होते हैं तथा जिनका चरित्र किसी आदर्श को अग्रसर करने के लिए प्रस्तुत किया गया है। भागवत में इस बात का विशद निर्देश है कि यहाँ उन्हीं राजाओं के चरित्र का वर्णन है जो स्वयं आदर्श चरित्र, यशस्वी तथा सदाचार-सम्पन्न थे, 'जायस्व म्रियस्व की कोटि में आने वाले ऐरे-गैरे राजाओं का वर्णन करने में पुराणकार अपने परिश्रम तथा काव्यशक्ति का दुरुपयोग करना नहीं चाहता। विशेष ज्ञान तथा वैराग्य का वर्णन ही ग्रन्थ का प्रधान उद्देश्य है, राजाओं के चरित्र का वर्णन नहीं :—

> कथा इमास्ते कथिता महीयसां
> विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।
> विज्ञान-वैराग्य--विवक्षया विभो
> वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम्।
>
> —भाग० १२।३।१४

परन्तु आजकल के खोजी विद्वान् पुराणों के इस गूढ़ रहस्य को न समझ कर उनमें आपाततो दृश्यमान विरोध तथा घटनावैषम्य के कारण उन्हें सर्वथा निर्मूल, निराधार तथा अप्रामाणिक बतलाने की धृष्ट घोषणा करते हैं।

रचनाकाल

श्रीमद्भागवत के विषय में भी ऐसी ही बेसिर पैर की बातें विद्वान् लोग करते आये हैं। उसकी रचना काल के निर्णय से पहिले उसके पुराणत्व के ऊपर ही बहुतों को बड़ी शंका बनी हुई है। 'देवी भागवत' को भी भागवत नाम से सामान्यतः अभिहित होने के कारण यह शंका और भी बढ़ गई है। प्रश्न यह है कि देवी भागवत अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत है अथवा श्रीमद्भागवत ? पुराणों के वर्णित ग्रन्थ-विस्तार तथा रूप-निर्देश का अध्ययन करने पर श्रीमद्भागवत के

महापुराणत्व में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता है। यह गायत्री से आरम्भ होता है[1] तथा गायत्री से ही अन्त होता है[2]। षष्ठ स्कन्ध में वृत्रासुर के वध की भी कथा विस्तार से दी गई है। ऐसी दशा में श्रीमद्भागवत को महापुराण मानना ही उचित प्रतीत होता है।

श्रीमद्भागवत के निर्माण का श्रेय त्रयोदश शतक में उत्पन्न बोपदेव को प्रदान कर यह मामला और भी बेतुका बना दिया गया है। डाक्टर भंडारकर के मतानुसार भागवत के ११ वें स्कन्ध (५।३७-४०) में तामिल देश के वैष्णव सन्तों—अड्यारों—का स्पष्ट निर्देश होने से यह नवम शताब्दी से पूर्ववर्ती नहीं हो सकता[3]। परन्तु ये दोनों मत भ्रान्त हैं। भागवत बोपदेव तथा अड्यार दोनों से प्राचीनतर है। देवगिरि के यादव राजा महादेव (१२६०-१२७१ ई०) तथा रामचन्द्र (१२७१—१३०८ ई०) के महामन्त्री हेमाद्रि पण्डित के तुष्ट्यर्थ इनके सभासद बोपदेव ने 'हरिलीलामृत' तथा 'मुक्ताफल' की रचना भागवत पुराण के विषय में की थी। 'हरिलीलामृत' में भागवत के स्कन्धों तथा अध्यायों की विशिष्ट सूची है और एतदर्थ यह 'भागवतानुक्रमणी' के नाम से भी अभिहित किया जाता है[4]। 'मुक्ताफल' भागवत के नाना रसात्मक कमनीय पद्यों का एक सुललित संग्रह है[5]। हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' में प्रमाण देने के निमित्त

---

[1] धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।

—भाग० १।१।१

[2] तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि।

—भाग० १२।१३।१९.

[3] भंडारकर—वैष्णविज़म शैविज़म नामक ग्रन्थ में

[4] चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी से १९३३ में मुद्रित।

[5] कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज में प्रकाशित।

भागवत के श्लोकों को उद्धृत किया है। यदि बोपदेव ही इसके सच्चे रचयिता होते तो मुक्ताफल जैसे संग्रह की न तो कोई आवश्यकता होती और न हेमाद्रि के द्वारा प्रामाण्यार्थ उद्धरण का कोई स्वारस्य होता। तथ्य यह है कि भागवत त्रयोदश शतक में विद्यमान इन ग्रन्थकारों से बहुत प्राचीन है।

द्वैतमत के संस्थापक मध्वाचार्य (जन्मकाल ११९९ई०) ने भागवत के मूल तात्पर्य के प्रकटन के निमित्त 'भागवत तात्पर्य निर्णयः' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रणयन किया है। श्री रामानुजाचार्य (११ शतक) ने अपने 'वेदान्त तत्त्वसार' में भागवत की वेदस्तुति (११।८७अ०) से अनेक पद्यों को उद्धृत किया है। अद्वैतवेदान्त के आचार्य चित्सुख (नवम शतक के द्वारा निर्मित भागवत-व्याख्या का निर्देश मध्वाचार्य, श्रीधर स्वामी तथा विजयध्वज ने अपने ग्रन्थों में किया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मान्य आचार्य अभिनवगुप्त (१० शतक) ने अपनी गीता टीका (१४।८) में भागवत के द्वितीय तथा एकादश स्कन्ध से कतिपय पद्यों को उद्धृत किया है। माठर ने सांख्यकारिका की माठर वृत्ति में (जिसका चीनी अनुवाद ५५७ ई०—५६९ ई० के बीच में कभी हुआ था) भागवत से दो श्लोकों को प्रमाण रूपेण उपन्यस्त किया है (भाग० १।६।३५, तथा १।८।५२)। शंकराचार्य ने (सप्तम शतक) अपने 'गोविन्दाष्टक' तथा 'प्रबोधसुधाकर' में श्रीकृष्ण के स्तुतिप्रसङ्ग में ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है जो भागवत में ही उपलब्ध होती हैं। (जैसे मट्टी खाने के बाद मुख के भीतर अखिल ब्रह्माण्ड का दर्शन आदि) इतना ही नहीं, शंकराचार्य के दादागुरु गौडपादाचार्य ने 'पञ्चीकरण-व्याख्या' में 'जगृहे पौरुषं रूपम्' (भाग० १।३।१) को तथा उत्तरगीता की टीका में 'श्रेयः श्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो' (भाग० १०।१४।४) को भागवत के नाम के साथ उद्धृत किया है। गौडपादका काल आधुनिक गणना के अनुसार भी षष्ठ शतक से अर्वाचीन नहीं हो सकता।

ऐसी दशा में गौडपाद के निःसन्दिग्ध उद्धरण के कारण भागवत षष्ठ शतक से कतिपय शताब्दी प्राचीनतर ही सिद्ध होता है। पद्मपुराण के भागवत माहात्म्य के अनुसार तो श्रीकृष्ण के इस धराधाम के ३० वर्ष छोड़ने के बाद भाद्र शुक्ल नवमी को शुकदेव जी ने महाराज परीक्षित को यह कथा सुनाई थी। फलतः भागवत की रचना कलियुग आरम्भ होने के तीस वर्ष के भीतर ही हुई थी। इस प्रकार भारतीय परम्परा के अनुसार इसे पाँच हजार वर्ष पुराना होना चाहिए।

टीका सम्पत्ति

श्रीमद्भागवत पाण्डित्य की कसौटी माना जाता है। यह समस्त श्रुतियों का सार है. महाभारत का तात्पर्य निर्णायक है तथा ब्रह्मसूत्रों का भाष्य है। अनेक स्थलों पर श्रुतियों के प्रसिद्ध मन्त्र स्वल्प शब्दान्तर के साथ यहाँ संगृहीत किये गये हैं। 'ब्रह्मात्मैकत्व' का प्रतिपादन प्रधान विषय तथा कैवल्य ही इसके निर्माण का एकमात्र प्रयोजन होने से श्रीमद्भागवत नितान्त वैदुष्यपूर्ण, तर्कबहुल तथा शेमुषीगम्य है। 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' की लोकोक्ति वस्तुतः तथ्यवाद है, अर्थवाद नहीं। इन दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए ही मध्ययुगीय प्रत्येक वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने इसके ऊपर टीका तथा व्याख्या का प्रणयन कर इसे सुबोध तथा लोकप्रिय बनाने का श्लाघ्य प्रयास किया है। टीका-सम्पत्ति की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ-रत्न अनुपमेय है। आद्य टीका चित्सुखाचार्य निर्मित केवल निर्देशमात्र है, उपलब्ध नहीं। सबसे अधिक प्राचीन तथा प्रामाणिक टीका श्रीधर-स्वामी की है जो नृसिंह भगवान् के प्रसाद से भागवत के रहस्यवेत्ता माने जाते हैं। लघुकाय होने पर भी श्रीधरी निःसन्देह निष्पक्ष तथा सर्वश्रेष्ठ भागवत-व्याख्या है। विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के मान्य टीकाकार सुदर्शन सूरि (१४ शतक) की 'शुकपक्षीया' तथा वीरराघवाचार्य (१४ श०) की 'भागवत-चन्द्रचन्द्रिका' दोनों श्रीवैष्णवों में

आदरणीय तथा उपादेय व्याख्यायें हैं। विजयध्वजतीर्थ रचित 'पद-रत्नावली' माध्वसम्प्रदाय के अनुकूल भागवत की प्रौढ़ टीका है जिसमें श्रीधरी की अपेक्षा भागवत के पाठों तथा अध्यायों में भी पर्याप्त पार्थक्य है। चैतन्य सम्प्रदाय में श्रीधरी की मान्यता अक्षुण्ण है परन्तु इसके अतिरिक्त भी सनातन गोस्वामी की दशमस्कन्ध पर 'बृहद् वैष्णव-तोषिणी', जीव गोस्वामी की समग्र भागवत पर 'क्रमसन्दर्भ' तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'सारार्थदर्शिनी' व्याख्या नितान्त प्रौढ़ तथा सार-दर्शिनी है। जीवगोस्वामी का 'षट्सन्दर्भ' तो भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का नितान्त प्रामाणिक विवेचन है। वल्लभाचार्य की 'सुबोधिनी' भागवत के अन्तरंग भाव तथा अधिकार-विवेचन के हेतु अपनी निजी विशेपता से मण्डित है। श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायी शुकदेवाचार्य का 'सिद्धान्त प्रदीप' संक्षिप्त होने पर भी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का भव्य प्रदर्शक है। इन प्राचीन प्रधान टीकाओं के अतिरिक्त अनेक आधुनिक टीकायें भी उपलब्ध हैं। श्रीहरि की 'हरिभक्ति रसायन' नामक पद्यात्मक टीका (रचना काल १७४६ शक सं०) भागवत के मधुर भावों के प्रदर्शन में नितान्त कृतकार्य तथा सफल है। भागवत की यह विशाल व्याख्यासम्पत्ति भक्तिशास्त्र के सिद्धान्तों को समझने के लिए एक भव्य ग्रन्थराशि प्रस्तुत करती है।

काव्य सौंदर्य

श्रीमद्भागवत की कविता में अद्भुत चमत्कार है जो सैकड़ों वर्षों से सहृदय पाठकों को अपनी शब्दमाधुरी तथा अर्थ-चातुरी से हठात् आकृष्ट करता आ रहा है। नवीन साहित्यिक परिस्थिति के उदय ने भी इस आकर्षण में किसी प्रकार की न्यूनता उत्पन्न नहीं की है। भागवत रस तथा माधुर्य का अगाध स्रोत है। नाना परि-स्थितियों के परिवर्तन से उत्पन्न होनेवाले मानव हृदय को उद्वेलित

करनेवाले भावों के चित्रण में भागवत अद्वितीय काव्य है। इसमें हृदय पक्ष का प्राधान्य होने पर भी कलापक्ष का अभाव नहीं है। मथुरा का (भाग० १०।४१) तथा द्वारिका का वर्णन (भाग० १०।६७) जितना कलात्मक है उतना ही स्वाभाविक तथा यथार्थ है नाना भयानक युद्धों का चित्रण। केशी नामक असुर अश्व का विकराल रूप धारण कर श्रीकृष्ण को मारने के निमित्त आया था। कृष्ण ने केशी के साथ युद्ध करने में जिस युद्ध-कौशल का परिचय दिया है, वह वर्णन की यथार्थता के कारण पाठकों के सामने झूलने लगता है (भाग० १०।३७) इसी प्रकार मगधनरेश जरासन्ध तथा भीमसेन के प्रलयंकर गदायुद्ध का सातिशय रोमाञ्चकारी चित्रण भागवत में फड़कती भाषा में किया गया है (भाग० १०।५०)। द्वारिकापुरी के वर्णनप्रसंग में झरोखों, से निकलनेवाले अगुरु धूप को देखकर श्याम मेघ की भावना से वलभी-निवासी मत्त मयूरों का यह नर्तन कितना सुखद तथा मनोहर प्रतीत होता है—

रत्न-प्रदीपनिकर-द्युतिभिर्निरस्त–
ध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग ।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षै-
र्नियान्तमीक्ष्य घन-बुद्धय उन्नदन्तः ॥

(भाग० १०।६९।१२)

उतना ही स्वाभाविक है मधुपुरी में कृष्णचन्द्र के आगमन की वार्ता सुनकर उतावली में अपनी शृंगार-भूषा को बिना समाप्त किये ही झरोखों से झाँकनेवाली ललित ललनाओं का ललाम वर्णन (भाग० १०।४१।२५–२७)। आलोचकों की दृष्टि में भागवत का ऋतुवर्णन भी आध्यात्मिक दृष्टि को प्रस्तुत करने के लिए नितान्त प्रख्यात है दशम स्कन्ध के एक समग्र अध्याय में (२०वाँ अध्याय) प्रावृट

तथा शरद ऋतु का यह आध्यात्मिकतामण्डित वर्णन वस्तुतः अनुपम तथा चमत्कारी है। वर्षा की धाराओं से ताड़ित होने पर भी किञ्चिन्मात्र भी व्यथित न होने वाले पर्वतों की समता उन भगवन्निष्ठ भक्तजनों के साथ दी गई है जो विपत्तियों के द्वारा प्रताड़ित होने पर भी किसी प्रकार क्षुब्ध नहीं होते[1]। पवन से ऊँची उठती हुई तरंगमाला से युक्त समुद्र नदियों के समागम से उसी प्रकार क्षुब्ध होता है जिस प्रकार कच्चे योगी का वासनापूर्ण चित्त विषयों के सम्पर्क में पड़कर क्षुब्ध हो उठता है[2]। शरद् भी उतनी ही चारुता के साथ वर्षा के अनन्तर आती है और अपनी रुचिरता की भव्य झाँकी पृथ्वीतल पर दिखलाती है। रात के समय चन्द्रमा प्राणियों के सूर्य की किरणों से उत्पन्न ताप को दूर करता है। विमल ताराओं से मण्डित मेघहीन गगनमण्डल उसी तरह चमकता है जिस प्रकार शब्दब्रह्म के द्वारा अर्थ का दर्शन प्राप्त कर योगियों का सात्त्विक चित्त विकसित हो उठता है :—

> खमशोभत निर्मेघं शरद्—विमलतारकम्।
> सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम्॥
>
> (भाग० १०।२०।४३)

गोसाईं तुलसीदास का सुप्रसिद्ध वर्षा तथा शरद् वर्णन भागवत

---

१ गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः॥

—भाग० १०।२०।१५

२ सरिद्भिः संगतः सिन्धुः चक्षुभे श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा॥

भाग० १०।२०।१४

के इसी वर्णन के आधार पर है; इसे विशेष रूप से बतलाने की आवश्यकता नहीं।

परन्तु भागवत का सबसे अधिक मधुर तथा सुन्दर अंश वह है जहां गोपियों की कृष्णचन्द्र के प्रति ललित प्रेमलीला का रुचिर चित्रण है। गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों पर अपने जीवन को समर्पण करने वाली भगवन्निष्ठ प्रेमिकायें ठहरीं। उनकी संयोग तथा वियोग उभय प्रकार की भावनाओं के चित्रण में कवि ने अपनी गहरी अनुभूति तथा गम्भीर मनोवैज्ञानिक भाव-विश्लेषण का पूर्ण परिचय दिया है। ऐसे प्रसंग जहां वक्ता अपने हृदयकी अन्तरतम गुहा में कल्लोलित भावों की अभिव्यक्ति करता है 'गीत' के नाम से अभिहित किये गये हैं। इन गीतों का प्राचुर्य दशम स्कन्ध में उपलब्ध होता है। वेणु गीत (१०।२१), गोपी गीत (१०।२१), युगल गीत (१०।३५), महिषी गीत (१०।९०), आदि भागवत के ऐसे ललित प्रसंग हैं जिनमें कवि की वाणी अपनी भव्य माधुरी प्रदर्शित कर रसिकों के हृदयमें उस मनोरम रसकी सृष्टि करती है जिसे आलोचक 'भागवत रस' के सहनीय नाम से पुकारते हैं। कृष्ण के विरह में व्याकुल महिषी जनों का यह उपालम्भ कितना मीठा तथा तलस्पर्शी है—

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः।
वयमिव सखि कच्चित् गाढनिर्भिन्नचेता
नलिन-नयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥

(भाग० १०।९०।१५)

हे कुररि ! संसार में सब ओर सन्नाटा छाया हुआ है। इस समय स्वयं भगवान् अपना अखण्डबोध छिपा कर सो रहे हैं। परन्तु तुझे नींद नहीं ? सखी, कहीं कमलनयन भगवान् के मधुर हास्य और लीला-

भरी उदार चितवन से तेरा हृदय भी हमारी ही तरह बिंध तो नहीं गया है ?

वेणु-गीत में कृष्ण के मुरलीवादन के विश्वव्यापी प्रभाव का वर्णन इतनी सूक्ष्मता तथा इतनी मधुरता से किया गया है कि पाठक के हृदय में एक अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। मुरली का प्रभाव केवल जंगम प्राणियों के ऊपर ही नहीं है, प्रत्युत स्थावर जगत् में भी वह उतना ही जागरूक तथा क्रियाशील है। नदियों का वेणुगीत को आकर्षण कर यह आचरण जितना मधुर है उतना ही स्वाभाविक है—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत—
मावर्त लक्षित-मनोभवभग्नवेगाः
आलिङ्गन स्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे
र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥

(भाग० १०।२१।१५)

नदियाँ भी मुकुन्द के गीत को सुनकर भँवरों के द्वारा अपने हृदय में श्यामसुन्दर से मिलने की तीव्र आकांक्षा को प्रकट कर रही हैं। उसके कारण इनका प्रवाह रुक गया है। ये अपने तरंगों के हाथों से उनके चरण पकड़ कर कमल के फूलों का उपहार चढ़ा रही हैं और उनका आलिङ्गन कर रही हैं; मानों उनके चरणों पर अपना हृदय ही निछावर कर रही हैं।

इसी शब्दमाधुरी तथा भावमाधुरी के कारण भागवत शताब्दियों से भक्ति-प्रवण भक्तों तथा कवियों को समभावेन उत्साह, स्फूर्ति तथा प्रेरणा प्रदान करता चला आ रहा है। आज भी उसकी उपजीव्यता किसी भी अंश में घटकर नहीं है।

द्वितीय खण्ड

श्रव्य काव्य

(१) संस्कृत काव्य की पृष्ठभूमि
(२) कालिदास
(३) कालिदासोत्तर काव्य
(४) गीति काव्य
(५) गद्य काव्य
(६) कथा साहित्य

सत्कवि-रसना-सूर्पी-
निष्तुषतरशब्दशालिपाकेन ।
तृप्तो दयिताधरमपि
नाद्रियते का सुधादासी ॥

—गोवर्धनाचार्य

चतुर्थ परिच्छेद

संस्कृत काव्य की पृष्ठभूमि

राजसी वातावरण

संस्कृत काव्य का प्रथम अवतार सात्त्विक भावना से नितान्त अनुप्राणित आश्रम के वातावरण में होता है, परन्तु उसका अभ्युदय सरस्वती के वरद पुत्रों को आश्रय देकर कवि-कला को प्रोत्साहन देने वाले राजाओं के दरबार में होता है। संस्कृत के मान्य कवियों का सम्बन्ध वैभवशाली महीपालों के साथ सर्वदा स्थापित था। विक्रमादित्य के बिना न कालिदास का उदय सम्भव था, न हर्षवर्धन के बिना बाणभट्ट का। राजशेखर के द्वारा 'काव्यमीमांसा' में निर्दिष्ट राजाओं के द्वारा कवि-सभा तथा कवि-समादर की घटना में थोड़ी-सी अत्युक्ति का पुट किसी आलोचक को भले ही प्रतीत हो, परन्तु काश्मीरक कवि मंख ने अपने 'श्रीकण्ठ चरित' महाकाव्य (१९ सर्ग) में महाराज जयसिंह के प्रधानामात्य गुणग्राही 'अलंकार' की सभा में तत्कालीन कविजनों के आदर-सत्कार की जो भव्य झाँकी प्रस्तुत की है वह ऐतिहासिक तथ्य है और इसका स्पष्ट प्रमाण है कि गुणग्राही राजा कविजनों की अभ्यर्थना करने में कुछ उठा नहीं रखते थे। राजाओं के ही आश्रय में कविजनों की वाणी को फूटने का अवसर मिलता है; उनकी ही रंगशाला में कविजनों की नाट्यकला अपना रमणीय प्रदर्शन करती है। राजाओं के दरबार वस्तुतः कथा तथा कौशल, संस्कृति तथा

सभ्यता के प्रधान केन्द्र थे। अतः कवियों की नैसर्गिक प्रतिभा के पनपने का वहाँ पूर्ण उपकरण प्रस्तुत रहता था। सरस्वती तथा लक्ष्मी के आश्रयभूत महीपाल कविजनों के महाकाव्यों के नायक भी बनते थे। ऐसी दशा में राजसी वातावरण में अभ्युदय तथा प्रसार पाने से संस्कृत काव्य नितान्त सुश्लिष्ट, संस्कृत तथा प्रभावशाली हो गया है।

तत्कालीन शिष्ट समाज की रुचि तथा प्रवृत्ति का मनोरम रूप आलोचक को संस्कृत काव्यों के पृष्ठों में उपलब्ध होता है। उस समय की शिष्टता तथा संस्कृति का भव्य प्रतीक होता था। नागरक जिसका जीवन ही कला की पूर्ण उपासना में व्यतीत होता था। नागरक के दैनन्दिन जीवन का चटकीला वर्णन वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में हमें उपलब्ध होता है। नागरक का जीवन प्रातःकाल से लेकर रात के पिछले पहरों तक कलोपासना की एक दीर्घ परम्परा होता था। सुखमय जीवन बिताना ही उसका परम लक्ष्य था और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह सुखमयी सामग्रियों को एकत्र कर जीवन को सरस, मधुर तथा मधुमय बनाता था। उसके प्रत्येक कार्य में कला तथा भव्यता, सौन्दर्य तथा माधुर्य का दर्शन हमें प्राप्त होता है। उद्यान के भीतर उसका रुचिर निवास, स्वच्छ सुथरे सामान, पुस्तकों का चयन, नागदन्त के ऊपर लटकनेवाले सफेद धुले हुए रेशमी वस्त्र, कर्णों मे स्वरलहरी को घोलने वाली वीणा—नागरक के ये सहज परिकर उसके सरस हृदय तथा कलाप्रेम के भव्य निदर्शन थे। संस्कृत के कविजनों ने नागरक के जीवन को चित्रित करने का प्रयास अपने काव्यों तथा नाटकों में किया। एक बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि संस्कृत काव्य का श्रोता तथा नाटक का दर्शक कोई सामान्य कलाहीन अरसिक व्यक्ति नहीं होता था, प्रत्युत वह नितान्त सभ्य, शिष्ट, सुरुचिपूर्ण, कलाप्रवीण नागरक होता था जिसका कोमल हृदय करुणोत्पादक दृश्य अवलोकन से सद्यः पिघल जाता था और आँसुओं के रूप में बह

निकलता था। ऐसे 'सहृदय' को लक्ष्य में रखकर निर्मित होने के कारण संस्कृत के काव्यों में भावों की नागरिकता, भाषा का सौष्ठव, ग्राम्यता का अभाव, भावुकता का सद्भाव आदि गुणों का दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक ही है।

२

जन जीवन की झाँकी

संस्कृत काव्य की यह भूयसी विशिष्टता है कि वह जन साधारण के मनोभावों का, हृदय की वृत्तियों का, विभिन्न दशाओं में उत्पन्न होने वाले मानसिक विकारों का चित्रण बड़ी ही कमनीय भाषा में प्रस्तुत करता है। वह मानव की कोमल वृत्तियों के वर्णन में जितना कृतकार्य है उतना ही वह उसकी उग्र वृत्तियों के अंकन में समर्थ है। राग और द्वेष, हर्ष और विषाद, प्रेम और करुणा, उत्साह और अवसाद आदि जितने भाव मानव हृदय को अपना रंगस्थल बनाया करते हैं उनका चित्रण संस्कृत कवियों की ललित लेखनी ने इतनी सुन्दरता से किया है कि पाठक उसी भावसरिता में अपने आपको गोते लगाता हुआ पाता है। राजा-महाराजाओं के वैभव सम्पन्न दरबारों में अपना जीवन बिताने वाले भी संस्कृत के कविगण जन सामान्य के जीवन से, उनके हृदय में उत्पन्न होने वाली भावनाओं से तथा आकांक्षाओं को कुचलने वाली उनकी दरिद्रता से, घनिष्ठ रूप से परिचय रखते हैं और अपने काव्यों में उनकी अभिव्यक्ति कर उन्होंने जन जीवन के प्रति अपनी सहानुभूति का प्रकाशन भले प्रकार किया है। नव्य आलोचकों की यह धारणा कि संस्कृत कविगण लक्ष्मी के वरद पुत्रों की गुणगरिमा गाने में ही अपनी सरस्वती को चरितार्थ समझते थे नितान्त भ्रामक है तथा तथ्य से कोसों दूर है। प्राचीन हिन्दू राजाओं का

दरबार संस्कृत विद्या का केन्द्र था, भव्य भारतीयता का सांस्कृतिक स्थल था। अतः अपनी कला के विकास के हेतु तथा अपनी जीविका के निमित्त कलाप्रेमी राजाओं का आश्रय लेना संस्कृत कवियों के लिए अनिवार्य था, परन्तु वहाँ रहकर वे दरबारी कवि बन जाते तथा अपने आश्रयदाता के रिझाने के निमित्त जीवन के उच्च स्तर से ही सम्बद्ध कविता के प्रणयन में अपने को लगाते थे, यह मानना एक भारी भूल होगी।

सम्राट् विक्रमादित्य के आश्रय में रहने वाले जो कालिदास विक्रमोर्वशीय में महाराजा पुरुरवा तथा उर्वशी के अलौकिक प्रेम का चित्रण करते हैं, वही कालिदास 'मेघदूत में' धनपति के शापभाजन एक सामान्य यक्ष की विरह वेदना की अभिव्यक्ति करने से पराङ्मुख नहीं होते। राजा दिलीप के वसिष्ठाश्रम के प्रति यात्राप्रसंग में वे उन ग्वालाओं के मुखिया लोगों को नहीं भूलते जो राजा के सत्कार करने के लिए मक्खन लेकर उपस्थित होते हैं[1]। जिस तूलिका से वे राजाओं के चाकचिक्य-चर्चित अतुलवैभव मण्डित प्रासादों के चित्रण में कृतकार्य होते हैं उसी से वे ऋषियों के अग्निहोमधूमिल मृग-शावकसम्पन्न आश्रमों के स्निग्ध वर्णन से पराङ्मुख नहीं होते। राजाश्रय पाने पर भी वे राजाओं के शारीरिक तथा मानसिक त्रुटियों से अनभिज्ञ नहीं हैं। सायंकाल जंगल से आश्रम को लौटती हुई दूध-भरे थनों से धीरे धीरे चलने वाली गाय के पीछे उसी प्रकार भारी भरकम देह वाले दिलीप के गमन का वर्णन करने वाले कालिदास राजाओं के शारीरिक दोषों के प्रति कभी स्पृहयालु नहीं प्रतीत होते[2]।

---

[1] हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्। (रघु० १।४५)

[2] आपीन-भारोद्वहन-प्रयत्नद्गृष्टि गुरुत्वाद् वपुषो नरेन्द्रः।
उभावलं चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम्॥
—रघु० २।१८

'मेघदूत' किसी धनकुबेर महाराजाधिराज के हृदय की भावनाओं का चित्रण नहीं है, प्रत्युत ऐश्वर्यमद से मत्त धनपति के क्रूर कोप का भाजन बनने वाले दीन हीन सेवक जन की विरह-वेदना का मनोरम अंकन है। कालिदास की दृष्टि में लक्ष्मी के ललित निकेतन राजभवनों का उतना मूल्य नहीं है जितना कौपीनधारी तपस्वियों के निसर्ग सुन्दर आश्रमों का। वे आश्रम की मधुरिमा पर मुग्ध होते हैं। आश्रमों का सायंकालीन दृश्य कवि के हृदय में रागात्मिका वृत्ति के उदय में सहायक बनता है। कालिदास के हृदय में तपोवन के प्रति स्वाभाविक आकर्षण है। वृक्षों के आलवाल से जल पीने के इच्छुक पक्षियों को विश्वास उत्पन्न करने के लिए मुनिकन्यकायें पौधों को जल से सींचने का व्यापार बन्द कर देती हैं; कुटियों के आँगन में—जहाँ ग्रीष्म के बीत जाने पर ऋषियों ने नीवार काट कर इकट्ठा कर दिया है—जुगाली करते हुए मृग बैठे आनन्द मना रहे हैं[1]। आश्रम के इन दृश्यों में जिस कवि का हृदय रमता है उसे जनजीवन से हम पराङ्मुख कैसे मान सकते हैं? 'ऋतुसंहार' का अनुशीलनकर्ता कालिदास को राजसी वैभव के चकाचौंध से चमत्कृत तथा प्रभावित कभी नहीं मान सकता।

भारवि को पल्लववंशीय राजा का आश्रय प्राप्त था। वे राजनीति उद्भट विद्वान् थे, इसका प्रमाण उनके महाकाव्य किरातार्जुनीय के आरम्भिक सर्ग ही हैं। राजनीति में पटुता से मण्डित होने वाला राजाश्रयी कवि शरद् के वर्णन प्रसंग में उन दीन-हीन गोपों को नहीं भूलता जो गायों की नित्य सेवा करते रहने से ऋजुता में उनके प्रवीण प्रतीक बने हुये हैं। वह उनके दुःखों तथा सुखों से परिचित है। वह सायंकाल गोचरभूमि से घर लौटने वाली थनों से दूध चुलाने वाली (प्रस्नुतपीवरौधसः) गायों को देखकर प्रसन्न होता

---

[1] रघुवंश १।५१—५२

है। ये प्रातःकाल होने से पहिले ही पिछली रात को जंगल में चरने के लिए चली गईं थीं। दिनभर घास चर कर सायंकाल अपने बछड़ों से मिलने के लिए व्याकुल होकर लौट रही हैं परन्तु दूधभरे थनों के भारी भार से वे तेजी से चलने में असमर्थ हैं। ऐसा शोभन दृश्य किस सरस कवि के चित्त को अपनी ओर नहीं खींच लेगा? भारवि को गोप और गोपियों के सरल जीवन से गहरी सहानुभूति है। ये गायों के पीछे चलने वाले पशुओं के साथ भाईचारा रखने वाले जंगल को ही अपना घर समझने वाले तथा पशुओं के द्वारा सरलता के विषय में अनुकरण किये जाने वाले गोप हमारे कवि के हृदय पर गहरी छाप डालते हैं[1]। इसी प्रकार प्रातःकाल अपने गोठ के आँगन में मथनी से दही मथनेवाली ग्वालिनें दर्शकों के मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं जब उनके दही से भरे घड़े घरघों घरघों की आवाज से मृदंग के समान गम्भीर आवाज करते हैं तथा मयूरियों को मेघ के गर्जन की शंका उत्पन्न करते हैं[2]।

भारवि का कोमल सरल हृदय मानवता तथा मैत्री के सच्चे दुग्ध से भरा हुआ है। वे प्रेमभरे नयनों से धान के खेत की रखवाली करने वाली स्त्रियों को देखते हैं। इनका ग्रामीण अलंकरण इनकी सरल शोभा को दूना दमका रहा है। इन्हों ने केसर के छोटे पराग से अपने भौंहों के बीच में तिलक लगा रखा है तथा बन्धुजीव का लाल फूल लगाकर आलता से रंगे हुये अपने होठों की समानता बना रखी है। उनके कानों में पहिरा हुआ कमल का एयरिंग गालों पर लटकर अजीब छवि

---

[1] गताः पशूनां सहजन्मबन्धुतां गृहाश्रयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः।
ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डवः कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे॥
—किरात ४।१३

[2] किरात ४।१३

दिखला रहा है तथा मोटे स्तनों के चारों ओर लपेटा गया कमल की धूलि का पाउडर मेहनत करने से बहने वाले पसीने से मिलकर अद्भुत शोभा प्रदर्शित कर रहा है[1]। कवि की दृष्टि धान की पकी हुई पीली बालियों को देखकर प्रसन्न होती है क्यों कि इन सुभग रंगों का योग इन्द्रधनुष की शोभा की याद दिलाता है[2]। पकी बालियों को झुकी देखकर उसका कवि-हृदय कह उठता है कि ये धान के पौदे खेत के पानी में खिलने वाले नील कमलों को सूँघने के लिए ही अपने सिर को झुकाये हुए खड़े हैं[3]। इस प्रकार राजाश्रय में अपना जीवन बिताने वाले भारवि का हृदय जनसाधारण की भावनाओं से सहानुभूति रखता है और उनकी लेखनी इस सहानुभूति की चारु अभिव्यक्ति करने में अपनी चरितार्थता समझती है।

महाकवि माघ के महनीय काव्य का परिशीलन भी हमें इसी परिणाम पर पहुँचाता है। उनके पितामह सुप्रभदेव वलभी-मण्डल के अधिपति वर्मलात राजा के दीवान थे। पिता भी अपनी दानशीलता के लिए नितान्त विख्यात थे तथा उनका कुटुम्ब धनी-मानी वदान्य तथा उदार था। माघ के हृदय में जनजीवन के लिए असाधारण प्रेम था। उनकी पैनी दृष्टि से साधारण मानव के राग-द्वेष, सुख-दुःख हर्ष-विषाद की भावनायें परोक्ष नहीं थीं। माघ का प्रगल्भ प्रभात-वर्णन इस तथ्य का विशद उदाहरण है।

प्रभात के वर्णन में माघ की दृष्टि बड़ी व्यापक और विशाल है। वह राजा से लेकर प्रजा तक, अग्निहोत्र करने वाले ब्राह्मणों से लेकर पहरा बदलने वाले सिपाहियों तक, पशु-पक्षियों से लेकर ग्वालबालों तक एक ही व्यापार में घूम जाती है और सच्चे हृदय की रागात्मिका वृत्ति का अखिल सृष्टि से सामञ्जस्यपूर्ण विवरण प्रस्तुत करती है। कवि

---

१ किरात ४।८ ; २ किरात ४।३६; ३ वही श्लोक २६।

ब्राह्ममुहूर्त में जग कर दुरूह राजनीतिक गुत्थियों के सुलझाने में व्यग्र राजाओं के चित्रणमें जितना पटु है वह सबेरे ही सबेरे विशाल भाण्ड में बड़ी मथनियों से दूध मह कर मक्खन निकालने वाले ग्वालों के रूप अंकन में भी उतना ही समर्थ है—

द्रुत-तरकर-दक्षाः क्षिप्त वैशाख शैले
दधति दधिनि धीरानारवान् वारिणीव।
शशिनमिव सुरौघाः सारमुद्धर्तुमेते
कलशिमुदधिगुर्वीं वल्लवा लोडयन्ति ॥

(शिशु० ११।८)

कलशी में विशाल मथनियों को डाल तेजी से हाथ चलाकर गम्भीर आवाज करने वाले दही से गोप लोग उसी प्रकार मक्खन का लौंदा निकाल रहे हैं जिस प्रकार देवताओं ने समुद्र का मन्थन कर चन्द्रमा को निकाला था।

पहरा बदलने वाला सिपाही कवि की दृष्टि से नहीं बचता—

प्रहरकपमनीय स्वं निदिद्रासितोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां
दददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः।

(शिशु० ११।४)

रात के समय पहरा बदलने वाला चौकीदार अपना समय बिताकर सोना चाहता है और इसलिए वह दूसरे पहरेदार को 'जागो' 'जागो' कहकर पद पद पर जगा रहा है। वह पहरेदार जागते हुए भी मीठी झपकी ले रहा है। नींद के झोके में वह अवश्य ही अनर्थक आयँ—बायँ शब्द कहता है, फिर भी वह सो जाता है। जागने की बात कहकर भी वह जागता नहीं—सो जाता है।

पाठक अच्छी तरह टाँक लें कि कवि की सहानुभूति केवल मानव तक ही सीमित नहीं रहती, प्रत्युत वह पशुपक्षियों के आचरण तथा व्यवहार के निरीक्षण में भी पटु तथा समर्थ है। इन्हीं पशुपक्षियों के आचरण के कारण बेहद तंग होने वाली धान की रखवालिनों की यह व्याकुलता किस सहृदय को व्याकुल नहीं बनाती? ये गोपिकायें धान के खेतों की रक्षा करने में लगी हैं। खेतों के ऊपर दोहरा आक्रमण होता है—एक ओर से सुग्गों का और दूसरी ओर से मृगों का। सुग्गों को हाँकने के लिए ज्योंही वे दौड़कर एक ओर जाती हैं कि दूसरी ओर से मृग लोग खेत को रौंदने लगते हैं और धान खाने लगते हैं। ऐसी विचित्र स्थिति में इन धान रखवालिनों की यह दौड़धूप कवि के हृदय में हँसी की गुदगुदी पैदा कर रही है—

स व्रीहिणां यावदपासितुं गताः
शुकान् मृगैस्तावदुपद्रुतश्रियाम् ।
कैदारिकाणामभितः समाकुलाः
सहासमालोकयति स्म गोपिकाः ॥

(शिशु० १२।४२)

गायों के दूध दुहने का दृश्य माघ की पैनी दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। ग्वाले लोगों ने गायों के बछड़ों को उनके बायें पैर में बाँध रखा है। उन्हें वे प्रेमपूर्वक चाट रही हैं। इधर वे लोग अपने दोनों घुटनों के ऊपर दोहनी (दूहने का बर्तन) रख कर दूध दुह रहे हैं और इस अवसर पर घरघों घरघों की आवाज बढ़ती जाती है—

प्रीत्या नियुक्तान् लिहतीः स्तनन्धयान्
निगृह्य पारीमुभयेन जानुनोः ।
वर्धिष्णुधाराध्वनि रोहिणीः पय-
श्चिरं निदध्यौ दुहतः स गोदुहः ॥

(शिशु० १२।४०)

माघ हमारे ग्रामीण जीवन के अन्तस्तल तक पहुँचते हैं तथा अपनी सूक्ष्मदृष्टि से उसके नानात्मक रूपों को देखकर उसकी सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करने में कृतकार्य होते हैं। लज्जा के मारे सीधे न देखकर बगीचों की चहारदिवारी की ओट से कृष्ण को देखने वाली लज्जालु ग्रामीण बधू[1], गोणी के बड़े भार से बलबलाने वाला ऊँट[2], तेज भागने वाली साँड़िनियों के कारण तितर बितर होने वाला जनसमूह, नाना प्रकार की वस्तुओं से सज्जित बाजार[3], गाँव की सीमा पर गोलाकार मण्डली में आसव मार छक कर शराब पीने वाले गवैये लोग[4]—इन सब का रमणीय वर्णन प्रस्तुत करने वाले कवि के ऊपर क्या जन-जीवन के प्रति उपेक्षा करने का दोष कभी आरोपित किया जा सकता है?

(३.) संस्कृत काव्य की माधुरी

मानव के अन्तस्तल में क्षण क्षण में उत्पन्न होने वाले भावों के निरीक्षण तथा अभिव्यंजन में जिस कवि की वाणी रमती है वही सच्चा कवि होता है। बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा भीतरी सौन्दर्य के वर्णन में कवि के कवित्व का सच्चा परिचय मिलता है। बाहरी सौन्दर्य भीतरी सौन्दर्य की तुलना में स्थिर, निष्प्राण और अपरिवर्तनीय है। आकाश चिरकाल से जैसा नीला है वैसा ही नीला है। बीच बीच में वर्षा आदि के अवसर पर उसका वर्ण धूसर या कृष्ण हो जाता है, तथापि उसका स्वाभाविक रंग नीला ही है। समुद्र तथा नदियों का साधारण आकार तरंगों से परिपूर्ण होने पर भी एक ही प्रकार का है। परन्तु मनुष्य का हृदय नितान्त परिवर्तनशील वस्तु है। उसमें घृणा भक्ति का रूप धारण कर लेती है; अनुकम्पा से प्रेम की उत्पत्ति हो जाती है

---

[1] शिशुपाल वध १२।३७ [3] वही १२।२६
[2] वही १२।३४ [4] वही १२।३८

और प्रतिहिंसा से कृतज्ञता का जन्म हो जाता है। जो कवि इस अन्तर्जगत् की विचित्रता के रहस्य को खोलकर दिखलाता है, वही यथार्थ में कवि के नाम से पुकारा जा सकता है।

संस्कृत भाषा में इस कोटि में आने वाले यथार्थ कवियों की संख्या पर्याप्त है। संस्कृत काव्य में हृदयपक्ष तथा कलापक्ष दोनों का यथावसर अपूर्व मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन काव्यों में हृदयपक्ष का प्राधान्य है, परन्तु अवान्तर कवियों में हृदय की उतनी सच्ची परख न होने से वे केवल कलापक्ष के समाश्रयण से अपनी कविता कामिनी को सुसज्जित तथा तुन्दिल बनाते हैं। संस्कृत आलोचनाशास्त्र 'विदग्ध' तथा 'विद्वान्' में पर्याप्त पार्थक्य स्वीकार करता है। 'विद्वान्' की दृष्टि काव्य के केवल बाहरी चाकचिक्य-अलंकारों की-सज्जा पर ही जमती है, परन्तु 'विदग्ध' काव्य के अन्तस्तल को परखता है और वह रसपेशल कविता के मर्म को पहचानता है। प्राचीन काल में विदग्धता का ही प्राधान्य था, परन्तु कालक्रम से विद्वत्ता का ही मान तथा आदर बढ़ने लगा। फलतः कविजन अलंकार को ही काव्य का एकमात्र साधन मानने लगे। रस के उन्मीलन के स्थान पर अलंकार के द्वारा सुसज्जित करना ही कविकर्म की प्रधान कसौटी बन गया। आलंकारिकों ने इस परिवर्तित मनोवृत्ति को और भी विकृत तथा विपर्यस्त बना दिया। मम्मट ने 'अनलंकृती पुनः क्वापि' के द्वारा काव्य में अलंकार को रस तथा गुण की अपेक्षा गौण स्थान ही दिया, परन्तु अलंकार की यह किञ्चित् अवहेलना पीयूषवर्षी जयदेव की दृष्टि में असह्य हो उठी और उष्णता से हीन अग्नि के समान अलंकार से हीन काव्य की कल्पना को वे असम्भव तथा अप्रामाणिक मान बैठे[1]।

---

[1] अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥ —चन्द्रालोक

प्राचीन युग के कवि भावों में तीव्रता तथा प्रभावशीलता लाने के लिए काव्यों में अप्रस्तुत का विधान तथा अलंकारों का समावेश किया करते थे। आनन्दवर्धन ने रसमय काव्य में उसी अलंकार के संविधान को मान्य ठहराया है जिसकी रचना के लिए कवि को किसी भी विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं होती, रस से आक्षिप्त होकर जिनका बँधान काव्य में स्वतः ही सम्पन्न हो जाय[1]। परन्तु पिछले कँड़े के कवियों ने इस उचित उपदेश पर ध्यान न देकर अलंकार-विन्यास को ही काव्य का सर्वस्व मान लिया। फलतः उन्होंने सर्वतोभद्र, गोमूत्रिका बन्ध, तुरगबन्ध आदि चित्रकाव्यों के निर्माण में ही अपनी शक्ति का खर्च किया जिसके समझने के लिए आलोचक को दिमागी कसरत करनी पड़ती है। अतः अलंकारशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रभाव काव्य के अभ्युदय के ऊपर उतना शोभन तथा स्वास्थ्यकर नहीं हुआ जितनी आशा की जा सकती है।

संस्कृत भाषा निसर्गतः बड़ी ही कोमल तथा मधुर है। प्रतिभा-सम्पन्न कवि के हाथ में पड़कर उसमें भावप्रकाशन की अद्भुत क्षमता उत्पन्न हो जाती है। भावों की सूक्ष्मता, मनोविकारों की अन्तरंग व्यापकता के प्रकाशन में संस्कृत भाषा नितान्त समर्थ तथा सक्षम है। शब्द का सौष्ठव तथा पदावली का मधुमय विन्यास, पदों की कोमल शय्या—संस्कृत जैसी संश्लिष्ट भाषा में जितनी सुन्दरता के साथ निबद्ध किये जा सकते हैं उतनी रुचिरता से किसी भी विश्लेष-प्रधान भाषा में नहीं। संस्कृत की 'कोमल कान्त पदावली' के अवलोकन के निमित्त महाकवि जयदेव का 'गीत गोविन्द' एक कमनीय

---

[1] रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्-यत्न-निर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥

—ध्वन्यालोक

निदर्शन प्रस्तुत करता है। सत्कवि के द्वारा व्यवहृत अलंकार में भी एक विलक्षण सुषमा झलकती है। विपुल अर्थ को कम से कम थोड़े शब्दों में प्रकाशन की योग्यता रखने में 'श्लेष' अलंकार का चमत्कार अलंकारों में सर्वोपरि है और इसीलिए श्लेष की सारगर्भिता की प्रशंसा आलोचकों ने मुक्तकण्ठ से की है[1]। श्लेष के विन्यास में भी एक कमनीय कौशल है। श्लेष को प्रसन्न होना आवश्यक है। श्लेष वहीं तक शोभाधायक होता है जहाँ तक द्वितीय अर्थ के समझने में पाठक को विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। इसीलिए 'प्रत्यक्षर श्लेषमय प्रबन्ध' रचना की डींग हाँकने वाले सुबन्धु के श्लेष प्रसादहीन तथा कर्कश होने से एकदम अग्राह्य प्रतीत होते हैं, परन्तु त्रिविक्रम भट्ट के प्रसन्न श्लेषों में भावप्रकाशन तथा अर्थविन्यास की अद्भुत क्षमता आलोचकों का हृदयावर्जन करती है। हृदय के क्षणक्षण परिवर्तनशील भावों का काव्य में विन्यास होने से संस्कृत का एक ही पद्य उस मनोरम चित्र के समान प्रतीत होता है जिसके अल्प कलेवर में समग्र अंगों का विन्यास बड़ी बारीकी के साथ किया गया रहता है। उसके पठनमात्र से पूरे अर्थों की एक झलक एक साथ ही पाठकों के मानसपटल के ऊपर अंकित हो जाती है। इस प्रकार संस्कृत के कवियों ने गम्भीर तथा सूक्ष्म भावों को कोमल पदावली के द्वारा अभिव्यक्त करने में आश्चर्यजनक सामर्थ्य दिखलाया है, परन्तु प्राकृत तथा लोकभाषा के साहित्य के उदय के साथ साथ जब संस्कृत व्यवहारक्षेत्र से हट कर केवल पण्डित-समाज के भीतर ही सीमित रह गई तब संस्कृत काव्यों में कृत्रिमता तथा बनावटीपन ने घर कर लिया। कवियों की दृष्टि अन्तरंग से हट कर बहिरंग के ऊपर ही जम गई। इस अवनतिकालीन कविता में वह प्रसादमयी भावना, वह अद्भुत प्रतिभा का विलास, वह सरस

---

[1] श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्। —दण्डी

हृदयावर्जक पदावली का विन्यास देखने को भी नहीं मिलता जो संस्कृत काव्य के उत्कर्षकाल में सदा ही उसके साथ सम्बद्ध रहते थे।

(४) काव्य का उदय तथा स्रोत

भारतीय काव्य के निर्माण की पूर्ण प्रेरणा कवियों को रामायण तथा महाभारत जैसे महनीय राष्ट्रीय महाकाव्यों के अध्ययन से प्राप्त हुई है; इसमें संशय करने का स्थान नहीं है। रामायण तथा महाभारत पाश्चात्य पद्धति से एपिक के अन्तर्गत होने पर भी उनकी रचना, शैली तथा विषय विवेचना में नितान्त पार्थक्य है जिसका संकेत पिछले अध्याय में विशेष रूप से दिया गया है। भारतीय महाकाव्य के विकाश में वेद से भी परम्परया स्फूर्ति-प्राप्ति का संकेत हमें यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। वेदों में देवस्तुति के अतिरिक्त तत्कालीन दानशील उदार राजाओं की श्लाघनीय स्तुतियाँ भी उपलब्ध होती हैं जिन्हें 'नाराशंसी' के नाम से अभिहित करते हैं। प्रभूत दान के कारण प्रत्युपकार की भव्य भावना से प्रेरित मन्त्रों को 'दानस्तुति' की संज्ञा प्राप्त है। ऋग्वेद में (५।६१) श्यावाश्व ऋषि ने अपने आश्रयदाता राजा तरन्त तथा उनकी विदुषी महिषी शशीयसी के दान की खूब प्रशंसा की है। अथर्ववेद राजा परीक्षित् के राज्यकाल में अनुभूयमान सौख्य की विपुल प्रशंसा में कतिपय मन्त्रों का उल्लेख करता है[1]। संहिता, विशेषतः ब्राह्मणों में, प्राचीन कीर्ति-सम्पन्न राजाओं के विषय में अनेक ग्राह्य गाथायें भी उद्धृत की गई हैं जिनमें प्राचीन ऐतिहासिक राजाओं के जीवन की किसी विशिष्ट घटना का साहित्यिक उल्लेख हमें प्राप्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के शुनः शेष तथा ऐन्द्रमहाभिषेक वाले अंशों में ऐसी मान्य गाथायें भूरिशः निर्दिष्ट की गई हैं।

---

[1] अथर्ववेद कांड २०, सूक्त १२७

इस प्रकार के उपकरणों की सत्ता होने पर भी कविजनों ने इनका विशेष उपयोग अपने काव्यों में नहीं किया। केवल कविमूर्धन्य कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीय नाटक में ऋग्वेदीय उर्वशी-पुरुरवा के संवाद को साहित्यिक काया प्रदान कर स्वीकृत किया है। परन्तु मुख्यतया रामायण तथा महाभारत ही संस्कृत श्रव्य तथा दृश्य काव्यों के अक्षय स्रोत हैं तथा संस्कृत गीति काव्यों का मूल आधार श्रीमद्भागवत की मनोरम गीतियाँ है। अतः इन तीनों को हमने उपजीव्य काव्य की कोटि में सम्मिलित किया है।

कतिपय पाश्चात्य विद्वानों की धारणा है कि प्राकृत काव्य संस्कृत काव्य को उत्तेजना देने वाला प्राचीनतर काव्य है जिसका अनुवाद करके ही संस्कृतभाषा में काव्यों का जन्म हुआ, परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रामक है और इन विद्वानों के केवल प्राकृतभाषा पक्षपात का ही एकमात्र द्योतक है। साहित्य जगत् में प्राकृत काव्यों का उदय न तो इतना प्राचीन ही है और न उसके संस्कृत में अनुवाद की बात का अब तक कोई निःसन्दिग्ध प्रमाण था पुष्ट आधार ही प्राप्त हुआ है कि पूर्वोक्त कथन को किसी प्रकार की सत्यता प्राप्त हो सके। अतएव यह मत अब त्याज्य कोटि में ही अपना उल्लेख पा सकता है।

संस्कृत काव्य के उत्थान तथा विकास के प्रसङ्ग में मैक्समूलर का 'काव्य के पुनर्जागरण' का सिद्धान्त, सर्वथा खण्डित तथा त्याज्य होने पर भी ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। विक्रम की आरम्भिक चार शताब्दियों में विदेशी शकों के प्रबल आक्रमणों के कारण भारत की अन्तरङ्ग दशा नितान्त अशान्त थी, राजनीतिक वातावरण एकदम क्षुब्ध था जिसके कारण काव्य पनप नहीं सका। साहित्य रचना के लिए आवश्यक शान्त वातावरण की छाया भी इस युग में दृष्टिगोचर नहीं होती। फलतः यह अन्धकारमय युग संस्कृत काव्य की घोर निशा का काल है और इस निद्रा का भंग तथा कल्पना का मंगलमय प्रभात

तब उदित हुआ, जब गुप्त साम्राज्य के वैभव का सूचक शंखनाद उद्घोषित हुआ। अतः गुप्तकाल में ललितकला का अभ्युदय सम्पन्न होने से संस्कृत काव्य का पुनर्जागरण मानकर मैक्समूलर ने विक्रम की आदिम शताब्दियों को कविता के अभाव का युग माना था।

परन्तु प्रकाशित शिलालेखों के गहरे अध्ययन से यह सिद्धान्त पूर्णतया भ्रान्त, निराधार तथा त्रुटिपूर्ण-प्रतीत होता है। डाक्टर ब्यूलर ने संप्रमाण सिद्ध किया है कि इस युग में भी कमनीय स्तुतिकाव्यों की रचना होती थी; दानी राजाओं की कीर्तियाँ प्रशस्त प्रशस्ति काव्यों में अंकित की गई हैं। यह युग गद्य तथा पद्य उभयविध काव्यों के प्रणयन का काल था। शक क्षत्रप रुद्रदामन् का गिरनार शिलालेख (समय १५० ईस्वी) अपनी शैली की रोचकता, भावप्रवणता तथा हृदयावर्जन के हेतु एक लघुकाय गद्य-काव्य का आनन्द देता है। आलोचनाविषयक ग्रन्थों की भी रचना तथा इस शास्त्र के सिद्धान्तों का स्थिरीकरण किसी न किसी प्रकार किया गया था। यहाँ रुद्रदामन् स्फुट, लघु, मधुर, चित्र, कान्त, शब्द-समय-सम्पन्न, उदार तथा अलंकृत गद्यपद्य की रचना में प्रवीण बतलाया गया है। गद्यपद्य के गुणबोधक ये शब्द नितान्त पारिभाषिक हैं और किसी मान्य आलोचना-सिद्धान्त की ओर स्पष्ट संकेत कर रहे हैं। कविवर हरिषेण की प्रयागवाली समुद्रगुप्त प्रशस्ति (समय ३५० ई०) समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन गद्यपद्य मिश्रित फड़कती भाषा में करती है। वत्स-भट्टि द्वारा निर्मित मन्दसोर की प्रशस्ति (समय ५२९ मालव संवत् = ४७३ ई०) वैदर्भी रीति का आश्रय लेकर सरस काव्य के विरचन में सिद्धहस्त कवि की कमनीय कृति है।

कवि वत्सभट्टि कविवर कालिदास के मेघदूत से अवश्य परिचित है क्योंकि उसके इस श्लोक में उत्तरमेघ के प्रथम श्लोक की स्पष्ट छाया है :—

चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि ।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूट—तुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥ १० ॥

मेघदूत—

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्ध-गम्भीर-घोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रसादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥

यह प्रशस्ति नाना छन्दों में निबद्ध ४४ पद्यों में है। दशपुर का वर्णन कवित्वपूर्ण है और काव्यकला के विकास का पर्याप्त बोधक है। इस प्रकार ईस्वी सन् की आदिम पाँच शताब्दियों की काव्य रचना में वही शैली मिलती है, वही वर्णनपद्धति अपनी झाँकी दिखलाती है, वही रसमय पदविन्यास अपना मञ्जुल रूप दर्शाता है जिसे हम संस्कृत के माननीय काव्यों में देखने के अभ्यस्त हैं। सूर्य का वर्णन नितान्त भव्य है—

यः प्रत्यहं प्रतिविभात्युदयाचलेन्द्र—
विस्तीर्णतुङ्गशिखरस्खलितांशुजालः ।
व्रीडाङ्गनाजनकपोलतलाभिताम्रः
पायात् स वः सुकिरणाभरणो विवस्वान् ॥

अधिक वृष्टि के कारण जब नदियाँ अपने किनारों से ऊपर होकर बहने लगीं तब कवि को प्रतीत होता है कि पर्वत मानों अपने मित्र समुद्र की ओर अपना नदीमय हाथ फैला रहा था—

अनेकतीरान्तजपुष्पशोभितो
नदीमयो हस्त इव प्रसारितः

हरिषेण के शब्दों में समुद्रगुप्त की विजय-प्रशस्ति से मण्डित यह स्तम्भ भूमि का बाहु प्रतीत होता है जो देवताओं से राजा की विमल कीर्ति के भ्रमण की सुन्दर कहानी कहने के लिए ऊपर उठा हुआ है—

कीर्तिमितस्त्रिदशपतिभवनगमनावाप्त—ललितसुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः

जिस युग में इतनी कोमल कल्पना का प्रश्रय देने वाली कविता की रचना होती हो, उसे 'कविता की निशा' बतलाना कहाँ तक औचित्यपूर्ण है ? इसकी विशेष मीमांसा अपेक्षित नहीं ।

इस प्रकार मैक्समूलर ने ईस्वी की आरम्भिक दो शताब्दियों में शकों के आक्रमण के कारण संस्कृत के साहित्यिक प्रयत्नों में ह्रास की कल्पना की थी, परन्तु इतिहास के साक्ष्य के आधार पर पश्चिमी शक संस्कृत के उन्नायक सिद्ध होते हैं, न कि विध्वंसक । शकों ने भारतीयत्व को स्वीकार कर अपने नामों को ही भारतीय नहीं बनाया, प्रत्युत भारतीय कला तथा धर्म को आश्रय दिया तथा १५० ईस्वी में ही संस्कृत भाषा को राष्ट्र भाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया । बौद्ध कवि अश्वघोष ने इसी युग में धर्म-प्रचार की बुद्धि से संस्कृत में अपने दो महाकाव्यों की रचना की । लोगों के हृदय को कोमल काव्य कला के द्वारा बौद्ध धर्म के प्रति आवर्जित तथा आसक्त बनाने की अश्वघोषीय घोषणा क्या इस बात की समर्थ सूचिका नहीं है कि काव्य की लोकप्रियता, प्रचार तथा प्रसार उनसे प्राचीन काल से ही होता आया था ? उन्होंने नवीन धारा की सृष्टि न कर केवल प्राचीन धारा की परम्परा से लाभ उठाने का ही प्रयास किया है । ऐसी दशा में नवीन ग्रन्थों के अन्वेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि विक्रम की आरम्भिक शताब्दियाँ संस्कृत काव्य-प्रणयन की दृष्टि से कम आदरणीय नहीं हैं ।

पाणिनि के नाम से सूक्ति संग्रहों में निर्दिष्ट पद्यों की सत्यता सिद्ध होने पर संस्कृत काव्य के उद्गम का युग अत्यन्त प्राचीन सिद्ध हो जाता है तथा मैक्समूलर की यह धारणा भी नितान्त निराधार प्रमाणित हो जाती है । पाणिनि के नाम से कमनीय पद्य केवल सूक्ति

ग्रन्थों में ही संगृहीत नहीं है, प्रत्युत कोश-ग्रन्थों में तथा अलंकार शास्त्रीय पुस्तकों में भी उद्धृत किये गये हैं। कई लेखकों ने तो पाणिनि के पद्यों में दोष दिखलाकर अपने ही नियमों के उल्लंघन का दोष भी वैयाकरण के मत्थे मढ़ा है। इन पद्यों को लेकर पाश्चात्य पण्डितों में तीव्र मतभेद है।

वैयाकरण पाणिनि तथा कवि पाणिनि की अभिन्नता

पुरातत्त्व वेत्ताओं में इस विषय में बड़ा मतभेद है कि ये कवितायें वैयाकरण पाणिनि की हैं या अन्य किसी 'पाणिनि' नामधारी कवि की? दोनों में व्यक्तिगत अभिन्नता है या भेद? डाक्टर भाण्डारकर, पीटर्सन आदि विद्वान् पाणिनि की शुष्क तथा वेदतुल्य भाषा और इन पद्यों की सरस तथा अलंकृत भाषा में विभिन्नता स्वीकार करते हुये यही कहते हैं कि इन श्लोकों का रचयिता वैयाकरण पाणिनि नहीं हो सकता। प्रौढालंकृत काव्यों का उद्गम वैयाकरण पाणिनि से बहुत इधर का है। उस समय में तो सरल सुभग भाषा का ही साम्राज्य था, साहित्यिक अलंकारों से विभूषित भाषा का प्रचार उस सूत्रकाल से कई शताब्दी उतर कर हुआ है। इस मत के विपरीत डाक्टर औफ्रेक्ट तथा डाक्टर पिशेल की सम्मति है कि पाणिनि को केवल एक खूसट वैयाकरण मानना बड़ी भारी भूल करना है, वह स्वयं अच्छे कवि थे। उसका मस्तिष्क नीरस व्याकरण के नियमों का भंडार भले हो, परन्तु उसका हृदय तो कमनीय काव्यकला का सुकुमार आकर था। रही अलंकृत भाषा की बात। तो वेद में भी क्या सरस कविता के भव्य निदर्शन नहीं पाये जाते? अवलोकनीय अलङ्कारों की अनुपम छटा वेद में भी क्या रसिक हृदय को मुग्ध नहीं बना डालती? जब वेद में ही अलंकृत भाषा के सुभग दर्शन होते हैं तब पाणिनि के पद्यों में अलंकार के साक्षात्कार से हमें घबड़ाना नहीं चाहिये, न वैयाकरण तथा कवि पाणिनि की अभिन्नता के विषय में

चीं-चपड़ करने के लिये उतारू होना चाहिये। जो कुछ हो, यह प्रश्न है बड़ा विकट और अपने निर्णय के लिए अधिक सामग्री चाहता है।

आधुनिक विद्वानों को छोड़कर जब हम संस्कृत साहित्य की परम्परागत प्रसिद्धि पर दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि पाणिनि ही इन पद्यों के निःसन्दिग्ध रचयिता माने गये हैं। सूक्तिग्रन्थों में राजशेखर ने पाणिनि की प्रशंसा करते हुये लिखा है :—

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं, काव्यमनु जाम्बुवतीजयम्॥

अर्थात् पहिले व्याकरण अनन्तर 'जाम्बवतीजय' काव्य के पैदा करनेवाले पाणिनि को नमस्कार है।

सदुक्तिकर्णामृत में विशिष्ट कवि-प्रशंसा के विषय में उद्धृत एक पद्य[1] में भी सुबन्धु, रघुकार (कालिदास), हरिचन्द्र (गद्य-काव्य लेखक), शूर, भारवि तथा भवभूति जैसे उत्कृष्ट कवियों के साथ साथ दाक्षीपुत्र का भी नाम उल्लिखित है। जहाँ तक हम जानते हैं 'दाक्षीपुत्र' से वैयाकरण पाणिनि का ही संकेत है क्योंकि महाभाष्य के अनेक स्थलों[2] पर यह विशेषण पाणिनि के लिये प्रयुक्त किया गया है। इस उल्लेख से भी दोनों की अभिन्नता सिद्ध होती है।

क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' नामक छन्दोग्रन्थ में पाणिनि के उपजाति छन्द को चमत्कार का सार बतलाया है :—

---

[1] सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे, हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः शूरः, प्रकृतिमधुरा भारविगिर-
स्तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते॥

[2] सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। [महाभाष्य १।१।२० पर]

स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः ।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः ॥

अब तक उद्धृत प्रमाणों से पाणिनि के कवि होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। परन्तु यह बात बड़े महत्त्व की है कि पाणिनि यदा-कदा फुटकर पद्य लिखनेवाले साधारण कवि नहीं थे, प्रत्युत संस्कृत साहित्य के सर्व प्रथम महाकाव्य के लिखने का श्रेय उन्हीं को ही प्राप्त है। इस महाकाव्य का नाम कहीं तो 'पाताल विजय' पाया जाता है और कहीं पर 'जाम्ववन्ती जय'।

रुद्रट कृत काव्यालंकार के टीकाकार 'नमि साधु' ने 'महाकवि भी अपशब्दों का प्रयोग करते हैं' इसे जतलाने के लिये पाणिनि के 'पाताल विजय' से 'सन्ध्यावधूं गृह्य करेण भानुः' को उद्धृत किया है जिसमें 'गृह्य' शब्द पाणिनीय व्याकरण से अशुद्ध है। अमरकोश के टीकाकार राय मुकुट ने निम्नलिखित पद्य-खण्ड को इकारान्त 'पृषन्ति' (जलबुन्द) शब्द के उदाहरण के वास्ते उद्धृत करते समय इसे 'जाम्बवती विजय'-का बतलाया है :—

पयः पृषन्तिभिः स्पृष्टाः वान्ति वाताः शनैः शनै ।

राजशेखर के ऊपर उद्धृत पद्य में, पुरुषोत्तम देव की भाषावृत्ति[1] में तथा शरणदेव की दुर्घट-वृत्ति[2] में पाणिनि के पद्यों को उद्धृत करते समय

---

[1] पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी की वैदिक भाषा के उपयोगी सूत्रों को छोड़ कर शेष सूत्रों पर एक सुन्दर टीका बनाई है। उसी का नाम 'भाषा-वृत्ति' है। यह लेखक बंगाल का रहनेवाला था और सम्भवतः बौद्ध था। 'वृत्ति' के टीकाकार सृष्टिधर के कथनानुसार इस ग्रन्थ की रचना लक्ष्मण-सेन की आज्ञा से की गई थी। अतः पुरुषोत्तमदेव का समय १२ वीं सदी का मध्य भाग है।

[2] शरणदेव भी बौद्ध थे और बंगाल के प्रसिद्ध सेनवंशी राजा लक्ष्मण-सेन के सभा-पण्डित थे। इनकी 'दुर्घट वृत्ति' में उन सब प्रयोगों की सिद्धि

उनके काव्य का नाम 'जाम्बवती जय' या 'जाम्बवती विजय' बतलाया गया है। जाम्बुवती को लाने के लिये कृष्ण भगवान् को पाताल में जाकर विजय प्राप्त करना पड़ा था। अतः 'पातालविजय' 'जाम्बवती विजय' का नामान्तर मात्र है, कोई विभिन्न ग्रन्थ नहीं। शरण देव की पुस्तक में अठारहवें सर्ग से एक पद्य उद्धृत किया[1] गया है जिससे जान पड़ता है कि यह महाकाव्य कम से कम अठारह सर्गों का अवश्य था। अतः भारतीय परम्परा से विरुद्ध कोई प्रबल प्रमाण न मिलने तक वैयाकरण पाणिनि तथा कवि पाणिनि की एकता में अविश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है।

पाणिनि का जीवनचरित तथा काल

जिस प्रकार पाणिनि का आविर्भाव काल अभी तक ठीक नहीं हो सका उसी प्रकार उनके जीवनचरित का ज्ञान भी हमें बहुत ही कम है। पाणिनि ने स्वयं कहीं भी अपने विषय में (जहाँ तक ज्ञात है) कुछ लिखा ही नहीं। परवर्ती ग्रन्थकारों ने पाणिनि की सम्मति उद्धृत करते समय इनके लिये कतिपय विशेषणों का प्रयोग किया है

बताई गई है जो आपाततः अपाणिनीय प्रतीत होते हैं। इनकी सिद्धि सूत्रों के बहुत से तोड़ मरोड़ करने पर की गई है। जयदेव के 'शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः' में दुरूह शब्दों के भी पिघलानेवाले जिस शरणदेव की प्रशंसा है वह यही हैं। 'दुर्घट वृत्ति' के देखने से ही जयदेव की यह प्रशंसा अक्षरशः सत्य प्रतीत होती है। इसमें अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के उद्धरण पाये जाते हैं इस ग्रन्थ की रचना ११७२ ई० में की गई थी। अतः शरण की आविर्भाव १२ वीं सदी में हुआ था।

[1] त्वया सहार्जितं यच्च यच्च सख्यं पुरातनम्।
चिराय चेतसि पुरस्तरुणीकृतमद्य ने।
—जाम्बवती विजये पाणिनिनोक्तम्.........
इत्यष्टादशे (सर्गे)।

जिनसे पाणिनि के विषय में कुछ ज्ञात होता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि को कई स्थानों पर 'दाक्षीपुत्र' तथा 'शालातुरीय' कहा है जिससे केवल इतना पता लगता है कि पाणिनि की माता का नाम 'दाक्षी' तथा जन्मस्थान का नाम 'शालातुर' था। जेनरल कनिंघम ने अनेक प्रबल प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि 'शालातुर' का वर्तमान नाम 'लाहुर' है जो पेशावर के आस-पास आज एक छोटा सा गाँव है। अष्टाध्यायी में उत्तरी भारत—खास कर अफगानिस्तान तथा सीमान्त-प्रदेश के सच्चे भौगोलिक उल्लेखों से भी यही जान पड़ता है कि पाणिनि का जन्म अवश्य ही भारत के पश्चिमोत्तरीय प्रदेश में हुआ था। विद्वानों का अनुमान है कि पाणिनि ने उसी स्थान पर विद्याध्ययन किया था जो बौद्धकाल में 'तक्षशिला' के नाम से सर्वप्रसिद्ध विद्यापीठ हुआ। भट्ट सोमेश्वर[1] ने लिखा है कि पाटलिपुत्र में रहनेवाले उपाध्याय वर्ष के पास पाणिनि विद्याध्ययन करते थे। आरम्भ में पाणिनि की बुद्धि बड़ी मोटी थी, कितने समझाने पर भी कोई विषय उन्हें हृदयंगम नहीं होता था। मानसिक व्यथा से पीड़ित होकर पाणिनि ने हिमालय में जाकर अखण्ड तपस्या की तथा शिवजी के प्रसाद से न केवल अपने सहपाठियों को—विशेषतः वररुचि को—ही परास्त किया बल्कि एक नये व्याकरण की सृष्टि की। इस कथानक से पाणिनि का पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) में शिक्षा पाना सिद्ध होता है। राजशेखर ने भी एक किम्वदन्ती का उल्लेख किया है[2] जिससे निश्चय रूप से जाना जाता है कि पाटलिपुत्र में पाणिनि की परीक्षा ली गई थी और इसमें

---

[1] कथासरित्सागर, ४ था तरंग, पृष्ठ ८ (निर्णय सागर प्रेस का संस्करण)

[2] श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—

अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः।
वररुचिपतंजली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः।

—काव्यमीमांसा, पृष्ठ ५५।

उत्तीर्ण होने पर उनकी ख्याति चारों ओर फैल गई। पंचतंत्र के एक आकस्मिक उल्लेख के आधार पर कहा जाता है कि व्याघ्र से पाणिनि की मृत्यु हुई थी।

यूरोपीय लेखक इन्हें ईसा से पूर्व चौथी सदी का बतलाते हैं परन्तु डाक्टर गोल्डस्टुकर[1] तथा डाक्टर भाण्डारकर[2] ने सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि पाणिनि बुद्ध के पहिले हो गये हैं और इनका समय कम से कम ईसा से ७०० वर्ष पूर्व है।

पाणिनि की कविता मधुर तथा सरस है। अलंकारों की छटा रसिक मन को अतीव आनन्दित कर रही है। ऐसी अनोखी उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग किया गया है कि हृदय-सागर में बलात् आनंद-लहरी उठने लगती है। श्रृंगार रस का ही विशेष वर्णन है। प्राकृतिक दृश्यों का अतिशय अलंकृत भाषा में वर्णन बड़ा ही सजीव तथा मनोहर है।

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः ।
धारानिपातैः सह किन्तु वान्तश्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास ॥

वर्षा-काल में मेघों की प्रचण्ड गर्जना हो रही है। पाणिनि की सम्मति में यह नीरस गर्जना नहीं है; बल्कि उनका करुण क्रन्दन है। बात यह है कि रात के समय अभिसारिका के मुख को बिजुली रूपी आँखों से देखकर मेघों को यह सन्देह हो रहा है कि कहीं हमारे धारा-सम्पात के साथ-साथ चंद्रमा जमीन के ऊपर तो नहीं गिर पड़ा है? यदि ऐसा नहीं है, तो गाढान्धकार में अभिसारिका का इतना चमकीला चेहरा कहाँ से आया? नायिका के परम कान्तिमय मुख की

---

[1] गोल्डस्टुकर 'पाणिनि तथा उनका संस्कृत साहित्य में स्थान' नामक ग्रन्थ में।

[2] भांडारकर 'दक्षिण का प्राचीन इतिहास' नामक ग्रन्थ में।

देखकर उन्हें चन्द्रमा का सन्देह हो रहा है। इस सन्देह में विभोर होकर वे इतना करुण-क्रंदन कर रहे हैं।

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम्
प्रसादयन्ती स-कलंकमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार।

शरत्काल में चन्द्रबिम्ब विमल हो जाता है, परन्तु आकाश में मेघों के न होने से सूर्य की गर्मी पहिले से और भी अधिक बढ़ जाती है। इस प्राकृतिक घटना पर पाणिनि ने विलक्षण कल्पना की सृष्टि की है। उनकी सम्मति में शरद् का व्यवहार नायिका के समान प्रतीत होता है। नायिका के समान शरद् शुभ्र पयोधरों (मेघ तथा स्तन) पर नखक्षत के समान रंगविरंगे इन्द्र धनुष को धारण करती हुई कलंकी चन्द्रमा (मानी उपनायक) को प्रसन्न (निर्मल) कर रही है और साथही-साथ सूर्य (नायक , के ताप (मानसिक दुःख तथा गर्मी) को भी अधिक बना रही है।

वररुचि

सूक्ति-संग्रहों में 'वररुचि' के नाम से बहुत से श्लोक उद्धृत किये गये हैं। न केवल 'सुभाषितावलि' तथा 'शारंगधरपद्धति' में ही इनके पद्य पाये जाते हैं बल्कि इनसे भी प्राचीन 'सदुक्तिकर्णामृत' में वररुचि-कृत श्लोकों की उपलब्धि होती है। यह वररुचि कौन थे ? इसे ठीक ठीक कहना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। पाणिनीय व्याकरण पर वार्तिक लिखनेवाले कात्यायन मुनि का भी नाम 'वररुचि' था, उधर 'प्राकृत प्रकाश' नामक प्राकृत के अति प्राचीन व्याकरण बनानेवाले भी कोई 'वररुचि' हो गये हैं। कवि वररुचि—जिनके पद्य सूक्तिग्रन्थों में संरक्षित हैं–इन दोनों से भिन्न थे या अभिन्न, इसे निश्चयपूर्वक सिद्धान्त रूप से बतलाना कठिन काम है। लेखक का अनुमान है कि कवि वररुचि तथा वार्तिककार कात्यायन दोनों एक ही व्यक्ति हैं। पतञ्जलि ने वररुचि के बताये हुये किसी काव्य-ग्रंथ (वाररुचं काव्यं) का

उल्लेख महाभाष्य में किया है। यह काव्य-ग्रन्थ आज कल उपलब्ध नहीं; परन्तु सम्भवतः इसका नाम 'कण्ठाभरण' था जिसका उल्लेख राजशेखर के निम्नलिखित पद्य में किया है:—

> यथार्थता कथं नाम्नि मा भूद् वररुचेरिह ।
> व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः ॥
>
> —सूक्तिमुक्तावलि ।

यदि वार्तिककार कात्यायन ही इन श्लोकों के रचयिता मान लिये जायँ, तो वररुचि का समय ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में होना चाहिये। कथासरित्सागर से साफ तौर से जाना जाता है कि वररुचि कात्यायन पाटलिपुत्र के प्रसिद्ध राजा नन्द के महामन्त्री थे। इन्होंने वहीं के 'वर्ष उपाध्याय' से सब विद्यायें पढ़ी थीं। व्याकरण के तो आप आचार्य ही हैं। डाक्टर भाण्डारकर ने कथासरित्सागर में उल्लिखित कथा को प्रामाणिक मानकर वररुचि (जिनका गोत्रज नाम 'कात्यायन' था) का समय ईसा से पूर्व चौथी सदी में माना है। इनकी कविता बड़ी मनोहारिणी है। माधुर्य तथा प्रसाद तो इसमें कूट-कूट कर भरा हुआ है। ऋतुओं के वर्णन में ही इनके अधिकतर श्लोक पाये जाते हैं। वर्णन सरल होने पर भी सजीव हैं तथा अलङ्कार से सुसज्जित हैं। वररुचि वास्तव में प्रकृति के प्रेमी पुरोहित थे। इनकी निरीक्षण-शक्ति बड़ी पैनी थी। अलङ्कारों की भी छटा खूब निराली है। छोटे-छोटे चुस्त अनुष्टुप् छन्दों में उपमा तथा उत्प्रेक्षा का ऐसा सुन्दर विन्यास देखकर सहृदय पुरुष मुग्ध हुये बिना नहीं रह सकते।

पतञ्जलि (१५० ई० पूर्व) ने अपने महाभाष्य में दृष्टान्त के ढंग पर बहुत से श्लोकों या श्लोकखण्डों को उद्धृत किया है जिनके अनुशीलन से संस्कृत काव्यधारा की प्राचीनता स्वतः सिद्ध होती है। पद्य के साथ गद्यकाव्य की भी प्राचीनता का पता पतञ्जलि स्पष्ट रूप से देते हैं। 'लुब् आख्यायिकाभ्यो बहुलम्' वार्तिक के व्याख्या-प्रसंग में

उन्होंने वासवादत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी नामक अनुपलब्ध आख्यायिका ग्रन्थों का नाम निर्देश किया है जिससे काव्य के इस प्रकार की प्रचुर लोकप्रियता का परिचय हमें मिलता है। इसके अतिरिक्त महाभाष्य में निर्दिष्ट काव्यग्रन्थ काव्य रचना की लोकप्रियता तथा व्यापकता की ओर संकेत करते हैं। 'वाररुचं काव्यं' पतञ्जलि के द्वारा निर्दिष्ट अद्यापि अनुपलब्ध एक ऐसा ही ग्रन्थ है। उस युग में नाटकों की रचना तथा अभिनय जनसाधारण के मनोरंजन का एक सामान्य साधन माना जाता था। पतञ्जलि ने कंसवध तथा बलिबन्धन से सम्बद्ध नाटकों का ही उल्लेख नहीं किया है, प्रत्युत उनके प्रत्यक्ष अभिनय के प्रकार का भी स्पष्ट निर्देश किया है। अतः ईस्वी पूर्व द्वितीय शतक में काव्य के नाना प्रकारों की रचनायें की जाती थीं। जनता में उनकी पर्याप्त लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि थी।

छन्दःशास्त्र के अनुशीलन से भी काव्य की प्राचीनता विशदरूपेण प्रमाणित होती है। पिंगल मुनि के 'छन्दः सूत्र' में नाना प्रकार के लौकिक तथा गीतिकाव्योचित छन्दों का विवरण उपन्यस्त है। वैदिक छन्दों से लौकिक छन्दों का विकाश तथा अभ्युदय गवेषणा का एक स्वतन्त्र विषय है, परन्तु नाना नवीन छन्दों की कल्पना अवश्यमेव तत्सम्बद्ध प्रचुर काव्य के निर्माण की ओर संकेत कर रही है। नवीन लौकिक छन्दों का नामकरण भी भिन्न भिन्न साधनों के आधार पर आश्रित था। कतिपय नाम तो छन्दों की स्वतः प्रवृत्ति, गति तथा लय के कारण प्रतीत होते हैं जैसे मन्द्राक्रान्ता (धीरे धीरे आक्रमण या गति वाली) द्रुत विलम्बित (शीघ्र तथा विलम्ब से चलने वाला छन्द), वेगवती, त्वरित गति आदि। कतिपय पुष्प तथा पौधों के नाम पर है जैसे माला और मञ्जरी। कतिपय पशुओं के शब्द तथा आचरण के आधार पर हैं जैसे शार्दूलविक्रीडित (सिंह जैसी क्रीड़ा), अश्वललित (घोड़ों का खेल) हरिणीप्लुता (मृगी की कूद), हंसरुता (हंसों की बोली), भ्रमर-

विलासित, तथा गजगति। परन्तु अधिकांश छन्दों का नाम सुन्दरियों के नाम पर है—तन्वी, रुचिरा, प्रमदा, प्रमिताक्षरा (परिमित शब्द-वाली), मञ्जुभाषिणी, शशिवदना, चित्रलेखा, विद्युन्माला, स्रग्धरा (माला धारण करने वाली)। इन नामों के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि इन छन्दों का नाम शृंगारात्मक विषयों में प्रथम प्रयोग के आधार पर है। डाक्टर याकोबी का कथन है कि इन छन्दों का निर्माण तथा संस्कृत काव्यों में प्रयोग विक्रमपूर्व शताब्दियों से सम्बन्ध रखता है और महाराष्ट्री प्राकृत में लिखित शृंगारात्मिका गीतिकाओंकी रचना की स्फूर्ति तथा उत्तेजना संस्कृत गीतिकाव्यों से प्राप्त हुई है।

इस प्रकार संस्कृतभाषा में काव्य का उदय विक्रमपूर्व शताब्दियां की एक महत्त्वशाली घटना है। पतञ्जलि से आरम्भ कर अश्वघोष (प्रथम शतक) तक के काव्यों की अप्राप्ति होने से इस पूर्व-अश्वघोष काव्यों का पर्याप्त परिचय हमें प्राप्त नहीं है। मेरी दृष्टि में संस्कृत काव्य का पूर्ण उदय विक्रमसंवत् के प्रतिष्ठापक विक्रमादित्य के समय में (विक्रम संवत् के आरम्भ काल से) हुआ। काव्य अपने रुचिकर निर्माण तथा रचना के निमित्त शान्त वातावरण, आर्थिक समृद्धि तथा सामाजिक शान्ति की जितनी अपेक्षा रखता है उतनी ही वह किसी गुणग्राही आश्रयदाता की प्रेरणा की भी। फलतः सामाजिक सौख्यपूर्ण व्यवस्था के साथ साथ किसी गुणग्राही नरपति की छत्रछाया की भी वह कामना करता है। प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास में वह युग विदेशी शकों के भयंकर आक्रमणों से भारतीय जनता, धर्म तथा संस्कृति के रक्षक, मालव संवत् के ऐतिहासिक संस्थापक शकारि मालव-गणाध्यक्ष विक्रमादित्य का समय है। इसी युग में भारतीय संस्कृति के उपासक हमारे राष्ट्रीय महाकवि कालिदास की भारती ने अपना अलौकिक चमत्कार दिखलाकर जनहृदय को आवर्जित किया था। पाश्चात्य आलो

चकों की दृष्टि में संस्कृत के प्रथम कवि अश्वघोष थे जिनके प्रभाव से प्रभावित होकर कालिदास ने गुप्त काल में अपने महनीय काव्यों की रचना की थी। परन्तु इतिहास के अचूक प्रमाणों के द्वारा प्रथम शतक में विक्रमादित्य का अस्तित्व सिद्ध होने पर कालिदास को उनका सभा-कवि मानना नितान्त औचित्यपूर्ण तथा प्रामाणिक है। यूरोपीय साहित्य में इसी समय रोम साम्राज्य के संस्थापक आगस्टस सीज़र के राजकवि वर्जिल ने अपना अमर महाकाव्य 'ईनीड' की रचना कर रोम साम्राज्य को प्राचीन गौरव से तथा लैटिन साहित्य को मान्य आद्य महाकाव्य से मण्डित किया था। मेरी दृष्टि में कालिदास वर्जिल के समकालीन थे और इस प्रकार संस्कृत तथा लैटिन उभय भाषाओं में महाकाव्य की प्रतिष्ठा एकही युग में मानना तुलनात्मक ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त समीचीन, शोभन तथा सुन्दर है।

पञ्चम परिच्छेद

कालिदास

कालिदास भारतीय तथा पाश्चात्य उभय दृष्टियों से संस्कृत के सर्वमान्य कवि माने जाते हैं। नाट्यकला की सुन्दरता निरखिये, काव्य की वर्णनछटा देखिये, गीतिकाव्य के सरस हृदयोद्गारों को पढ़िये, कालिदास की प्रतिभा सर्वातिशायिनी है। जितनी ख्याति उनके काव्यों की है, उनकी जीवनी तथा समय-निरूपण उतना ही अनिश्चित है। कालिदास की जन्मभूमि के विषय में बंगाल तथा काश्मीर के नाम लिये जाते हैं, परन्तु यह अभी तक अनिर्णीत ही है। कवि ने उज्जयिनी के लिये विशेष पक्षपात दिखलाया है जिससे यही इनकी जन्मभूमि प्रतीत होती है। मेघदूत (१।२९) में यक्ष रास्ता टेढ़ा होने पर भी 'श्रीविशाला विशाला' (उज्जयिनी) को देखने के लिये मेघ से आग्रह करता है। उज्जयिनी के विशाल महलों और रमणियों के कुटिल-कटाक्षों के देखने से यदि वह वंचित रह गया, तो उसका जीवन ही निष्फल है। कालिदास ने अवन्ती प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का सूक्ष्म वर्णन मेघदूत में किया है—वहाँ की छोटी-छोटी नदियों का भी नाम निर्देश किया है तथा वर्णन दिया है। उज्जयिनी के प्रति उनके विशेष पक्षपात तथा सूक्ष्म भौगोलिक परिचय के आधार पर यही कहा जा सकता है कि कालिदास यहीं के रहनेवाले थे।

स्थितिकाल

भारतीय जन-श्रुति के आधार पर कालिदास राजा विक्रमादित्य के नव-रत्नों के मुखिया थे। कालिदास के ग्रन्थों से भी उनकी विक्रम के साथ रहने की बात सूचित होती है। विश्वविख्यात शकुन्तला का अभिनय किसी राजा की—सम्भवतः विक्रम की—'अभिरूपभूयिष्ठा' परिषद् में ही हुआ था। 'विक्रमोर्वशीय' में पुरुरवा के नायक होने पर भी विक्रम का नामोल्लेख तथा 'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः' आदि वाक्य इस सिद्धान्त की पुष्टि कर रहे हैं कि कालिदास का विक्रम से सम्बन्ध अवश्य था। रामचन्द्र महाकाव्य के 'ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारातिना' आदि पद्यों से भी इसी सम्बन्ध की पुष्टि हो रही है। अतएव जबतक इसके विरुद्ध कोई प्रमाण न मिले, तब तक यह मानना अनुचित नहीं होगा कि कालिदास राजा विक्रम की सभा के रत्न थे।

कालिदास ने शुङ्गवंशी राजा अग्निमित्र को अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का नायक बनाया है। अतः वे विक्रम-पूर्व द्वितीय शतक के अनन्तर होंगे। इधर सप्तम शताब्दी में हर्षवर्धन के सभा-कवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में कालिदास की कविता की प्रशस्त प्रशंसा की है। अतः कवि का समय विक्रमपूर्व द्वितीय शतक से लेकर विक्रम की सप्तम शतक के बीच में कहीं होना चाहिये। कालिदास के समय के विषय में प्रधानतया तीन मत हैं—

पहला मत—कालिदास को षष्ठशतक का बतलाता है।

दूसरा मत—गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति मानता है।

तीसरा मत—विक्रम संवत् के आरम्भ में इनका समय बतलाता है।

प्रथम मत—भारतीय इतिहास में विक्रम उपाधिवाले चार राजाओं

छठी शताब्दी में कालिदास

का उल्लेख पाया जाता है जिनके समसामयिक होने से कालिदास का भी समय भिन्न भिन्न सदियों में माना गया है। डाक्टर[1] हार्नली का मत है कि यशोधर्मन ने—जिसने कारुर की लड़ाई में हूणवंश के प्रतापी राजा मिहिरकुल को बालादित्य नरसिंह गुप्त की सहायता से परास्त किया था—'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण की थी। अपने बड़े विजय के उपलक्ष में उसने नवीन सम्वत् चलाया जो विक्रम के नाम से व्यवहृत हुआ। परन्तु इसे प्राचीन सिद्ध करने की इच्छा से—इसके ऊपर प्राचीनता का पुट देने के लिये—उसने इसे ६०० वर्ष पूर्व से चलाया अर्थात् ५४४ ई० की विजय-घटना की यादगार में उसने अपने नवीन सम्वत् को ६०० पूर्व अर्थात् ५८ ईसवी पूर्व से स्थापित होने की बात प्रचारित की। विक्रम सम्वत् की यह नवीन कल्पना डाक्टर फर्गुसन ने की थी। हार्नली ने इसका उपयोग कालिदास के समय-निरूपण के लिये किया। उसने दिखलाया है कि रघु का दिग्विजय यशोधर्मन् की राज्यसीमा से बिल्कुल मिलता जुलता है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद[2] शास्त्री ने अनेक कौतुकपूर्ण प्रमाणों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कालिदास भारवि के अनन्तर छठी सदी में विद्यमान थे।

इस मत का खण्डन—परन्तु कालिदास को इतना पीछे मानना उचित नहीं प्रतीत होता। हूणों के पराजय करने पर भी यशोधर्मन् 'शकाराति'—शकों का शत्रु—नहीं कहा जा सकता। न उसके शिलालेखों से नवीन सम्वत् के स्थापन की घटना सच्ची प्रतीत होती है। विक्रम सम्वत् की स्थापना छठी सदी में यशोधर्मन् के द्वारा मानना

---

[1] जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी (J.R.A.S.) 1903 पृ. ५४५

[2] Age of Kalidasa—J. B. O. R. S. Vol II (विहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी की पत्रिका, भाग २) पृ० ३१-४४

ज्ञात इतिहास पर घोर अत्याचार करना है; क्योंकि मालव सम्वत् के नाम से यह सम्वत् अति प्राचीन काल में भी प्रसिद्ध था[1]। ४७३ ई॰ के कुमारगुप्त की प्रशस्ति के कर्त्ता वत्सभट्टि की रचना में ऋतुसंहार के कितने ही पद्यों की झलक दीख पड़ती है। ऐसी दशा में कालिदास को पाँचवीं सदी के अनन्तर मानना अनुचित है। अतः इस मत को प्रामाणिक मान कर कितने ही भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों ने गुप्त नरेशों के उन्नत समय में कालिदास की स्थिति बतलाई है।

गुप्तकाल में कालिदास

द्वितीय मत—गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति मानने वाले विद्वानों में भी कुछ कुछ भेद दीख पड़ता है। पूना के प्रोफेसर के॰ बी॰ पाठक की सम्मति में कालिदास स्कन्दगुप्त 'विक्रमादित्य' के समकालीन थे; परन्तु डाक्टर रामकृष्ण भंडारकर, साहित्याचार्य पं॰ रामावतार शर्मा तथा अधिकांश पश्चिमी विद्वान गुप्तों में सबसे अधिक प्रभावशाली चन्द्रगुप्त द्वितीय को कालिदास का आश्रयदाता मानते हैं।

(क) पाठक ने वल्लभदेव[2] के निम्नलिखित श्लोक के पाठ को प्रामाणिक मानकर पूर्वोक्त सिद्धान्त को निश्चित किया[3] है :—

---

[1] Bhandarkar—Vikrama Era in Bhandarkar Commemoration Volume.

[2] वल्लभदेव काश्मीर के निवासी थे। उन्होंने लघुत्रयी तथा बृहत्-त्रयी पर टीकायें लिखी हैं। मल्लिनाथ ने इन्हें प्रमाणकोटि में मान कर इनके मत का उल्लेख किया है। काश्मीर के निवासी होने से ये भारत की सीमान्त तथा उत्तरीय जातियों से अत्यन्त परिचित प्रतीत होते हैं। इसी कारण से इनके तद्विषयक पाठों पर पाठक ने विशेष श्रद्धा दिखलाई है।

[3] इण्डियन एंटिक्वेरी १९१२

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः ।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धोल्लग्नकुङ्कुमकेसरान् ॥

इस पद्य के 'सिन्धु' शब्द के स्थान पर वल्लभदेव ने 'वंक्षू' पाठ माना है। वंक्षू शब्द, पाठक को सम्मति में, Oxus (आक्सस) शब्द का संस्कृतीकरण है। अतः इस पाठ को प्रामाणिक मानने से यह कहना पड़ता है कि रघु ने हूणों को आक्सस नदी (जो पामीर से निकल कर अरल सागर में गिरती है) के किनारे उनके भारत आगमन के पहिले हराया था। यह घटना ४५५ ई० के पूर्व की ही हो सकती है क्योंकि उस वर्ष स्कन्दगुप्त के प्रबल प्रताप के सामने हार मान भग्न-मनोरथ होकर हूणों को लौटना पड़ा था। अतः रघुवंश को कालिदास की प्रथम रचना मानकर पाठक ने उन्हें स्कन्दगुप्त का समकालीन माना है। विजयचन्द्र मजुमदार ने कुछ अन्य प्रमाण देकर इन्हें कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त दोनों के समय में माना है[1]।

(ख) पश्चिमी विद्वान् शकों को भारत से निकाल बाहर करने वाले, विक्रमादित्य उपाधि धारणवाले, चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्य-काल में (जब भारत में चारो ओर शान्ति विराजमान थी और जो भारतीय कलाकौशल के पुनरुन्नति का काल माना जाता है) कालिदास को मानते हैं। रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रघु का दिग्विजय समुद्रगुप्त की विजय से सर्वथा मिलता जुलता है। रघु में वर्णित शान्ति[2] का समुचित काल चन्द्रगुप्त का ही समय था। इसके सिवाय इन्दुमती स्वयम्वर में उपस्थित मगधराज के लिये जो उपमा या विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं उनसे भी 'चन्द्रगुप्त' नाम की ध्वनि निकलती है।

---

[1] J. R. A. S. 1909. P. 731.

[2] वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि, को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्।

—रघु० ६।७५

अन्य प्रमाणों के आधार पर भी बहुत विद्वानों ने इसी समय को प्रामाणिक माना है। परन्तु गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति बताना ठीक नहीं, क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय ही प्रथम विक्रमादित्य नहीं थे बल्कि जब इनसे भी प्राचीन मालवा में राज्य करनेवाले विक्रम का पता इतिहास से चलता है, तब कालिदास गुप्तकाल में कैसे माने जा सकते हैं ?

विक्रम की ऐतिहासिकता

ऐतिहासिक खोज से ईस्वी-पूर्व प्रथम शताब्दी में शकों को परास्त करने वाले, विद्वानों को विपुल दान देने वाले उज्जयिनी नरेश राजा विक्रमादित्य के अस्तित्व का पता चलता है। हाल की "गाथासप्तशती"[1] में (रचनाकाल प्रथम शताब्दी) 'विक्रमादित्य' नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक का निर्देश है जिसने शत्रुओं पर विजय पाने के उपलक्ष्य में भृत्यों को लाखों का उपहार दिया था। जैन ग्रन्थों से इस बात की पर्याप्त पुष्टि होती है। मेरुतुङ्गाचार्य विरचित "पद्यावली" से पता चलता है कि उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से उज्जयिनी का राज्य लौटा दिया था। यह घटना महावीर निर्वाण के ४७० वें वर्ष में (५२७–४७० = ५७ ई० पूर्व) हुई थी। इसकी पुष्टि प्रबन्धकोश तथा शत्रुञ्जय माहात्म्य से होती है।

प्राचीन काल में 'मालव' नामक गणों का विशेष प्रभुत्व था। ईस्वी पूर्व तृतीय शतक में इसने क्षुद्रक गण के साथ सिकन्दर का सामना किया था, पर विशेष सहायता न मिलने से पराजित हो गया था। यही मालव जाति ग्रीक लोगों के सतत आक्रमण से पीड़ित होकर राजपूताने

---

[1] संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्त चरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥

—गाथा सप्तशती ५।६४

की ओर आई और मालवा में ईस्वी पूर्व प्रथम-द्वितीय शताब्दी में अपना प्रभुत्व जमाया। यह गणराज्य था और विक्रमादित्य इसी गणतन्त्र के मुखिया थे। शकों के आक्रमण को विफल बनाकर विक्रम ने 'शकारि' की उपाधि धारण की और अपने मालवगण को प्रतिष्ठित किया। इसीलिए इस संवत् का 'मालवगण स्थिति 'नाम पड़ा था[1]। गणराज्य में व्यक्ति की अपेक्षा समाज का विशेष महत्त्व होता है। अतः यह संवत् गणमुख्य के नाम पर ही अभिहित न होकर गण के नाम पर 'मालव संवत्' कहलाता था। अतः ई० पू० प्रथम शतक में विक्रम नाम-धारी राजा या गणमुखिया का परिचय इतिहास से भलीभाँति लगता है। इन्हीं की सभा में कालिदास की स्थिति मानना सर्वथा न्यायसंगत है।

बौद्ध कवि अश्वघोष का समय निश्चित है। कुषाण नरेश कनिष्क के समकालीन होने से उनका समय ईस्वी सन् प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनके तथा कालिदास के काव्यों में अत्यधिक साम्य है। कथानक की सृष्टि, वर्णन की शैली, अलंकारों का प्रयोग, छन्दों का चुनाव—आदि अनेक विषयों में कालिदास का प्रभाव अश्वघोष पर पड़ा है। अश्वघोष प्रधानतः सर्वास्तिवादी दार्शनिक थे। काव्य की ओर उनकी अभिरुचि का होना तथा उसे धर्मप्रचार का साधन मानना काव्यकला के उत्कर्ष का द्योतक है (सौन्दरनन्द १८।६३)। और यह उत्कर्ष कालिदास के प्रभाव का ही फल है। बुद्धचरित में अश्वघोष ने कालिदास के बहुत से श्लोकों का अनुकरण किया है। रघुवंश के ७ वें सर्ग में (श्लोक ५–१५) कालिदास ने स्वयम्वर से लौटने पर अज को

---

[1] मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये ।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्वने ॥३४॥

—वत्सभट्टिः मन्दसोर शिलालेख

देखने के लिए आने वाली उत्सुक स्त्रियों का बड़ा ही अभिराम वर्णन किया है। अश्वघोष ने बुद्धचरित में (तृतीय सर्ग, १३-२४ पद्य) ठीक ऐसे ही प्रसंग का वर्णन किया है। कुमारसम्भव में ये ही पद्य मिलते हैं। यदि कालिदास ने इसे अश्वघोष के अनुकरण पर लिखा होता, तो वे दो बार प्रदर्शन कर अपना ऋण नितान्त अभिव्यक्त न कर उसे छिपाने का प्रयत्न करते। कालिदास की भाव-सुन्दरता अश्वघोष के द्वारा सुरक्षित न रह सकी। तुलना करने से कालिदास का समय अश्वघोष से प्राचीन प्रतीत होता है। अतः कालिदास का समय इस्वीपूर्व प्रथम शतक में ही मानना नितान्त युक्तियुक्त है।

शाकुन्तल में सूचित सामाजिक तथा आर्थिक दशा का अनुशीलन सूचित करता है कि कालिदास बौद्ध से प्रभावित युग के कवि थे जब हिन्दू देवी देवताओं के विषय में श्रद्धाविहीन विचार प्रचलित थे। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल की नान्दी में भगवान् शिव की अष्टमूर्तियों का वर्णन किया है। इस नान्दी में 'प्रत्यक्षाभिः' शब्द का प्रयोग कर कवि ने तत्कालीन देवताविषयक अविश्वास को दूर करने का प्रयत्न किया है। जिस शिव की अष्ट-मूर्तियों का हमें प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है—जिनका साक्षात्कार हमें अपनी आँखों से हो रहा है, उस देवता के विषय में अश्रद्धा कैसे टिक सकती है? अविश्वास कैसे रह सकता है? इसी प्रकार षष्ठ अंक में कालिदास ने कर्तव्य कर्म होने के कारण यज्ञ-यागादि का विधान ब्राह्मण के लिये आवश्यक बतलाया है। बौद्धों ने हिंसापरक होने के कारण यज्ञों की भर पेट निन्दा की है। परन्तु शाकुन्तला में एक पात्र कहता है कि क्या यज्ञों में पशु मारनेवाले श्रोत्रिय का हृदय दयालु नहीं होता? कुल परम्परागत धर्म का परित्याग क्या कभी श्लाघनीय है? अतएव यज्ञों का अनुष्ठान सर्वदा श्रेयस्कर है; परन्तु उसके हिंसापरक होने पर भी याज्ञिक ब्राह्मणों का हृदय कोमल होता है—

सहजे किल जे विणिन्दिए णहि तक्कम्म विवज्जणिज्जए ।
पशुमालणकम्मदालुणे अनुकम्पा मिदु एव्व शोत्तिए ॥
[सहजं किल यत् विनिन्दितं न खलु तत् कर्म विवर्जनीयम् ।
पशुमारण-कर्मदारुणः अनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ॥]

इस वर्णन से जान पड़ता है कि कवि ने बौद्ध धर्म के कारण यज्ञों के विषय में होनेवाली निन्दा या अश्रद्धा को दूर करने का उद्योग किया है। अतः कालिदास का जन्म उस समय में हुआ था, जब बौद्ध धर्म के प्रति अश्रद्धा बढ़ती जाती थी तथा ब्राह्मण धर्म का अभ्युदय हो रहा था। यह समय ब्राह्मणवंशी सुंग नरेशों (द्वितीय शतक विक्रम पूर्व) के कुछ ही पीछे होना चाहिये। अतः विक्रम संवत् के प्रथम शतक में कालिदास को मानना सर्वथा न्यायसंगत प्रतीत होता है।

ग्रन्थ

कालिदास की सच्ची रचनाओं का निर्णय करना आलोचकों के लिए एक दुष्कर कार्य है क्योंकि कालिदास की काव्य जगत् में ख्याति होने पर अवान्तरकालीन बहुत से कवियों ने 'कालिदास' के प्रसिद्ध अभिधान धारण कर अपने व्यक्तित्व को छिपा रखा। कम से कम राजशेखर (१० शतक) ने तीन कालिदासों की सत्ता का पूर्ण संकेत किया है[१]। एक तो परम्परा की अविच्छिन्नता और दूसरे अनेक कालिदासों की सत्ता—दोनों ने मिलकर इस समस्या को जटिल तथा अमीमांस्य बना रखा है।

साधारण जन 'ऋतु संहार' को कालिदास की मान्य तथा सच्ची

---

[१] एको न जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्
शृंगारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु।

—सूक्तिमुक्तावली

कृति मानते हैं। उनकी दृष्टि में बालकवि कालिदास ने काव्यकला का आरम्भ इसी ऋतुवर्णन-परक लघुकाव्य से किया। छः सर्गों में विभक्त यह काव्य ग्रीष्म से आरम्भ कर वसन्त तक छहों ऋतुओं का बड़ा ही स्वाभाविक, अकृत्रिम तथा सरल वर्णन प्रस्तुत करता है। परन्तु इसे कालिदासीय कृति मानने में आलोचकों में ऐकमत्य नहीं है। उनकी दृष्टि में न तो इसमें कालिदास की कमनीय शैली या वाग्वैदग्धी का परिचय मिलता है, न इसमें बाल-रचना की पुष्टि में ही कोई प्रमाण मिलता है। भारतीय दृष्टि से ऋतुओं का वर्णन रूढ़िगत तथा सर्वथा सामञ्जस्य-पूर्ण है। अलंकार ग्रन्थों में उद्धरण का अभाव भी उक्त सन्देह की पुष्टि सा करता प्रतीत होता है।

कुमारसम्भव—कालिदास की सच्ची निःसन्दिग्ध रचना है। इसमें कवि ने कुमार कार्तिकेय के जन्म के वर्णन का संकल्प किया था, परन्तु यह महाकाव्य अधूरा ही है। इसके वर्तमान १७ सर्गों में से आदि के सात सर्ग तो कालिदास की लेखनी के चमत्कार हैं ही, अष्टम सर्ग भी उनका ही निःसंशय निर्माण है। आलंकारिकों तथा सूक्तिसंग्रहों ने इन्हीं सर्गों में से पद्यों को उद्धृत किया है। कालिदासीय कविता के प्रवीण परखी मल्लिनाथ ने इतने ही सर्गों पर अपनी 'संजीवनी' लिखी है। इन आदिम अष्ट सर्गों में विषय की दृष्टि से पूर्ण ऐक्य है। कविता का चमत्कार सहृदयों के लिए नितान्त हृदयावर्जक है। 'जगतः पितरौ' शिव-पार्वती जैसे दिव्य दम्पती के रूप तथा स्नेह का वर्णन नितान्त औचित्यपूर्ण तथा ओजस्वी है। केवल अष्टम सर्ग का रतिवर्णन आलंकारिकों के तीव्र कटाक्ष का पात्र बना है। पंचम सर्ग में पार्वती की कठोर तपश्चर्या का वर्णन जितना ओजपूर्ण, उदात्त तथा संश्लिष्ट है उतना ही तृतीय सर्ग में शिवजी की समाधि का वर्णन भी है। ९ से लेकर १७ सर्ग किसी साधारण कवि के द्वारा लिखित प्रक्षेपमात्र है।

रघुवंश—भारतीय आलोचना रघुवंश को कालिदास का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मानती है और इसीलिए कालिदास के लिए ही 'रघुकार' (रघुवंश का रचयिता) अभिधान का प्रयोग किया गया है। ग्रन्थ की लोकप्रियता तथा व्यापकता का परिचय विभिन्न काल में निर्मित ४० टीकाओं के अस्तित्व से भी भली भाँति मिल सकता है। रघु के जन्म की पूर्वपीठिका से ही इस काव्य का आरम्भ होता है। दिलीप के गोचारण से रघु का जन्म होता है (द्वितीय तथा तृतीय सर्ग) जो अपने अदम्य पराक्रम से पूरे भारतवर्ष के ऊपर दिग्विजय करते हैं (चतुर्थ सर्ग) और अपनी अद्भुत दानशीलता दिखला कर लोगों को चकित कर देते हैं (पंचम सर्ग)। इसके अनन्तर तीन सर्गों में इन्दुमती का स्वयम्वर, अन्य समवेत राजाओं को परास्त कर रघुपुत्र अज का इन्दुमती से विवाह तथा कोमल माला के गिरने से इन्दुमती का मरण तथा अज का करुण विलाप क्रमशः वर्णित हैं। दसवें सर्ग से लेकर १५ वें सर्ग तक रामचरित्र का विस्तृत वर्णन है। यहाँ कालिदास ने जम कर रामचन्द्र के चरित्र का वैशिष्ट्य बड़ी ही सुन्दरता से प्रदर्शित किया है। त्रयोदश सर्ग में पुष्पकारूढ़ राम के द्वारा भारतवर्ष के पवित्र स्थलों का रुचिर वर्णन कालिदास की प्रतिभा का ही विलास है। चतुर्दश सर्ग सीता के चरित्र की सुषमा से आलोकित है। राम के द्वारा परित्यक्ता गर्भभरालसा जनकनन्दिनी के प्रणय-सन्देश में जो आत्म-गौरव, जो स्नेह भरा हुआ है वह पतिव्रता के चरित्र का उत्कर्ष है। अन्तिम कतिपय सर्गों में कालिदास नाना राजाओं के चरित्र को सरसरी तौर से निरखते चले गये हैं, परन्तु अन्तिम १९ वें सर्ग में कामुक अग्निवर्ण का चित्रण बड़ी ही मार्मिकता के साथ कवि ने किया है। देखने में रघुवंश अधूरा सा दीखता है, परन्तु कालिदास ने यहाँ प्रभुशक्ति की कल्पना में अपने विचारों को पूर्ण रूपेण अभिव्यक्त कर दिया है। प्रकृतिरंजन के कारण राज की समृद्धि होती है तथा प्रकृतिहिंसन के कारण राज का सर्वनाश

होता है—यह उपदेश बड़े ही अच्छे ढंग से रघुवंश के अनुशीलन से प्रकट हो रहा है।

मेघदूत

मेघदूत कालिदास की अनुपम प्रतिभा का विलास है। वियोग-विधुरा कान्ता के पास यक्ष का मेघ के द्वारा प्रणय-संदेश का भेजना मौलिक कल्पना है। सम्भव है यह हनुमान् को दूत बनाकर भेजने की रामायणीय कथा अथवा हंसदूत की महाभारतीय कथा के द्वारा संकेतित किया गया हो, परन्तु इसका संविधानक तथा विषयोपन्यास कवि की मौलिक सूझ के परिणाम हैं। इसकी लोकप्रियता तथा व्यापकता का निदर्शन विपुल टीका सम्पत्ति से (लगभग ५० टीकायें) तो लगता ही है। साथ ही साथ तिब्बती तथा सिंघली भाषा में इसके अनुवाद से यह विशेषतः पुष्ट होती है। 'मेघदूत' को आदर्श मानकर संस्कृत में निबद्ध एक विपुल काव्यमाला है जो 'सन्देश काव्य' के नाम से विख्यात है[1]। पूर्वमेघ में कवि ने रामगिरि से अलका तक के मार्ग के वर्णनावसर पर समस्त भारतवर्ष की प्राकृतिक सुषमा का अभिराम उपन्यास किया है—यह बाह्यप्रकृति के सौन्दर्य तथा कमनीयता का उज्ज्वल प्रदर्शन है, तो उत्तरमेघ मानव-हृदय के सौन्दर्य तथा अभिरामता का विमल चित्रण है। यक्ष का प्रेम सन्देश उसके कोमल हृदय का, स्वाभाविक स्नेह का तथा नैसर्गिक सहानुभूति का एक मनोरम प्रतीक है और इस उदात्त प्रेम का अभिव्यञ्जक, काव्य सुषमा तथा भावसौष्ठव से मण्डित यह ग्रन्थ रसका अक्षय्य स्रोत है जिसकी भावधारा सूखने की अपेक्षा प्रतिदिन आनन्दातिरेक से वृद्धिगत ही होती जा रही है।

---

[1] द्रष्टव्य इंडियन हिस्टारिकल कार्टरली, कलकत्ता, जिल्द-४।

कालिदास के नाटक

कालिदास की दीर्घ सांसारिक अनुभूतियों तथा लोकव्यवहार की गाढ़ प्रवीणता का परिचय हमें उनके नाटकों से मिलता है। उन्होंने तीन नाटकों का प्रणयन किया है। ये मानवहृदय की विभिन्न परिस्थितियों में उदीयमान वृत्तियों का लोकव्यवहार के साथ पूर्ण सामञ्जस्य के साथ चित्रण करते हैं। इन नाटकों में प्रेममूलक आख्यान को ही कविवर ने कथावस्तु के रूप में परिगृहीत किया है, परन्तु यहाँ प्रेम की नाना अवस्थाओं का दिग्दर्शन बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। 'मालविकाग्निमित्र' में प्रतिकूल परिस्थिति में रहकर भी राजसी अन्तःपुर में पनपने वाले यौवन-सुलभ प्रेम का चित्र है, तो 'विक्रमोर्वशीय' में यौवन की उद्दाम वासना से उत्पन्न कामुक पुरुष को प्रेमिका के विरह में एकदम पागल बना देने वाले प्रेम का निरूपण है। 'शाकुन्तल' की स्थिति इन दोनों से भिन्न है। यहाँ काम की तपस्या तथा साधना के द्वारा, वियोग की ज्वाला से विशुद्ध बनने वाले प्रेम में परिणति का अभिराम चित्र प्रस्तुत किया गया है। कालिदास के इन तीनों नाटकों में वस्तु तथा रस की दृष्टि अनुपम वैशिष्ट्य है।

'मालविकाग्निमित्र' में शुंगवंशीय नरेश अग्निमित्र तथा मालविका के प्रेम का अभिराम चित्रण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आश्रय लेकर कमनीयता के साथ अंकित किया गया है। कवि ने राजाओं के अन्तःपुर की चहारदिवारी के भीतर विकसित होने वाले काम, रानियों की परस्पर ईर्ष्या, राजा की कामुकता, महिषी धारिणी की धीरता तथा उदात्तता का चित्रण बड़े अनुभव के साथ किया है। 'विक्रमोर्वशीय' में कालिदास ने एक वैदिक प्रेमाख्यान को, ऋग्वेद (१०।९५) तथा शतपथ ब्राह्मण (११।५।१) में निर्दिष्ट पुरुरवा तथा उर्वशी की प्रेम कथा को, कमनीय नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है।

इस प्राचीन प्रेमाख्यान ने अपनी प्रौढ़ता तथा चमत्कार के कारण कवि का ध्यान आकृष्ट किया। पुरुरवा नितान्त उपकारपरायण भूपाल है और वह राक्षस से उर्वशी का उद्धार करता है। इसी प्रसंग में उर्वशी उसके अलौकिक रूप पर आसक्त होकर उसकी अनेक शर्तों के साथ रानी बनना स्वीकार करती है। उसके वियोग में पुरुरवा पागल बनकर जंगल में मारा मारा फिरता है। कवि ने पुरुरवा के उद्दाम प्रेम का, संसार के समग्र बन्धनों को तोड़ कर बहने वाली कामसरिता का, चित्रण बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। यहाँ कवित्व का ही विलास अधिक है, नाटकीय कौशल का कम। इस नाटक में कवि ने प्रणय तथा प्रणयोन्माद को ही प्रधान प्रतिपाद्य बनाया है।

शाकुन्तल अथवा अभिज्ञान-शकुन्तल—यह कालिदास का सब से प्रसिद्ध नाटक है। भारतीय आलोचकों ने तो इसे नाटकसाहित्य में सब से श्रेष्ठ बतलाया है—"काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला"। पश्चिमी विद्वानों ने भी अपनी दृष्टि से इसे अत्युत्तम नाटक माना है। इस नाटक में सात अंक हैं। पहले अंक में हस्तिनापुर का राजा दुष्यंत आखेट करने के लिये वन में जाता है और संयोगवश महर्षि कण्व के आश्रम में शकुन्तला से साक्षात्कार करता है। उसकी जन्मकथा सुन उसके हृदय में शकुन्तला के लिये अनुराग उत्पन्न होता है। द्वितीय अंक में ऋषियों की प्रार्थना पर आश्रम की रक्षा करने के लिये वह स्वयं वहीं रह जाता है। तृतीय अंक में राजा और शकुन्तला का समागम है। चतुर्थ अंक में कण्व तीर्थयात्रा से लौटकर आश्रम में आते हैं और शकुन्तला को आपन्नसत्त्वा जान गौतमी तथा शारद्वत और शार्ङ्गरव नामक दो शिष्यों के साथ हस्तिनापुर भेजते हैं। शकुन्तला का आश्रम से जाने का दृश्य बड़ा ही करुणोत्पादक है। पञ्चम अंक में शकुन्तला हस्तिनापुर पहुँचती है, परन्तु दुर्वासा के अभिशाप के कारण राजा उसे पहचानता नहीं। इस प्रत्याख्यान के बाद ऋषियों के चले जाने पर

शकुन्तला को कोई दिव्य ज्योति आकाश में उठा ले जाती है और मारीच के आश्रम में वह अपनी माता मेनका के साथ निवास करती है। षष्ठ अंक में राजा की नामाङ्कित अंगूठी मछुए के पास से राजा को मिलती है जिसे देखते ही दुष्यन्त को शकुन्तला की स्मृति हो जाती है; वह अपनी 'प्रियतमा के प्रत्याख्यान से अत्यन्त विह्वल हो उठता है। अन्त में इन्द्र की सहायता करने के लिये स्वर्ग लोक में जाता है। सप्तम अंक मे' दुष्यन्त विजय प्राप्त कर स्वर्ग से लौटता है और मारीच-आश्रम मे' अपने पुत्र तथा प्रियतमा का साक्षात्कार करता है। इसी मिलन तथा मारीच के आशीर्वाद के साथ नाटक समाप्त होता है।

शकुन्तला कालिदास की अनुपम कृति है। यह आरम्भ से अन्त तक नाट्यकला का प्रशंसनीय निदर्शन है। साहित्य की दृष्टि से यह तो श्रेष्ठ है ही, साथ ही साथ इसमें' आध्यात्मिक रहस्यों की ओर भी संकेत किया गया है। चौथे अंक मे' 'अयमहं भोः' (मैं यह आया) की द्वार पर ऊँची पुकार लगानेवाले, पवित्र तपोजीवन के लिए आह्वान करनेवाले, दुर्वासा ऋषि अरण्यवास, सादा जीवन, विलास-रहित आचरण तथा तपश्चर्या के प्रतीक हैं। छिपे चोर की तरह वृक्षों की ओट से प्रवेश करनेवाले दुष्यन्त विलासिता के प्रतीक हैं। दुर्वासा का तिरस्कार करके दुष्यन्त को अपना हृदय देने वाली शकुन्तलारूपी भारतभूमि की शोचनीय दशा देखकर किसके हृदय में' सहानुभूति की सरिता नहीं उमड़ पड़ती? तपोमार्ग के अवलम्बन करने से असीम शान्ति तथा नित्य अक्षय्य सुख की प्राप्ति देखकर कौन मनुष्य तपोमय जीवन बिताने के लिए शिक्षा नहीं ग्रहण करता? शकुन्तला की दुर्दशा को दिखला कर क्या कालिदास ने गान्धर्व विवाह की प्रथा को दूषित नहीं बतलाया है?

शकुन्तला तथा दुष्यन्त का चरित्र-चित्रण कालिदास ने जिस खूबी

के साथ किया है, वह भी अवलोकनीय है। चतुर्थ अंक में कालिदास के प्रकृति-प्रेम तथा प्रकृतिदेवी की सजीव मूर्ति का दर्शन किसे रसमय नहीं बनाता ? प्रथम अङ्क में आश्रम का कैसा सच्चा वर्णन किया गया है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने दिखलाया है कि अनुसूया प्रियंवदा जैसे सजीव पात्रों की तरह तपोवन का अस्तित्व भी ठीक सजीव है। तपोवन के न रहने पर शकुन्तला कुछ और ही होती। तपोवन का प्रभाव शकुन्तला के चरित्र में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। सच्चा प्रेम पाने का कितना सुन्दर साधन बतलाया गया है। कठिन तपस्या के पहले सच्चा प्रणय पैदा नहीं हो सकता, वह तो केवल कामवासना है। जब तक काम तपस्या के कठोरानल में—वियोग की कराल आग में—दग्ध होकर शुद्ध नहीं बनता, तब तक सच्चा स्नेह उद्भूत ही नहीं होता। दुष्यन्त-शकुन्तला का प्राथमिक प्रेम केवल काम के साँचे में ढला था, उसमें स्वार्थ के जहरीले कीट पैदा हो गये थे। प्रत्याख्यान किये जाने पर शकुन्तला शान्त मन से मारीच के आश्रम में तपस्या में अनुरक्त होती है और दुष्यन्त स्वयं पश्चात्ताप तथा वियोग की भीषण बड़वाग्नि में अपने को तप्त कर शुद्ध करता है। तब कहीं जाकर सच्चे स्नेह की प्रतिमा उनके सामने झलकती है।

समीक्षण

महाकवि कालिदास की कविता देववाणी का शृंगार है। माधुर्य का मधुर निवेश, प्रसाद की स्निग्धता, पदों की सरस शय्या, अर्थ का सौष्ठव, अलंकारों का मञ्जुल प्रयोग—कमनीय काव्य के समस्त लक्षण कालिदास की कविता में अपना भव्य अस्तित्व धारण किये हुए हैं। कालिदास भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं जिनके पात्र भारतीयता की भव्य मूर्ति हैं। जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में विशेष रूप से होगी, जनता

का वही सच्चा प्रिय कवि होगा। कालिदास की विशेषता इसी में है। भारतीय समाज का सच्चा रूप उनके काव्यों में झाँकता है तथा उनके नाटकों में अपना अभिनय करता है। कालिदास की कविता का प्रधान गुण है वर्ण्य-विषय तथा वर्णन-प्रकार में मञ्जुल सामञ्जस्य। कालिदास चुने हुए थोड़े शब्दों में जिन भावों की अभिव्यक्ति कर रहे हैं उन्हें दूसरा कवि विस्तार से लिखकर भी प्रकट नहीं कर सकता। वह जिसे छू देते हैं वह सोना बन जाता है। औचित्य के तो वे प्रवीण मर्मज्ञ हैं। जिन भावों का जिन शब्दों के द्वारा प्रकटन कलात्मक तथा रुचिर होगा, वे उन भावों को उन्हीं शब्दों में प्रकट कर अपनी भावुकता का परिचय देते हैं।

कालिदास के काव्यों में हृदयपक्ष का प्राधान्य है। कवि मानव हृदय की परिवर्तनशील वृत्तियों को समझने तथा उन्हें अभिव्यक्त करने में उद्भुत चातुरी रखता है। संसार का अनुभव उसे गहरा था तथा ऐसे अनुभवों के मार्मिक- पक्ष ग्रहण करने में अपूर्व भावुकता थी। आनन्दवर्धन तथा जर्मन महाकवि गेटे ने एक स्वर से कालिदास के भावों की उदात्तता तथा महनीयता की एक स्वर से प्रशंसा की है।

कालिदास स्वतन्त्र प्रतिभासम्पन्न कवि हैं जिन्होंने अपने काव्यों की शैली का रूप निरूपण स्वयं किया है। रसमयी पद्धति अथवा 'सुकुमार मार्ग' के कवि ने अपने भावों की तीव्रता तथा उदात्तता के संचार के लिए अलंकारों का भी प्रयोग बड़े ही औचित्य से किया है। 'उपमा कालिदासस्य' का भारतीय आभाणक वस्तुतः सच्चा है। उनकी उपमायें लोक तथा प्रकृति के मार्मिक स्थलों से संगृहीत की गई हैं तथा विषय को उज्ज्वल करने और काव्यसुषमा की वृद्धि में नितान्त समर्थ हैं। अन्तर्जगत् तथा बहिर्जगत् से चुने जाने के कारण इन उपमाओं में एक विलक्षण चमत्कार है। रस वर्णन में भी कालिदास अपूर्व हैं। संभोग के उन्मीलन के समान वियोग के उन्मेष में भी वे सर्वथा समर्थ

हैं। कुमारसम्भव (चतुर्थ सर्ग) में रति का मदन के लिए विलाप तथा रघुवंश (अष्टम सर्ग) में अज का इन्दुमती के लिए विलाप— दोनों मिलकर करुणरस के समस्त वृत्त को पूर्ण करते हैं। मेघदूत में विरही यक्ष का अपनी वियोगविधुरा पत्नी के लिए मेघ के द्वारा सन्देश भेजना मौलिक कल्पना है। यक्षपत्नी का वर्णन इतना करुणोत्पादक है कि उसके पाठकों के हृदय में करुणा का संचार हुए बिना नहीं रहता।

कालिदास की उपमायों की रसात्मिकता तथा रसपेशलता नितान्त मर्मस्पर्शी है। औचित्य तथा सन्दर्भ को शोभन बनाने की कला उनमें अपूर्व है। तपस्या के लिए आभूषणों को छोड़कर केवल वल्कल धारण करने वाली पार्वती चन्द्र तथा ताराओं से मण्डित होने वाली अरुणोदय से युक्त रजनी के समान बतलाई गई है (कुमार ५।४४)। स्तनों के भार से किंचित् झुकी हुई आतपसन्निभ लालवस्त्र को धारण करने वाली पार्वती फूलों के गुच्छी से झुकी हुई नवीन लाल पल्लवों से मण्डित संचारिणी लता के समान प्रतीत होती है—

पर्याप्त-पुष्पस्तवकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥

इन्दुमती स्वयस्वर में उपस्थित भूपालों को छोड़कर जब आगे बढ़ जाती है, तब वे राजमार्ग पर दीपशिखा के द्वारा छोड़े गये महलों के समान प्रतीत होते हैं। यहाँ राजाओं की विषण्णता तथा उदासी की अभिव्यक्ति इस उपमा के द्वारा बड़ी सुन्दरता से की गई है—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ
यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्र-मार्गाट्ट इव प्रपेदे
विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥

इसी उपमा-प्रयोग के सौन्दर्य के कारण यह महाकवि 'दीपशिखा कालिदास' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

कालिदासीय उपमा की यह भूयसी विशिष्टता है कि वह 'स्थानीय रञ्जन' (लोकल कलरिंग) से रंजित है और इससे श्रोता के चक्षुःपटल के सामने समग्र चित्र को प्रस्तुत कर देती है। पदस्त किये जाने पर पुनः प्रतिष्ठित किये गये वंगीय नरेश रघु के चरण कमल के ऊपर नम्र होकर उन्हें फलों के समृद्ध बनाते हैं जिस प्रकार उस देश के धान के पौदे (रघु० ४।३७)। कलिंग-नरेश के मस्तक पर तीक्ष्ण प्रताप के रखने वाले रघु की समता गंभीरवेदी हाथी के मस्तक पर तीक्ष्ण अंकुश रखने वाले महावत से की गई है (रघु० ४।३९)। प्राग्ज्योतिपपुर के नरेश रघु के आगमन पर उसी प्रकार झुक जाते हैं जिस प्रकार हाथियों के बाँधने के कारण कालागुरु के पेड़ झुक जाते हैं (रघु० ४।८१।) इन समस्त उपमाओं में 'स्थानीय रञ्जन' का आश्चर्यजनक चमत्कार है।

प्रकृति से गृहीत उपमाओं में एक विलक्षण आनन्द है। राक्षस के चंगुल से बचने पर बदहोश उर्वशी धीरे धीरे होश में आ रही है। इसकी समता के लिए कालिदास चन्द्रमा के उदय होने पर अन्धकार से छोड़ी जाती हुई (मुच्यमाना) रजनी, रात्रिकाल में धूमराशि से विरहित होने वाली अग्नि की ज्वाला, बरसात में तट के गिरने के कारण कलुषित होकर धीरे धीरे प्रसन्न-सलिला होने वाली गंगा से साथ देकर पाठकों के नेत्रों के सामने तीन सुन्दर दृश्यों को एक साथ उपस्थित कर देते हैं। ये तीनों उपमायें औचित्य-मण्डित होने से नितान्त रसाभिव्यञ्जक हैं —

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
नैंशस्यार्चिर्हुतभुज इव छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गंगा रोधःपतनकलुषा गृह्णतीव प्रसादम् ॥
—विक्रमोर्वशीय १।९

पात्र-चित्रण

कालिदास के पात्र जीवनी शक्ति से सम्पन्न जीते-जागते प्राणी हैं। उनकी शकुन्तला प्रकृति की कन्या, आश्रम की निसर्ग बालिका है जिसके जीवन को बाह्य प्रकृति ने अपने प्रभाव से कोमल तथा स्निग्ध बनाया है। हिमालय की पुत्री पार्वती तपस्या तथा पातिव्रत का अपूर्व प्रतीक है जिसके कठोर तपश्चरण के आगे ऋषिजन भी अपना माथा टेकते हैं। धीरता की मूर्ति धारिणी, चपल प्रेम की प्रतिमा मालविका, उन्मत्त प्रेम की अधिकारिणी उर्वशी, पारस्परिक ईर्ष्या तथा प्रणय मान की प्रतिनिधि इरावती संस्कृत-साहित्य के अविस्मणीय स्त्री-पात्र हैं। आदर्श पात्रों के सर्जन में रघुवंश अद्वितीय है। देवता और ब्राह्मण में भक्ति, गुरुवाक्य में अटल विश्वास, मातृरूपिणी पयस्विनी की परिचर्या, अतिथि की इष्टपूर्ति के लिए धरणीधर राजा की व्याकुलता, लोकरंजन के निमित्त तथा अपने कुल को निष्कलंक रखने के लिए नरपति के द्वारा अपनी प्राणोपमा धर्मपत्नी का निर्वासन-कालिदासीय आदर्श सृष्टि के कतिपय दृष्टान्त हैं। कालिदास रमणी के स्निग्धरूप के चित्रण में ही समर्थ नहीं हैं, प्रत्युत नारी के स्वाभिमान तथा उदात्त रूप के प्रदर्शन में भी कृतकार्य हैं। रघुवंश के चतुर्दश सर्ग (६१-६७ श्लोक) में चित्रित राजा राम के द्वारा परित्यक्त जनकनन्दिनी जानकी का चित्र तथा उनका राम को सन्देश कितना भावपूर्ण, गम्भीर तथा मर्मस्पर्शी है। राम को 'राजा' शब्द के द्वारा अभिहित करना विशुद्ध तथा पवित्र चरित्र धर्मपत्नी के परित्याग के अनौचित्य का मार्मिक अभिव्यञ्जक है—

वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत् समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत् सदृशं कुलस्य ?' ॥

—रघु० १४।६१

सीता के चरित्र की उदात्तता का परिचय इसी घटना से लग सकता है कि इतनी विषम परिस्थिति में पड़ने पर भी वह राम के लिए एक भी कुशब्द का प्रयोग नहीं करती, बल्कि अपने ही भाग्य को कोसती है तथा अपनी ही निन्दा बारम्बार करती है।

पुरुष पात्रों का चित्रण भी उतना ही स्वाभाविक तथा भावपूर्ण है। गुरु की आज्ञा से नन्दिनी का सेवक दिलीप जितना सुन्दर चरित्र में है, वरतन्तु की इच्छापूर्ति करने वाला वीर रघु भी उतना ही श्लाघनीय है। रामचन्द्र का चरित्र इस महाकविने बड़ी कोमल तूलिका से चित्रित किया है। राम प्रजारंजक हैं साथ ही साथ मानव भी हैं। वैदेही की निन्दा सुनकर राम के हृदय के विदरण की समता आग में तपे हुए अयोघन द्वारा आहत लोहे के साथ देकर कवि ने राम के हृदय की कठोरता तथा कोमलता की मार्मिक अभिव्यक्ति की है—

कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे॥

—रघु० १४।३३

राम का हृदय लोहे के समान कठोर अथच तप्त होने पर कोमल है। अकीर्ति की उपमा अयोघन (लोहे का घन) के साथ देकर कवि उसकी एकान्त कठोरता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर रहा है। राम का स्वाभिमानी हृदय कहीं व्यक्त होता है। (१४।४१), तो कहीं उनकी मानवता राजभाव के ऊपर झलकती है (१४।८४)। लक्ष्मण के लौट कर सीतासन्देश सुनाने पर राम की आँखों में आँसू छलकने लगते हैं—यह राजभाव के ऊपर मानवता की विजय है।

बभूव रामः सहसा सवाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः॥

—रघु० १४।८४

शाकुन्तल की समीक्षा

शाकुन्तल नाटक कालिदास के ग्रन्थों में ही शीर्षस्थानीय नहीं है अपि तु वह संस्कृत नाटक-मणिमाला का शोभमान सुमेरु है—महनीय मध्यमणि है। कथानक पुराना है। महाभारत के आदि पर्व में शकुन्तला तथा दुष्यन्त का आख्यान वर्णित हैं, परन्तु यह कथानक नितांत नीरस, अरोचक तथा आदर्श-विहीन है। दुष्यन्त आश्रम में जाता है। कण्व उपस्थित नहीं है। शकुन्तला से उनकी चार आँखें होती हैं। दोनों के हृदय में परस्पर प्रेम की मधुर भावना जाग्रत हो उठती है, परन्तु किसी प्रौढ़ व्यवहार-कुशला पुरन्ध्री की तरह शकुन्तला बहुवल्लभ दुष्यन्त से विवाह करना तभी स्वीकार करती है जब वह उसके पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाने का वचन देता है। दोनों का प्रेममिलन होता है। राजा उसे छोड़कर राजकार्य देखने के लिए हस्तिनापुर चला जाता है। शकुन्तला को पुत्र पैदा होता है—वह बड़ा होता है। कण्व राजा के पास पुत्र के साथ शकुन्तला को भेजते हैं, पर राजा उसे अस्वीकार करता है। ठीक उसी समय आकाशवाणी होती है—भरस्व पुत्रं दौष्यंतिं सत्यमाह शकुन्तला—'शकुन्तला सच बोलती है। पुत्र तुम्हारा ही है। उसका रक्षण करो।' राजा तब अपनी जानकारी प्रकट करता है—इस विषय से मैं परिचित था परन्तु अपने सभासदों के सामने स्वीकार करते हुये लज्जा से हिचकता था। आकाशवाणी की सचाई पर वह शकुन्तला को अपनी हृदय की तथा महल की रानी बनाता है। बस, महाभारत का यही संक्षिप्त कथानक है—निष्प्राण, निर्जीव तथा निरीह कथानक। दुष्यन्त समाज-भीरु छली व्यक्ति है जो अपने हृदय की बातें को सुनकर भी अनसुनी कर देता है—जानकर भी असत्य भाषण करता है। शकुन्तला नितान्त वयस्का नारी है जिसमें हृदय कम है, मस्तिष्क ही अधिक है—

शाकुन्तलका मूल आख्यान

पुत्र के लिये राज्यपद के वचन पर ही अपना कोमल हृदय देने के लिये तैयार होती है। ऐसे उपकरणों को कालिदास की अमर लेखनी ने इतना सुन्दर सुसज्जित रूप दिया है कि उसकी प्रभा विदग्धों के हृदय को स्निग्ध करती है—आदर्शवादियों के सामने भारतीय संस्कृति के अनुरूप आदर्शों की सृष्टि करती है—सौन्दर्य तथा प्रेम का, स्वार्थ तथा परमार्थ का, लोक तथा परलोक का अनुपम सामञ्जस्य उपस्थित करती है।

शाकुन्तल में परिवर्तन

कालिदास ने वस्तुविन्यास में चरित चित्रण की सुषमा बनाये रखने के लिये अनेक परिवर्तन किये हैं। शकुन्तला के शील की रक्षा के लिये उन्होंने अनुसूया और प्रियम्वदा जैसी सखियों की कल्पना की है जो अपनी सखी के भविष्य की चिन्ता स्वयं कर उसे चिन्ताभार से मुक्त बनाती हैं। दुष्यन्त के आदर्श चरित्र की सिद्धि के लिये उन्होंने दुर्वासा के शाप की कल्पना प्रस्तुत की है। दुष्यन्त जान बूझकर प्रेयसी शकुन्तला के साथ गान्धर्व विवाह की बात भूल नहीं जाता, प्रत्युत उसके सिर पर चलते जादू की तरह कोपन ऋषि का अभिशाप चक्कर काट रहा था। राजा अपने महाभारतीय प्रतिनिधि के समान अपनी विवाहिता को इच्छापूर्वक विस्मृति के गर्त में नहीं डाल देता। वह तो एक बड़े अभिशाप के वश में होकर अपने आपको ही भूल बैठता है। पंचम से लेकर सप्तम अंक की वस्तु—शकुन्तला का प्रत्याख्यान, उसकी तपश्चर्या तथा पुनर्मिलन—कवि के उर्वर मस्तिष्क की अनुपम उपज है। इस प्रकार शकुन्तला का कथानक दो विरोधी मानस प्रवृत्तियों के तुमुल संघर्ष पर आश्रित है। इन प्रवृत्तियों के नाम हैं—काम और धर्म, वासना और कर्तव्य। नाटक के आरम्भिक तीन अंकों में काम का राज्य है और उत्तरार्ध में धर्म की विजय है। वासना के वश में होने से राजा का पतन होता है परन्तु कर्तव्य की ओर अग्रसर होने पर उसका उत्थान होता है। इस प्रकार समग्र शाकुन्तल नाटक 'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि' का जीवन्त साहित्यिक दृष्टान्त है।

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण कालिदास की विशिष्टता है। उनके हाथों में निर्जीव दुष्यन्त सजीव हो उठता है; रूक्षप्राया शकुन्तला परम स्निग्ध रूप धारण कर हमारे लोचनों के सामने झाँकती है। दुष्यन्त प्रजावत्सल, उदात्त चरित्र धीरोदात्त नायक है। उसका हृदय धर्मभावना से उत्तान है। ऋषियों के तपोवन में वह शान्त भाव से प्रवेश करता है—अपनी राजस राजसी वेशभूषा को हटाकर वह शान्त चित्त से कण्वाश्रम में प्रवेश करता है; मुनिकन्याओं से शिष्टता से वार्तालाप करता है। आश्रम की रक्षा करने के लिए अपनी ममतामयी माता के स्नेहमय आग्रह को टाल देता है, गान्धर्व विधि से शकुन्तला से विवाह करता है, उसे बुलाने का वचन भी दे आता है, परन्तु दुर्वासा के शापवश वह हस्तिनापुर जाते ही अपनी प्रेयसी को भूल जाता है। यह हुआ उसका पतन। हरिण का आखेट वह करने जाता है, पर स्वयं काम का शिकार बन जाता है। यदि नाटक का पर्यवसान यहीं हो जाता तो यह एक सामान्य रचना ही बन कर रहता। परन्तु षष्ठ और सप्तम अंकों में राजा दुष्यन्त पार्थिव जगत् से ऊपर उठता है और आध्यात्मिकता तथा तपस्या की साधना से वह उस दिव्य लोक में पहुँच जाता है जहाँ काम का धर्म से कोई विरोध नहीं होता, भोग और योग का मनोरम सामञ्जस्य घटित होता है; स्वार्थ और परमार्थ घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं। यह है दुष्यन्त चरित्र का अभ्युत्थान। इसी के प्रदर्शन में कालिदास की कमनीय कला की चरम अभिव्यक्ति है। दुष्यन्त का आदर्श रूप हमें इस घोषणा में मिलता है जिसका सिंहनाद समग्र भारतवर्ष को मुखरित करता था—

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥

अतएव जर्मन महाकवि गेटे की प्रशस्त प्रशंसा नितान्त औचित्य-पूर्ण है। गेटे की प्रशंसा का यह संस्कृतरूप है :—

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्,
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो—
रैश्वर्यं यदि वांछसि प्रियसखे! शाकुन्तलं सेव्यताम्॥

कवीन्द्र रवीन्द्र ने शेक्सपीयर के टेम्पेस्ट नाटक तथा कालिदास के शकुन्तला का सुन्दर सरस विषय तारतम्य दिखलाया है:—'टेम्पेस्ट में शक्ति है. शाकुन्तल में शक्ति है; टेम्पेस्ट में बल के द्वारा जय हुई है और शाकुन्तल में मंगल के द्वारा सिद्धि। टेम्पेस्ट में आधे मार्ग पर विराम हो गया है और शाकुन्तल में सम्पूर्णता का अवसान है। टेम्पेस्ट में मिरांडा सरल माधुर्य मे परिपूर्ण है, परन्तु इस सरलता का नींव अज्ञता-अनभिज्ञता-पर अवलम्बित है; शकुन्तला की सरलता अपराध, दुःख, अभिज्ञता, धैर्य तथा क्षमा से परिपक्व गम्भीर तथा स्थायी है। गेटे की समालोचना का अनुसरण कर मैं फिर भी यही कहता हूँ कि शकुन्तला के आरम्भ के तरुणसौन्दर्य ने मङ्गलमय परम परिणति से सफलता प्राप्त कर मर्त्य को स्वर्ग के साथ सम्मिलित करा दिया हैं।'

सौन्दर्यभावना

कालिदास शृंगार तथा प्रेम के भावुक कवि हैं। अतः उनकी दृष्टि सौन्दर्य की कोमल भावना को पहचानने तथा प्रकट करने में नितान्त चतुर है। उनका रसमय हृदय इन सौन्दर्य वर्णनों में झाँकता हुआ दीख पड़ता है। वे बाह्यप्रकृति और अन्तः प्रकृति के पूरे सामरस्य के उपासक हैं। बाह्यप्रकृति जो अभिरामता प्रस्तुत करती है वही अभिरामता अन्तःप्रकृति में भी विद्यमान है। तभी तो हमारे कवि की दृष्टि में शकुन्तला कोमल लता के समान लावण्यमयी प्रतीत होती है—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सनद्धम्॥

शकुन्तला का अधर नये पल्लव की लालिमा लिए है; बाहू कोमल शाखाओं का अनुकरण करते हुए झुके हुए हैं। विकसित फूल के समान लुभावना यौवन अंगों में प्रस्फुटित हो रहा है। पार्वती के अधर पर मधुर मुस्कान की शोभा वनस्पति जगत् में कवि को मिलती है। यह अनूठा वर्णन कवि के गाढ अनुवीक्षण का परिचय देता है—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात् मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥
कुमार० १।४४

यदि उजला फूल ईषद्-रक्त नये पल्लव पर रखा जाय और यदि मोती लाल लाल मूँगों पर निहित हो, तभी ये दोनों पार्वती के लाल होठों पर फैली हुई मधुर मुसकराहट की समता पा सकते हैं।

रससिद्धि

कालिदास रससिद्ध कविराज हैं जिनके यशरूपी शरीर में जरा-मरण का तनिक भी भय नहीं है। जिस रस की ओर उनकी दृष्टि झुकती है उसे ही वे अनूठे तौर पर अभिव्यक्त कर देते हैं, पर श्रृंगार और करुण रसों की कुछ विलक्षण चारुता इनकी कविता में है। शाकुन्तल में प्रेम और करुण का अपूर्व सम्मेलन है।

चौथे अंक में, जहाँ शकुन्तला अपने पतिगृह जा रही है, कवि ने जैसा करुण चित्र अंकित किया है वैसा शायद ही कहीं चित्रित हो। दुष्यन्त के पास प्यारी कन्या शकुन्तला को भेजते समय संसार के विषय से विमुख होने पर भी कण्व की कैसी दशा है! देखिये—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया,
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः,
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥
—शकुन्तला ४।५

आज शकुन्तला पतिगृह को चली जायगी। इससे उत्कण्ठा के मारे मेरा हृदय उच्छ्वसित हो रहा है। आँसुओं के अवरोध के कारण कण्ठ गद्गद हो रहा है, चिन्ता से दृष्टि शिथिल हो गई है, पास की चीज भी नहीं देख सकता; मैं तो अरण्यवासी हूँ; जब संसारी न होने पर भी प्रेम के कारण मेरी ऐसी विह्वल दशा हो गई है तब अपनी पुत्री को, पहिले-पहल पतिगृह भेजते समय गृहस्थों को कितना दुःख होता होगा?

शकुन्तला के इस अंक में कालिदास ने प्रकृति और मनुष्य को एक घनिष्ठ प्रेम-बन्धन से बँधा हुआ दिखाया है। आश्रम की बालिका शकुन्तला को अलंकृत करने के लिये प्रकृति स्नेह से आभूषण वितरण कर रही है। मृग का छौना शकुन्तला को जाने नहीं देता। प्रकृति पत्तों के गिरने के व्याज से आँसू बहाती है। प्रकृति तथा मनुष्य का ऐसा सहानुभूति-वर्णन संस्कृत-साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। यह दृश्य कालिदास के प्रकृष्ट प्रकृति-प्रेम तथा असीम करुण-रस की वर्णन शैली का सुस्पष्ट परिचायक है।

महर्षि कण्व शकुन्तला की बिदाई की आज्ञा प्रकृति से माँग रहे हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्याः भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

—शकुन्तला ४ ८

हे वृक्ष! शकुन्तला पहिले तुम्हें जल पिलाये बिना स्वयं जल न पीती थी; नवल पल्लवों के गहने पहनने की शौकीन होने पर जो प्रेम के मारे तुम्हारे पल्लवों को नहीं तोड़ती थी, जो तुममें पहिले-पहल फूल आने पर खूब उत्सव मनाती थी, वह आज पतिगृह जा रही है। तुम सब जाने की अनुमति दो।

शकुन्तला के जाते समय तपोवन कितना दुःख प्रगट कर रहा है:—

उग्गलिअदब्भकवला मिगा परिच्चत्तणच्चणा मोरा ।
ओसरिअपंडुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ ॥
[उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूरी ।
अपसृतपाण्डुपत्राः मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः] ॥
—शकुन्तला ४।११

मृगीगण कुश के ग्रास को वियोग से दुःखी होकर गिरा रहे हैं। शकुन्तला के आश्रम छोड़ने से वे इतनी शोक-ग्रस्त हैं कि उन्हें खाना नहीं सुहाता। जो मयूरी आनन्दोल्लास में नाच रही थी उसने अपना नाचना छोड़ दिया। लताओं से पीले पीले पत्ते झड़ रहे हैं, मानों वे आँसुओं को बरसा रही हैं। प्रकृति के गोद में पाली गई शकुन्तला आज अपने प्यारे आश्रम-सहचरों को छोड़कर भारत की महारानी बनने जा रही है। कण्व का गला बँध जाना सहज है, प्रियम्वदा तथा अनसूया की भी विह्वलता बोध-गम्य है, परन्तु अचेतना प्रकृति का यह हार्दिक शोक, अन्तःकरण की करुणदशा को व्यक्त करनेवाली प्रकृति की यह मूकवाणी, सच्चे सहृदय के अतिरिक्त किसे सुनाई पड़ती है? प्रकृति में मानव-वियोग का यह आन्दोलन बिना किसी मार्मिक कवि के अन्तश्चक्षु के किन नेत्रों से प्रत्यक्ष किया जा सकता है? मनुष्य तथा प्रकृति का यह दर्शनीय वियोग किस रसिक की हृदय तन्त्री को निनादित नहीं करता?

प्रकृति-वर्णन

कालिदास प्रकृतिदेवी के प्रवीण पुरोहित थे। उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यों को सावधानता से हृदयंगम किया था। इनके प्राकृतिक वर्णन इतने सजीव हैं कि वर्णित वस्तु हमारे नेत्रों के सामने नाच उठती है। बाह्य प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करना तथा उनका मार्मिक अंश ग्रहण करना कालिदास की महती विशेषता है। मनुष्य

तथा प्रकृति—दोनों का मञ्जुल सम्पर्क तथा अद्भुत एकरसता दिखाकर कवि ने प्रकृति के भीतर स्फुरित होनेवाले हृदय को पहचाना है। भारतीय प्राकृतिक वर्णनों में एक विचित्रता है। पाश्चात्य कवियों के वर्णन प्रायः आवरणहीन होते हैं, परन्तु संस्कृत कवियों के वर्णन अलंकृत होते हैं—ये महाकवि प्रकृति को सुन्दर अलंकारों से सजाकर पाठकों के सामने लाते हैं। कालिदास के वर्णन नितान्त सूक्ष्म, सुन्दर तथा संश्लिष्ट रूप में होते हैं। मेघदूत भारतीय कवि की अद्भुत प्रतिभा के द्वारा चित्रित भारतश्री का एक नितान्त सरस चित्रण है। 'ऋतु संहार' में समस्त ऋतु अपने विशिष्ट रूप में प्रस्तुत होकर पाठकों का मनोरञ्जन करते हैं। रघुवंश के प्रथम सर्ग (४९—५३ पद्य) में तपोवन का तथा त्रयोदश में त्रिवेणी का (५४—५७ श्लोक) सुन्दर वर्णन कल्पना के साथ निरीक्षण शक्ति का मञ्जुल सामरस्य है।

कालिदास की निरीक्षण शक्ति अत्यन्त सूक्ष्म तथा पैनी है। उनका प्रकृति वर्णन वैज्ञानिक तथा प्रतिभामण्डित है। इसके रमणीय उदाहरण सर्वत्र दीख पड़ते हैं। पर्वत के झरनों पर जब दिन के समय सूर्य की किरणें पड़ती हैं तब उनमें इन्द्रधनुप चमकने लगता है, परन्तु सन्ध्या के समय सूर्य के लटक जाने पर उनमें इन्द्रधनुष नहीं दिखलाई पड़ते। इस वैज्ञानिक तथ्य तथा निरीक्षण-चातुरी का प्रत्यक्ष वर्णन में कालिदास ने इस पद्यमें किया है—

सीकर-व्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति ।
इन्द्र-चाप-परिवेष-शून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी ॥

—कुमार ८ ३१

किन्तु झरनों में इन्द्रधनुप के न दिखलाई पड़ने पर भी तालाबों के जल में लटकते हुए सूर्य की समतल कान्ति पड़ने से ऐसा जान पड़ता है मानों उनके ऊपर सोने का पुल बना हो—

पश्य पश्चिम-दिगन्त-लम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता।
लब्धया प्रतिमया सरोऽम्भसां तापनीयमिव सेतु-बन्धनम् ॥

—कुमार ८.३४

ये उक्तियां रूढ़ि का अनुसरण करने वाले कवि की नहीं हो सकतीं वरन् ये उक्तियाँ उस कवि की हैं जो मुग्ध दृष्टि से प्रकृति की शोभा देखते हुए सब कुछ भूल जाता है। इस तथ्य का प्रत्यक्ष दृष्टान्त हिमालय का वर्णन है। संस्कृत कवियों में कालिदास को हिमालय सब से अधिक प्यारा था और गाढ़ परिचय होने से उनके वर्णन नितान्त तथ्यमण्डित, वैज्ञानिक तथा शोभन हैं। गुहा के भीतर कामकेलि में निरत किन्नरमिथुन के लिए जलद का तिरस्कारिणी होना, वृष्टि से उद्वेजित ऋषिजनों का धूपवाले शिखर का आश्रय लेना, हाथियों के द्वारा विघट्टित सरल द्रुमों (चीड़ के पेड़) से बहने वाले दूध का हवा के झोंके से सर्वत्र फैलना, जल वृष्टि का करका के रूप में परिवर्तन होना—आदि हिमालय प्रदेश की भौतिक विशेषतायें कवि के सूक्ष्म अवलोकन-शक्ति के जागरूक दृष्टान्त हैं।

कालिदास के प्रकृति-वर्णन में अनेक वैशिष्ट्य हैं। कवि मानव सौन्दर्य की तीव्रता तथा यथार्थता के अभिव्यञ्जन के निमित्त प्रकृति का आश्रय लेता है, तो कहीं वह प्रकृति के ऊपर मानव भावों तथा व्यापारों का ललित आरोप करता है। कहीं वह प्रकृति और मानव के बीच परस्पर गाढ़ मैत्री, सहज सहानुभूति तथा रमणीय रागात्मक वृत्तिका सम्बन्ध जोड़ता है, तो कहीं प्रकृति को भगवान् की ललित लीलाका निकेतन मानकर आनन्द से बिभोर हो जाता है। निःसन्देह कालिदास प्रकृति के अन्तस्तल के सूक्ष्म पारखी महाकवि हैं जिनकी दृष्टि प्रकृति के सौम्य रूप, माधुर्यमय प्रवृत्ति, स्निग्ध सौंदर्य के ऊपर रीझती है तथा उग्रता और भीषणता से सदा पराङ्मुख रहती है।

कालिदास के पात्रों का चरित्र भारतीयों के लिये आदर्शभूत है।

कालिदास का सन्देश

देवता और ब्राह्मण में भक्ति, गुरुवाक्य में अटल विश्वास, मातृरूपिणी धेनु की परिचर्या, अतिथि की इष्ट-पूर्ति के लिये राजा का सर्वस्वदान, लोकानुरञ्जन के लिये अपनी प्राणोपमा धर्मपत्नी का त्याग—कालिदास के पात्रों में सर्वत्र देदीप्यमान हैं। कालिदास का समाज श्रुतिस्मृति की पद्धति पर निर्मित समाज है। वह त्याग के लिये धन इकट्ठा करता है, सत्य के लिये परिमित भाषण करता है, यश के लिये विजय की कामना रखता है तथा सन्तान की इच्छा के लिये गृहस्थी जमाता है। वे धर्म के अविरोधी काम के पक्षपाती थे। जो काम हमारे कर्त्तव्यों के साथ संघर्ष मचाता है, वह नितान्त हेय है। हमारे लिए कालिदास का एक महान् सन्देश है जो तीन तकारादि शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—त्याग, तपस्या और तपोवन। तपोवन में पली सभ्यता ही मानवों का सच्चा मंगल कर सकती हैं। क्षुद्र स्वार्थ का निवारण त्याग से होता है और सच्ची उन्नति तपस्या के बल पर हो सकती है। मानव जीवन का उद्देश्य संसार में आकर विषयों का दास बनना नहीं है, प्रत्युत भगवान् की सच्ची भक्ति कर तथा योग का साधन कर आत्मा के दर्शन में ही है। इस प्रकार कालिदास के महाकाव्य कोमल कला की दृष्टि से ही रोचक नहीं हैं, प्रत्युत आध्यात्मिकता की दृष्टि से भी उपादेय हैं। इसका मूल कारण यही है कि कालिदास भारतीय कला के ही सर्वश्रेष्ठ कलाकार नहीं हैं, बल्कि भारतीय संस्कृति के भी मर्मज्ञ व्याख्याता हैं

षष्ठ परिच्छेद

कालिदासोत्तर महाकाव्य

कालिदास के अनन्तर अनेक महाकवियों में प्रबन्ध-काव्य की रचना की। इनमें कतिपय बौद्ध मतानुयायी कवियों ने बुद्ध-धर्म के उपदेशों को जनता के हृदय तक पहुँचाने के लिये कमनीय काव्य का आश्रय लिया। इनमें अश्वघोष, मातृचेट तथा आर्यशूर मुख्य हैं। अन्य कवियों ने कालिदास के दोनों महाकाव्यों से प्रभूत स्फूर्ति तथा प्रेरणा प्राप्त कर प्रबन्ध-काव्यों का निर्माण अलंकृत शैली में किया जिसमें वर्ण्य-विषय की अपेक्षा वर्णन-प्रकार की ओर ही उनका विशेष ध्यान था। संस्कृत आलंकारिकों के द्वारा निर्दिष्ट काव्य लक्षण का समन्वय कालिदास के महाकाव्यों में खोज निकालना ऐतिहासिक भूल होगी, क्योंकि समस्त आलंकारिक कालिदास से अर्वाचीन ही हैं। इस युग के आलंकारिकों ने महाकाव्य का विशिष्ट लक्षण प्रस्तुत किया। दण्डी का महाकाव्य-लक्षण प्राचीनतम माना जाता है (काव्यादर्श १।१४-१९) उनके अनुसार महाकाव्य की रचना 'सर्गों' में की जाती है। उसमें एक ही नायक होता है जो देवता होता है अथवा धीर उदात्त गुणों से युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय होता है। वीर, शृंगार अथवा शान्त—इनमें से कोई रस मुख्य (अंगी) होता है। अन्य रस गौण रूप से रखे जाते हैं। कथानक इतिहास-प्रसिद्ध होता है अथवा किसी सज्जन का चरित वर्णन किया जाता है। प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार के वृत्त में रचना की जाती है पर सर्ग के अन्त में वृत्त बदल दिया जाता है। सर्ग न तो बहुत बड़े होने चाहिए

महाकाव्य

न तो बहुत छोटे। सर्ग आठ से अधिक होने चाहिए और प्रति सर्ग के अन्त में आगामी कथानक की सूचना होनी चाहिये। वृत्त को अलंकृत करने के लिये सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात, प्रदोप, अन्धकार, वन, ऋतु, समुद्र, पर्वत आदि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अवश्य किया जाता है। बीच बीच में शृंगार रस का भी परिपोष किया जाता है और वीर रस के प्रसंग में युद्ध, मन्त्रणा, शत्रु पर चढ़ाई आदि विषयों का भी साङ्गोपाङ्ग वर्णन रहता है। नायक तथा प्रतिनायक का संघर्ष काव्य की मुख्य वस्तु होता है। महाकाव्य का मुख्य उद्देश्य धर्म तथा न्याय का विजय तथा अधर्म और अन्याय का विनाश होना चाहिये।

रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' (१६। ७-१९) में दण्डी के द्वारा निर्दिष्ट काव्य-लक्षणों को कुछ विस्तार के साथ दुहराया है। ध्यान देने की बात यह है कि रुद्रट ने उतने ही विषय के उपबृंहण तथा अलंकरण को उचित माना है जिससे कथा-वस्तु का कथमपि विच्छेद न हो सके। कालिदास के काव्यों में अलंकरण काव्य-वस्तु का विच्छेद कथमपि नहीं करता; परन्तु भारवि तथा माघ इस दुष्प्रभाव से बच नहीं सके। भारवि में मूल कथा के साथ दूरतः सम्बद्ध ऐसे विषय पाँच सर्गों तक (४, ५, ८, १०) तथा माघ में ६ सर्गों (६–११) तक रक्खे गये हैं। इस प्रकार इस काल में प्रबन्ध-काव्यों में ऐक्य तथा समन्वय का सर्वथा अभाव दृष्टि-गोचर होता है और शृङ्गार-प्रधान विषयों का उपबृंहण मूल आख्यान के प्रवाह को बहुत कुछ रोक देता है। विषय-वर्णन में चमत्कार की कमी नहीं है। परन्तु इन नवीन वस्तुओं के योग से काव्य का विस्तार, अलंकार का विन्यास इतना अधिक हो जाता है कि पाठकों का हृदय आप्यायित न होकर उनका मस्तिष्क ही पुष्ट होता है। वर्ण्य-विषय तथा वर्णन-प्रकार के सामञ्जस्य का अभाव जो कालिदास तथा अश्वघोष में खोजने पर भी नहीं मिल

सकता इस युग के सामान्य कवियों के काव्य की जागरूक विशेषता है। ब्राह्मणकवियों में चार महाकवि—भारवि, भट्टि, कुमारदास तथा माघ—इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं।

महाकाव्य-पाश्चात्य मत

पाश्चात्य मत से महाकाव्य (एपिक) दो प्रकार के होते हैं—(१) विकसित महाकाव्य (एपिक आफ ग्रोथ), (२) कलापूर्ण महाकाव्य (एपिक आफ आर्ट[१])। विकसित महाकाव्य वह है जो अनेक शताब्दियों में अनेक कवियों के प्रयत्न से विकसित होकर अपने वर्तमान रूप में आया है। वह प्राचीन गाथाओं के आधार पर रचित महाकाव्य होता है। जैसे ग्रीक महाकवि होमर का 'इलियड' और 'ऑडेसी' नामक युगल महाकाव्य। इनका वर्तमान परिष्कृत रूप होमर की प्रतिभा का फल है, परन्तु गाथाचक्रों के रूप में वे प्राचीनकाल से वन्दीजनों के द्वारा गाये जाते थे। 'कलापूर्ण महाकाव्य' वह है जिसे एक ही कवि अपनी काव्यकला से गढ़कर तैयार करता है। इसमें प्रथम श्रेणी के काव्यों के समग्र गुण विद्यमान रहते हैं, परन्तु यह रहता है एक ही कवि की प्रौढ़ प्रतिमा का परिणाम। जैसे लैटिन भाषा में वर्जिल कवि द्वारा रचित 'इनीड" महाकाव्य। वर्जिल ने अपने लिए होमर को आदर्श माना है और उन्हीं की काव्यकला का पूर्ण अनुसरण अपने महाकाव्य में किया है। मिल्टन के पैरेडाइस लास्ट तथा पैरेडाइस रिगेन्ड होमर, वर्जिल तथा दान्ते के महाकाव्यों के समान उत्कृष्ट मान्य कलापूर्ण महाकाव्य हैं। इस दृष्टि से यदि संस्कृत काव्यों का वर्गीकरण किया जाय तो वाल्मीकीय रामायण प्रथम श्रेणी में रखा जायगा तथा रघुवंश तथा शिशुपालवध आदि द्वितीय श्रेणी में।

---

[१] Epic of growth; Epic of art.

१

अश्वघोष

कविता भावों की विशेष उद्बोधिका होने के कारण मानव को अभीष्ट कार्य में प्रवृत्त करने का सबसे महत्त्वशाली साधन है। कविता हृदय के ऊपर गहरी चोट करती है; मानव हृदय को सद्यः उत्तेजित करती है और इसीलिए सामान्य जनता के हृदय तक दर्शन तथा धर्म के साधारणतया दुरुह तथ्यों को पहुँचाने के लिए धर्म-प्रचारक बहुत पुराने समय से कविता का सहारा लेते आये हैं और आज भी लेते हैं। बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष का काव्यकला की ओर आकर्षण का रहस्य यही है। सौन्दरनन्द के अन्त में उनकी स्वीकारोक्ति इस रहस्य की गुत्थी खोलने के लिए पर्याप्त है। जिस प्रकार कड़वी दवा को हृद्य बनाने के लिए उसे मधु से मिलाने की जरूरत होती है, उसी प्रकार पाठकों को धार्मिक तत्त्वों को सद्यः ग्रहण करने की दृष्टि से मोक्षधर्म के पदार्थ काव्यधर्म के द्वारा प्रकट किये गये हैं :—

> इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा-कृतिः
> श्रोतृणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता।
> यन्मोक्षात् कृतमन्यत्र हि मया तत् काव्यधर्मात् कृतं
> पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥

—सौन्दरनन्द १८।६३

यह पद्य अश्वघोष की काव्यकला की ओर प्रवृत्त भावना का स्फुट परिचायक है। वे मुख्यतः दार्शनिक हैं, दर्शन की तार्किक भाषा में बौद्धधर्म के मान्य सिद्धान्तों के प्रतिपादक बौद्ध आचार्य हैं, परन्तु अपने उपदेश-क्षेत्र के विस्तार के निमित्त ही उन्होंने काव्यमार्ग का

आश्रय ग्रहण किया है। अश्वघोष की यह स्वीकारोक्ति इनके काव्यों के आलोचकों को उनकी समीक्षा करने में एक नई दृष्टि निःसन्देह प्रदान करती है।

जीवनी

अश्वघोष के निश्चित जीवन चरित का अभीतक हमें निःसन्देह परिचय नहीं है। चीनी परम्परा से प्राप्त उनके जीवनचरित में विद्वानों को आज भी थोड़ी-सी संदेह दृष्टि बनी हुई है। सौन्दरनन्द की पुष्पिका से उनके परिचय की एक धुँधली रेखा हमारे सामने खिंच जाती है—वे साकेतक (अयोध्या के निवासी) थे; सुवर्णाक्षी[१] के पुत्र थे तथा महाकवि होने के अतिरिक्त वे 'महावादी' बड़े तार्किक विद्वान् थे। उनके काव्यों की अन्तरंग परीक्षा से स्पष्ट है कि वे ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न, ब्राह्मण तथा वैदिक साहित्य के कुशल पण्डित, महाभारत के, विशेषतया वाल्मीकीय रामायण के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनका साकेतक होना उनके रामायण की विशेष रुचि, मार्मिक अध्ययन तथा व्यापक प्रभाव का सूचक है। चीनी परम्परायें उन्हें कनिष्क के साथ अकाट्य-रूप से सम्बद्ध बतलाती हैं। कहा जाया है कि महाराज कनिष्क ने पाटलीपुत्र पर आक्रमण कर जब तत्कालीन मगध-नरेश को अपनी विपुल बल-सम्पत्ति के सहारे पदाक्रान्त किया, तब उन्हें केवल दो शर्तों पर छोड़ दिया। पहली थी भगवान तथागत के व्यवहृत भिक्षा-पात्र का ग्रहण तथा दूसरी थी उनके राज-कवि अश्वघोष का पुरुषपुर में निवास की प्रतिज्ञा। राजा ने इन दोनों शर्तों को मानकर प्रबल

---

[१] आर्य सुवर्णाक्षीपुत्रकस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्य-भदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्।

—सौन्दरनन्द की पुष्पिका

शत्रु के चपेटाघात से अपने को तथा अपने राज्य को बचाया। कनिष्क द्वारा आहूत चतुर्थ बौद्ध संगीति की प्रतिष्ठा तथा अध्यक्षता का गौरव अश्वघोष हो ही प्रदान किया जाता है। परन्तु अभी तक यह निःसन्दिग्ध निर्णय नहीं हुआ है कि इस संगीति का अध्यक्षपद महास्थविर पार्श्व ने ग्रहण किया था अथवा महावादी अश्वघोष ने। वैभाषिक सम्प्रदाय के प्रमाण ग्रन्थ 'विभाषा' नामक-भाष्य ग्रन्थ के निर्माण के कारण यह संगीति बौद्धधर्म के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी। अश्वघोष की धार्मिक भावना सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय की ही थी, इसका संकेत 'विभाषा' की रचना में प्रयोजक होने से भी हमें मिलता है। कनिष्क के साथ सम्बद्ध मातृचेट कवि के ऊपर अश्वघोष की कविता का विपुल प्रभाव होने के कारण भी अश्वघोष को कनिष्क के समकालीन अथवा किञ्चित् पूर्ववर्ती भी मानने में किसी प्रकार की ऐतिहासिक विप्रतिपत्ति नहीं है। अतः अश्वघोष का समय प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में (१–५० ई०) सामान्यतः माना जा सकता है।

ग्रन्थ

अश्वघोष के काव्यग्रन्थों की समीक्षा से पहिले उनके अन्य ग्रन्थों से परिचय पाना आवश्यक है। 'वज्रसूची' उपनिषद् नामक ग्रन्थ अश्वघोष की रचना माना जाता है, परन्तु इस ग्रन्थ में किया गया वर्णव्यवस्था का भीषण खण्डन कवि की ब्राह्मणों के प्रति पूज्य भावना से कथमपि मेल नहीं खाता। चीनी परम्परा भी इसे धर्मकीर्ति का ग्रन्थ मानती है। फलतः वज्रसूची को अश्वघोष की निःसन्देह रचना के हम पक्षपाती नहीं हैं। गण्डी-स्तोत्र की भी यही दशा है। २९ लम्बे लम्बे स्रग्धरा छन्द में निबद्ध यह स्तोत्रकाव्य बुद्धभगवान् तथा बौद्ध मठों में व्यवहृत घंटा की स्तुति में है। इसकी रचना कश्मीर में ही हुई थी जब यहाँ की राजनीतिक दशा में अव्यवस्था का राज्य था। भाषा तथा

शैली के स्पष्ट विरोध में यह बुद्धचरित के रचयिता की रचना नहीं माना जा सकता। बौद्धधर्म के उपदेशों को सुगमता से हृदयंगम करने के लिए अनेक प्राचीन आख्यायिकाओं का संग्रह-ग्रन्थ 'सूत्रालंकार' अश्वघोष की रचना माना जाता था। कुमारजीव इसकी रचना अश्वघोष के हाथों मानते हैं परन्तु मध्य एशिया से इसके उपलब्ध मूल संस्कृत के कतिपय अंशों से यह कुमारलात की कृति सिद्ध होता है।[1] इसका यथार्थ नाम कल्पना मण्डितिका या कल्पनालंकृतिका है। अवदान तथा जातक की शैली पर अलंकृत काव्य रूपसे निबद्ध यह ग्रन्थ कथाओं का संग्रह है जो बौद्धधर्म की प्रचारबुद्धि से ही निबद्ध किया गया है। अभी तक यह अधूरा ही मिलता है। युआन च्वांग के कथनानुसार कुमारलात सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे तथा तक्षशिला के निवासी थे। अतः सर्वास्तिवादियों के प्रति आदरभाव की इसमें उपलब्धि आश्चर्य का विषय नहीं है, क्योंकि सौत्रान्तिकों का वही मूल स्थान था। दो कथाओं (१४ वीं तथा ३१ वीं) में कनिष्क की मृत्यु का निर्देश मिलता है। अतः इसकी रचना कनिष्क की मृत्यु से पूर्व अर्थात् द्वितीय शतक से पूर्व अनुमित नहीं हो सकती। 'महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र'[2] नामक चीनी भाषा में अनूदित ग्रन्थ अश्वघोष का सर्वमान्य दार्शनिक ग्रंथ स्वीकार किया जाता है, परन्तु महायान के विकसित सिद्धान्त शून्यवाद का प्रौढ़ समर्थक यह ग्रन्थ सर्वास्तिवादी अश्वघोष की रचना नहीं माना जा सकता। शून्यवाद से उत्थान की घटना अश्वघोष से अर्वाचीन युग से सम्बन्ध

---

[1] इन अधूरे अंशों को डा० लूडर्स ने लाइपजिग से १९२६ में प्रकाशित किया था।

[2] इन ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद Awakening of the faith के नाम से किया गया है।

रखती है। अश्वघोष की धार्मिक प्रवृत्ति तथा विश्वास महायान के तत्वों की ओर कथमपि नहीं हैं। उनके अनुसार बुद्धधर्म का मेरुदण्ड है बुद्धभगवान् के प्रति अटूट श्रद्धा, उनके आचार-प्रधान धर्म में गाढ़ विश्वास तथा योग की साधना। अश्वघोष का धार्मिक विश्वास हीनयान धर्म में ही निश्चय रूप से माना जा सकता है। फलतः महायान के प्रौढ़ विकास का प्रतिपादक 'श्रद्धोत्पादशास्त्र' हीनयानी अश्वघोष के मत्थे कभी नहीं मढ़ा जा सकता।

अश्वघोष की सन्देहहीन साहित्यिक रचनायें तीन ही हैं—(क) बुद्धचरित, (ख) सौन्दरनन्द तथा (ग) शारिपुत्रप्रकरण। इनमें प्रथम दो महाकाव्य हैं तथा अन्तिम नाटक है। 'बुद्धचरित' तथागत के निर्मल सात्विक जीवन का सरल तथा सरस विवरण है, तो 'सौन्दरनन्द' गौतमबुद्ध के ही सौतेले अनुज सुन्दरनन्द के प्रव्रज्या-ग्रहण का वर्णन है। 'शारिपुत्रप्रकरण' भी बुद्ध के पट्टशिष्य शारिपुत्र के बौद्धधर्म में दीक्षित होने का नाटकीय विवेचन है। इस प्रकार इन तीनों ग्रन्थों की प्रेरणा का एक ही मूल स्रोत है—तथागत के जीवन तथा उनके धर्मतत्वों की सरस तथा हृदयावर्जक शैली में आस्तिक जनता के हृदय तक पहुँचाने की भव्य तथा स्तुत्य भावना। इन तीनों में केवल सौन्दरनन्द ही पूरे रूप में मूल संस्कृत में उपलब्ध है। बुद्धचरित का केवल आधा भाग ही मूल संस्कृत में मिलता है और शारिपुत्रप्रकरण के कतिपय अधूरे पृष्ठ ही।

बुद्धचरित

अश्वघोष का कीर्तिस्तम्भ है बुद्धचरित जो दुर्भाग्यवश मूल रूप में केवल आधा ही मिलता है। इसके चीनी तथा तिब्बती अनुवाद में इस महाकाव्य के पूरे २८ सर्ग मिलते हैं, परन्तु संस्कृत में दूसरे सर्ग से लेकर १३वाँ सर्ग तक ही ग्रन्थ उपलब्ध होता है। आदिम सर्ग का तीन चौथाई भाग तथा १४ वें सर्ग का केवल एक चौथाई भाग

मिलकर ग्रन्थ के मूल रूप की इतिश्री करते हैं। महाकाव्य का आरम्भ होता है बुद्ध के गर्भाधान से और अन्त होता है अस्थिविभाजन से उत्पन्न कलह, प्रथम संगीति तथा अशोकवर्धन के राज्य से। इसका अनुवाद धर्मरक्ष, धर्मक्षेत्र या धर्माक्षर नामक किसी भारतीय विद्वान् ने ही पंचमशतक के आरम्भ में (४१४-४२१ई०) चीनी भाषा में किया था। तिब्बती अनुवाद नवम शतक से पूर्ववर्ती नहीं है। इस प्रवन्ध काव्य की कथा बुद्ध जन्म से आरम्भ होती है और अन्तःपुर-विहार, संवेग उत्पत्ति, स्त्रीनिवारण, अभिनिष्क्रमण, छन्दक विसर्जन, तपोवन-प्रवेश, अन्तःपुरविलाप आदि का क्रमशः वर्णन करता हुआ कवि बुद्धत्व प्राप्ति तक हमें पहुँचा देता है। इस प्रकार अश्वघोष ने भगवान् बुद्ध के संघर्षमय जीवन की नाना घटनाओं का वड़ा जीता जागता उज्ज्वल रुचिकर चित्र अंकित किया है

सौन्दरनन्द

इस महनीय महाकाव्य में १८ सर्गों में निवद्ध सौन्दरनन्द यौवन-सुलभ उद्दाम काम तथा धर्म के प्रति जागरित प्रेम के विषम संघर्ष का भव्य भाषा में चित्रित करने वाला एक अद्भुत काव्य है जो काव्य-सुलभ गुणों की दृष्टि में बुद्ध चरित की रुक्षता से कहीं अधिक स्निग्ध, सरस तथा सुन्दर है। इस काव्य की कथा बुद्ध के सौतेले भाई सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिमा सुन्दरनन्द की गृहत्याग, अपनी प्रियतमा सुन्दरी के मोहभंग तथा प्रव्रज्याग्रहण से सम्बन्ध रखती है। नन्द भोगविलास में 'आकण्ठमग्न एक सुन्दर राजकुमार है तथा उसकी पत्नी सुन्दरी नितान्त पतिव्रता सुन्दरी है। दोनों का सुखमय यौवन बीत रहा था शुद्धोदन के भव्य प्रासाद में कि तथागत की दृष्टि उन पर पड़ी। उन्होंने अपने भाई नन्द के जीवन को मंगलमय तथा कल्याणपूर्ण बनाने के लिए उन्हें प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए बाध्य किया। भोग की माधुरी में आसक्त नन्द जीवन के सुखों को कथमपि छोड़ना नहीं चाहता, परन्तु बड़े ही कौशल से तथा प्रलो-

भन से वह प्रव्रज्या-मार्ग पर अन्ततोगत्वा बाध्य किया जाता है। उसी की हार्दिक भावना की, भोग-वासना के विपुल संघर्ष की नितान्त सरस अभिव्यक्ति सौन्दरनन्द में हमें मिलती है। नन्द तथा सुन्दरी की मूक वेदना के चित्रण में अश्वघोष को जितनी सफलता मिली है उतनी ही उसे बुद्धधर्म के उपदेशों को सुन्दर भाषा में अंकित करने में भी। इस काव्य की तुलना में भारी भरकम होने पर भी बुद्धचरित हृदय के भावों की वर्णना में, काम तथा धर्म के परस्पर वैषम्यमण्डित भीषण संघर्ष के चित्रण में, बौद्धधर्म के आचार-प्रधान उपदेशों के हृदयावर्जक विवरण में निःसन्देह न्यून है। इसीलिए बुद्धचरित कवि की प्राथमिक रचना प्रतीत होती है। सौन्दरनन्द में अश्वघोष ने रच-पच कर अपना काव्यकौशल दिखलाया है। विषय की विशिष्टता के कारण भी उसे कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति का तथा धार्मिक उपदेशों के पूर्ण विवरण देने का अच्छा अवसर यहाँ प्राप्त होता है। मेरी दृष्टि में सौन्दरनन्द विषय की गम्भीरता में तथा कोमल काव्य भावना के अंकन में बुद्धचरित की अपेक्षा कहीं अधिक सरस तथा सफल काव्य है।

शारिपुत्र प्रकरण—

शारिपुत्र-प्रकरण नव अंकों में विरचित एक महनीय प्रकरण था जिसमें शारिपुत्र की बौद्धधर्म में दीक्षा का प्रसंग नाटकबद्ध किया गया था। इन तीनों ग्रन्थों का रचना-एक्य अन्तरंग परीक्षा पर भी आधारित हैं। इनमें भावों, विचारों तथा शब्दों का पारस्परिक विनिमय यत्र-तत्र स्फुटतया लक्षित होता है। उदाहरणार्थ बुद्धचरित ११।११,१२ का भाव साम्य सौन्दरनन्द के ११।३२,३७ पद्यों के साथ स्फुटतया लक्षित होता है। प्रतीक नाटक तथा सामाजिक नाटक के अंश इसी प्रकरण के हस्तलिखित प्रति के साथ ही उपलब्ध होते हैं। इनके अश्व-

घोष कृत होने में पर्याप्त मतभेद है। डा० कीथ इन दोनों नाट्यांशों को अश्वघोष की ही विशुद्ध रचना स्वीकार करते हैं,[1] परन्तु डा० जानस्टन प्रतीक नाटक के ही पक्ष में हैं, दूसरे को वे भिन्नकर्तृक भी बतलाते हैं।[2]

अश्वघोष की विद्वत्ता—

अश्वघोष के विशाल अध्ययन तथा विद्वत्ता का स्पष्ट परिचय उनके महाकाव्य दे रहे हैं। पूर्व आश्रम में ब्राह्मण होने के कारण उनका ब्राह्मण साहित्य का गाढ़ परिचय विस्मयावह नहीं है। वैदिक अनुष्ठान से परिचित अश्वघोष वसिष्ठ के लिए वैदिक अभिधान 'और्वशेय' का (बु० च० ९।६) तथा प्रोक्षण तथा अभ्युदय शब्दों का प्रयोग (बु० च० १२।३०) करते हैं। बुद्धचरित के १२ वें सर्ग में उल्लिखित अराड कलाम का गौतम को उपदेश महाभारत के सांख्य सिद्धातों की शिक्षा से एकदम मिलता है। साकेतक होने के नाते रामायण के प्रति कवि के विशेष आग्रह से और रामायणीय पात्रों तथा तत्सम्बद्ध घटनाओं के प्रति पक्षपात से हमें आश्चर्य नहीं होता। पुत्रशोक में अपने प्यारे प्राणों को निछावर करने वाले महाराज दशरथ का उल्लेख कवि ने अनेक स्थानों पर किया है (बु० च० ८।७९)। तत्कालीन विद्याओं—नीति शास्त्र, कौटिल्य अर्थशास्त्र, वैद्यक शास्त्र आदि उपयोगी विद्याओं—से परिचय कवि की व्यापक विद्वत्ता का सूचक है। व्याकरण से सम्बद्ध शास्त्रीय उपमाओं तथा विलक्षण पदों के प्रयोग करने में अश्वघोष कभी नहीं चूकते। सौन्दरनन्द के द्वितीय सर्ग में लुङ् लकार का एकमात्र प्रयोग, द्वादश सर्ग (१२।९,१०) में वैयाकरण उपमाओं का उपयोग, ६।२४ में लिट् लकार के बारह पदों का एकत्र

---

[1] द्रष्टव्य संस्कृत ड्रामा पृ० २३०

[2] द्रष्टव्य बुद्धचरित का अंग्रेजी अनुवाद (भूमिका पृ० २०–२१)

प्रयोग, २।२८,२९ में 'अवीवपत्' का चार भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयोग—ये सब कवि की इस रचना पर वैयाकरणत्व की छाप लगाने के लिए पर्याप्त हैं। दर्शन तो कवि का अपना अध्ययनक्षेत्र है। अतः उसने इस दार्शनिक ज्ञान का उपयोग बड़े ही सुन्दर ढंग से इन काव्यों में किया है।

समीक्षण

अश्वघोष की कविता में स्वाभाविकता का साम्राज्य है। कवि एक विशेष उद्देश्य से तत्त्वज्ञान से हटकर कोमल काव्यकला का आश्रय लेता है और इस कार्य में वह सर्वथा सफल है। भावों के नैसर्गिक प्रवाह का कारण कवि के आध्यात्मिक जीवन से नितान्त सम्बद्ध है। तथागत के लोकसुन्दर चरित्र के प्रति कवि की गाढ़ श्रद्धा है तथा संसार की अनित्यता की भावना इतनी बलवती है कि वह इन काव्यों के मार्मिक अंशों की रचना में अदम्य उत्साह तथा श्लाघनीय स्फूर्ति दिखलाता है। घटना के वर्णन में कवि का कौशल जितना जागरूक है उतना ही श्लाघनीय है उसकी तर्कों की स्वच्छ तथा सुबोध प्रकार से विन्यासचातुरी। भावों में तीव्रता लाने के निमित्त अश्वघोष ने परिचित वातावरण से संगृहीत, अतएव हृदय पर सद्यः प्रभाव जमाने वाली, स्पृहणीय उपमाओं के प्रयोग करने में कुशलता दिखलाई है। धर्म का प्रचारक शास्त्र की शिक्षाओं को जनसाधारण के हृदय तक सरलता से पहुंचाने के लिए सामान्य जीवन की घटनायों, वस्तुओं तथा पात्रों का प्रयोग तुलना के निमित्त किया करता है और अश्वघोष ने भी वही किया है और इसीलिए इनकी उपमा, दृष्टान्त तथा रूपक समधिक प्रभावशाली बन पड़े हैं। जरारूपी यन्त्र से पीडित होकर मृत्यु की प्रतीक्षा करने वाले सारहीन शरीर की रस निचोड़े गये तथा जलाने के लिए सुखाये जाने वाले ऊख से उपमा बड़ी ही प्रभावोत्पादक है।[1] सारथि के लौट आने पर

---

[1] यथेक्षुरत्यन्त-रस-प्रपीडितो भुवि प्रविद्धो दहनाय शुष्यते
तथा जरायन्त्र निपीडता तनुर्निपीतसारा मरणाय तिष्ठति ॥ सौ० न० ९।३१

कवि ने बुद्ध की माता, पिता तथा पत्नी के शोक का वर्णन बड़ी ही सरल स्वाभाविकता तथा सरसता के साथ किया है। वह मानव हृदय के गहरे अन्तःस्तल पर पहुँचने की क्षमता रखता है। बुद्ध के संन्यास की घटना इनके माता, पिता तथा पत्नी के हृदय में जिन भावों का उदय करती है उनका साधु चित्रण कवि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की शक्ति का परिचायक है। कवि का अलंकार-विधान रस का पोषक, भावों का उत्तेजक तथा प्रकृतार्थ का उपोद्बलक है। वज्र की आवाज सुनकर काँपनेवाले हाथी से शोकाहत शुद्धोदन की तुलना (बु० च० ८।७२) जितना औचित्यपूर्ण है, उतना ही स्वाभाविक है बच्चे के लिए करुण क्रन्दन करने वाले पक्षी की समता। पात्रों के औचित्य से उनके शोक तथा विलाप भी में स्पष्टत: पार्थक्य है।[1]

संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि अश्वघोष की कला भी उसी प्रकार से आदिम तथा प्राकृत है जैसे वे स्वयं धर्म तथा दर्शन में हैं। उन्होंने जो कुछ भी लिखा उसमें धर्म-परिवर्तन का अदम्य उत्साह जागरूक है। अपने सन्देश की गरिमा में उनकी इतनी निष्ठा तथा आस्था है कि वे धर्म तथा दर्शन के विभिन्न मतों के पचड़े में न पड़कर अष्टांगिक मार्ग के अनुशीलन से मानव जीवन की सफलता पर आग्रह रखते हैं और इसीलिए अश्वघोष की कविता निःसन्देह कलात्मक है, परन्तु उसमें उस विकृत कलाका दर्शन नहीं होता जो पिछले महाकाव्यों में वर्तमान मिलती है। अश्वघोष स्वभाव से हैं कवि, शिक्षा के द्वारा हैं प्रकृष्ट पण्डित तथा हार्दिक विश्वास के कारण वह हैं धार्मिक व्यक्ति। अश्वघोष की काव्यकला की रमणीयता का रहस्य उनकी गम्भीर धर्म-प्रवणता के भीतर छिपा हुआ है। धर्म-प्रचार की प्रेरणा ने ही उन्हें कमनीय काव्य-कला के आश्रय लेने के लिए उत्साहित किया है।

---

[1] द्रष्टव्य यशोधरा का विलाप (बु० च० ८।६१—६९), माता-पिता का विलाप (वही ७१—८६)

भावों की यथार्थता उनके काव्य में प्रचुर मात्रा में हैं। उनकी प्रसादमयी वाणी के पढ़ने पर यही प्रतीत होता है कि यह उनके हृदय से निकल रही है—विशुद्ध, कृत्रिमता से कोसों दूर। बनावट का यहां नाम नहीं है। यह अनगढ़ की भावना को अवश्य अग्रसर करती है, क्योंकि इसमें अभी वह स्निग्धता तथा चिकनाहट नहीं है जो कला के मँज जाने पर कवि की कविता में दीख पड़ती है। अश्वघोप की कविता पढ़कर आलोचक पुकार उठता कि कवि अपनी सच्ची अनुभूतियों को कविता का कलेवर दे रहा है तथा बौद्ध धर्म्म की मैत्री-भावना तथा उदार दृष्टि को सार्वभौम बनाने के लिए तथा सद्यः हृदयंगम बनाने के हेतु वह घरेलू उपमा तथा दृष्टान्त का रमणीय प्रयोग कर रहा है। कहीं कहीं पद विन्यास की रूक्षता अवश्य ही आलोचक को खटकती है विशेषतः बुद्धचरित में, परन्तु सौन्दर-नन्द की रचना में कवि की वाणी में मनोहर स्निग्धता, हृदय को आवर्जन करने की अनुपम शक्ति तथा सुन्दर पदावली पाठकों के हृदय को हठात् अपनी ओर खींच लेती है। उनकी कविता में जीवनी शक्ति है। तथा हृदया-वर्जन की अद्भुत क्षमता है! छोटे छोटे चुने हुए प्रसन्न शब्दों के द्वारा अपने धार्मिक सन्देश को काव्य का कमनीय विग्रह प्रदान करने में अश्वघोप एक सफल कवि हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

जीवन की निरन्तर अनित्यता दिखलाता हुआ कवि कितने सरल शब्दों में अपनी बात कहता है—

> ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
> गतं गतं नैव तु सन्निवर्तते जलं नदीनां च नृणां च यौवनम्।

संन्यासी बनकर फिर गृहस्थ बनने की सुन्दरनन्द की लालसा को धिक्कारता हुआ कवि अपनी भाव-शुद्धि तथा रम्य अनुभूति की सुन्दर सूचना दे रहा है—

कृपणं बत यूथलालसो महतो व्याध-भयात् विनिसृतः ।
प्रविवत्सति वागुरां मृगश्चपलो गीतरवेण वञ्चितः ।

वह मनुष्य उस चपल मृग के समान है जो व्याघ्र के बड़े भारी भय से निकल कर गीत की ध्वनि से वंचित होकर जाल में स्वयं फंसना चाहता है ।

२

मातृचेट

मातृचेट के जीवन-चरित की अधिकांश बातें अभी तक अज्ञानान्धकार में ही पड़ी हुई हैं । उनमें से केवल एक ही निःसन्दिग्ध घटना का पता चलता है और वह है इनकी महाराज कनिष्क की समकालीनता । कनिष्क ने बौद्धधर्म के दिव्य उपदेशों की शुश्रुषा से जब मातृचेट को अपने दरबार में बुलाया, तब अत्यन्त वृद्ध होने के कारण कवि ने अपनी असमर्थता प्रकट की और बौद्धधर्म के मान्य सिद्धान्तों का विवरणमय पद्यात्मक पत्र कनिष्क के पास भेजा । ८५ पद्यों का लघु काव्यमयं यह 'महाराज कनिष्क लेख' आज भी तिब्बती भाषा में अनूदित होकर सुरक्षित है[1] । इससे स्पष्ट है कि ये कनिष्क के सम-

---

[1] इन पद्यों में बुद्ध के आदेशानुसार नैतिक जीवन व्यतीत करने का उपदेश मुख्यरूप से ग्रथित है । इन करुणा से पूर्ण पद्यों में कवि ने राजा को अन्त में उपदेश दिया है कि तेरा कर्तव्य है कि वन्यपशुओं को अभयदान दे तथा शिकार करना छोड़ दे । इसका अंग्रेजी अनुवाद डा० एफ० टामस ने इण्डियन एण्टिक्वेरी में (भाग ३२, १९०३ ;पृ० ३४५) किया है ।

कालीन थे अर्थात् इनका स्थितिकाल इस्वी की प्रथम शताब्दी है। इस प्रकार ये अश्वघोष के समसामयिक प्रतीत होते हैं।

ग्रन्थ

अपने दो स्तोत्रग्रन्थों के कारण बौद्ध जगत् में ये स्तुतिकार की महनीय ख्याति से मण्डित हैं। चतुःशतक चार सौ पद्यों में निबद्ध स्तुति काव्य है। सम्भवतः इसी से प्रेरणा प्राप्त कर नागार्जुन ने अपनी 'माध्यमिक कारिका' को तथा उनके विख्यात शिष्य आर्यदेव ने 'चतुःशतक' को चार सौ पद्यों में लिखा था। जैन ग्रन्थकार आचार्य हरिभद्र की बीस विंशिकाओं का भी यही आधार ग्रन्थ प्रतीत होता है। साक्षात् रूपेण न सही, परम्परया प्रेरणा का मूल स्रोत मातृ चेट का ही स्तुतिकाव्य प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ मूल संस्कृत में तो आज उपलब्ध नहीं होता, परन्तु इसका तिब्बती अनुवाद आज भी प्राप्त है[1] जिसमें इसका नाम 'वर्णनार्ह- वर्णन' मिलता है और यही नाम मध्य एशिया से प्राप्त मूल अवशेष की अन्तिम प्रशस्ति में भी है।

अध्यर्ध शतक—यह डेढ़ सौ अनुष्टपों में निबद्ध बुद्धस्तव मातृ चेट की सर्वप्रधान रचना है जिसकी लोकप्रियता तथा व्यापकता का परिचय हमें इसके अनुवादों से ही लग सकता है। चीनी तथा तिब्बती भाषा में अनूदित होने के अतिरिक्त मध्य एशिया की 'तोखारी' भाषा में इसके अनुवाद का अवशेष इसकी महती ख्याति का पर्याप्त परिचायक है। यह १३ विभागों में विभक्त तथा १५३ अनुष्टप् पद्यों से युक्त स्तुतिकाव्य अवान्तरकालीन कवियों को प्रेरणा देनेवाला था। इसका अनुकरण स्वयं आचार्य दिङ्नाग ने किया। उन्होंने इसके प्रत्येक पद्य के साथ अपना एक पद्य जोड़कर तीन सौ पद्यों का 'मिश्र-

---

[1] अंग्रेजी अनुवाद के लिए द्रष्टव्य इ० ए० भाग ३४, १९०५, पृष्ठ १४५।

स्तोत्र' नामक स्तुतिकाव्य का निर्माण किया जिसका अनुवाद तिब्बती भाषा में आज भी उपलब्ध है। जैन सम्प्रदाय के अनेक महनीय आचार्यों ने इस काव्य के आधार पर नवीन स्तुतिकाव्यों का प्रणयन किया। सिद्धसेन की पाँच बत्तीसियों (=१६० पद्य), समन्तभद्र का 'स्वयंभूस्तोत्र' (१४३ पद्य) तथा हेमचन्द्र का 'वीतराग स्तोत्र' (१८७ पद्य) मातृचेट के आदर्श तथा आधार पर निःसन्देह निर्मित हुए हैं। मातृचेट तथा हेमचन्द्र के पद्यों में तो घनिष्ठ भावसाम्य है। सरल शब्दों में मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति दोनों स्तोत्रों में समभावेन आदृत की गई है[1]।

इस स्तुतिकाव्य की भाषा नितान्त सरल, प्रसन्न, आडम्बरहीन, और कृत्रिमता से कोसों दूर है। कवि ने इसमें तथागत के आध्यात्मिक जीवन की झाँकी आरम्भ से उसकी पूर्णता तक बड़े ही प्रभावोत्पादक शब्दों में दी है। इस काव्य के प्रत्येक पद्य में कवि के हृदय की सरलता, सचाई तथा भावग्राहिता का चित्र हमें मन्त्र-मुग्ध कर देता है। भावना वही है अपने तथागत धर्म के विपुल प्रसार की मंगल कामना। इसी औदार्य तथा सत्यता के कारण यह काव्य बौद्ध जगत् में अपनी विशिष्टता के लिए नितान्त विख्यात था। इत्सिंग ने इस काव्य की प्रशंसा में लिखा है कि भिक्षुओं की परिषद् में मातृचेट की दोनों स्तुतियों का सुनना एक सुखद प्रसङ्ग है। उनकी हृदय-हारिता स्वर्गीय पुष्प के समान है और उसमें प्रतिपादित उच्च सिद्धान्त गौरव में पर्वत के उच्च शिखरों की स्पर्धा करने वाले हैं। भारत में स्तुति के रचयिता कवि मातृचेट को साहित्य का पिता मानकर उसका अनुकरण करते हैं।

---

[1] 'अध्यर्धशतक' का मूल संस्कृत पाठ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च पत्रिका भाग २३ खण्ड ४ (१९३७) में प्रकाशित हुआ है। विशेष आलोचना के लिए द्रष्टव्य विन्टरनित्स का इतिहास ग्रन्थ, भाग २।

इत्सिंग का यह तथ्यकथन है, अर्थवाद नहीं। मातृचेट के स्तुतिपद्य में हृदय को स्पर्श करने की अलौकिक क्षमता है; तथागत के उच्च सिद्धान्तों को सुबोध शब्दों में प्रकट करने की विलक्षण सामर्थ्य है। हम बौद्ध आचार्यों तथा जैन सूरियों को स्तुतिकाव्य लिखने की प्रशस्त प्रेरणा देने के कारण मातृचेट को 'स्तुतिकाव्य का जनक' मान सकते हैं[1]।

मातृचेट तथागत की स्तुति में कह रहे हैं कि हे नाथ! आपकी करुणा परोपकार के सम्पादन में एकान्ततः संलग्न है, परन्तु अपने आश्रयरूपी बुद्धशरीर के प्रति अत्यन्त निष्ठुर है। अतः आपकी करुणा स्वतः करुणा होते हुए भी करुणाविहीन है। विरोधाभास का कितना सुन्दर दृष्टान्त इस पद्य में प्रदर्शित किया गया है—

परार्थैकान्तकल्याणी कामं स्वाश्रयनिष्ठुरा।
त्वय्येव केवलं नाथ! करुणाऽकरुणाऽभवत्॥

(अध्यर्धशतक, पद्य ६४)

बुद्ध की अपूर्वता दिखलाकर कवि कह रहा है—

अव्यापारितसाधुस्त्वं त्वमकारणवत्सलः।
असंस्तुत-सखश्च त्वं त्वमसम्बन्ध-बान्धवः॥

(अध्य० ११)

अश्वघोष की विपुल प्रसिद्धि ने मातृचेट की कीर्ति को इतना ढक लिया कि मातृचेट का व्यक्तित्व ही अभावकोटि में गिना जाने लगा था तथा दोनों की एकता भी चीनी परम्परा में सिद्ध मानी जाती थी, परन्तु दोनों समकालीन होने पर भी भिन्न भिन्न व्यक्ति थे, इसमें अब सन्देह के लिए स्थान नहीं है।

---

[1] मातृचेट तथा हेमचन्द्र के भावसाम्य के लिए द्रष्टव्य विश्वभारती पत्रिका भाग ५, सं० २००२; भाग १ पृष्ठ ३३८—३४३।

३

आर्यशूर

बौद्ध जातकों को भी साहित्यिक शैली में लोकप्रिय बनानेवाले बौद्ध कवि आर्यशूर अश्वघोष के अनुकरण-कर्ता माने जा सकते हैं। इनके जीवन की घटनाओं के अपरिचय के हेतु अश्वघोष की तथा इनकी अभिन्नता मानी गई है, परन्तु ये दोनों नितान्त भिन्न व्यक्ति हैं। अश्वघोष की काव्यशैली से प्रभावान्वित होना ही दोनों की अभिन्नता का कारण माना जा सकता है। इनके मुख्य काव्य ग्रन्थ 'जातकमाला' (या बोधिसत्त्वावदान माला) की ख्याति भारत की अपेक्षा भारत से बाहरी बौद्ध जगत् में कम न थी। जातकमाला का चीनी अनुवाद (केवल १४ जातकों का) ९६० ई० और ११२७ ई० के बीच में हुआ था। ७ वीं शती में इसके विपुल प्रचार का परिचय हमें इत्सिंग के यात्राविवरण से चलता है। अजन्ता की दीवारों पर जातकमाला के शान्तिवादी, मैत्रीवल, शिवि आदि जातकों के दृश्यों का अंकन तथा तत्तत् जातकों के परिचयात्मक श्लोकों का उट्टङ्कन निश्चय ही इनकी प्रसिद्धि तथा आविर्भाव का सूचक है (षष्ठशतक)। कहा जाता है कि आर्यशूर ने कर्मफल के ऊपर एक सूत्र लिखा था जिसका चीनी अनुवाद ४३४ ई० में हुआ था। यदि दोनों आर्यशूर एक ही अभिन्न व्यक्ति हों तो इनका समय पंचम शतक से पूर्व चतुर्थशतक में अनुमान सिद्ध माना जा सकता है। अजन्ता की दीवारों में चित्रित होने से इनका समय पंचम शतक में निश्चयेन सिद्ध होता है।

ग्रन्थ

इनकी कीर्ति का स्तम्भ है जातकमाला[1] जिसमें ३४ जातकों का सुन्दर काव्य शैली तथा भव्य साहित्यिक भाषा में वर्णन है। इनके कुछ जातक तो पालिजातकों के आधार पर हैं, परन्तु अन्य जातक प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति पर भी आश्रित हैं। भारत में इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि का अनुमान इसी घटना से लगाया जा सकता है कि हेमचन्द्र (१२ वीं शती) ने अपने 'अभिधान चिन्तामणि' कोष में बुद्ध का अन्यतम अभिधान दिया है—'चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञ' और इस शब्द की व्याख्या इसी ग्रन्थ के जातकों की ओर संकेत करती है—चतुस्त्रिंशतं जातकानि व्याघ्री-प्रभृतीनि जानातीति चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञः। इसकी दो व्याख्यायें संस्कृत में अनुपलब्ध होने पर भी तिब्बती भाषा में सुरक्षित हैं जिनमें पहिली है टीका जिसके लेखक कोई धर्मकीर्ति बतलाये गये हैं और दूसरी है पंचिका जिसके लेखक का नाम नहीं दिया गया है। दो टीकाओं की रचना तथा तिब्बती अनुवाद ग्रन्थ की लोकप्रियता के परिचायक हैं।

आर्यशूर की एक दूसरी काव्यरचना इधर प्रकाश में आई है। ग्रन्थ का नाम है पारमितासमास जिसमें छहों पारमिताओं (दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा पारमिता) का वर्णन ६ सर्गों तथा ३६४ श्लोकों में जातकमाला की ही सरल तथा सुबोध शैली में किया गया

---

[1] डाक्टर कर्न द्वारा मूल संस्कृत (हार्वर्ड प्राच्यग्रन्थमाला में), डा० स्पेयर कृत अंग्रेजी अनुवाद (बौद्ध धर्म ग्रन्थमाला, आक्सफोर्ड में, १८९५) केवल २० जातकों का हिन्दी अनुवाद सूर्यनारायण चौधरी द्वारा, पूर्णिया १९५२।

है[1]। बौद्ध देशना के जिस भव्य भावना ने अश्वघोष की भारती को काव्यमय विग्रह पहनने का आग्रह किया उसीने आर्यशूर की वाणी को काव्यमयी सज्जा से अलंकृत होने को बाध्य किया। दोनों का इस नव्य मार्ग में पधारने का उद्देश्य समान ही था—रूक्षमनसामपि प्रसादः = रूखे मन वाले पाठकों को प्रसन्न कर बौद्ध उपदेशों का विपुल प्रसार तथा प्रचार[2]। दोनों अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल हुए जिसके प्रमाणों को निर्देश करने की आवश्यकता नहीं। बौद्ध कथाओं का काव्यात्मक रोचक आख्यान शैली में अवतारण कराना आर्यशूर का मुख्य कार्य है। पालिजातक बौद्ध कथाओं का विशाल भाण्डागार है। उन्हीं में से चुनी हुई उपदेशमयी कथाओं का यह संस्कृत रूप अनुवाद न होकर एक स्वतन्त्र-ग्रन्थ है। पाली के जातक की शैली वर्णन-प्रधान है। घटनाओं का सीधे सादे शब्दों में कह डालना ही उनका उद्देश्य है; परन्तु गद्यपद्यात्मक आख्यान शैली में निबद्ध जातकमाला काव्य गुणों से ओतप्रोत है। इसकी शैली प्रसादमयी काव्यशैली है। कथा के मार्मिक स्थानों का उद्घाटन इसकी विशिष्टता है। मानव हृदय पर आघात करने वाले तथा आवर्जन करने वाले भावसन्तानों का भव्य विवरण देने में आर्यशूर किसी कवि से पीछे नहीं हैं। विश्वन्तर जातक में राजकुमार विश्वन्तर की पत्नी उसे जंगलमें जाने के लिए उत्तेजित करते समय वन के सौन्दर्य

---

[1] रोम से प्रकाशित एनाली लेटरेनेन्सी (Annali Lateranensi) नामक पत्रिका की १० वीं जिल्द में प्रकाशित, १९५०।

[2] लोकार्थमित्यभिसमीक्ष्य करिष्यतेऽयं
श्रुत्यार्ष-युक्त्यविगुणेन पथा प्रयत्नः।
लोकोत्तमस्य चरितातिशय-प्रदेशैः
स्वं प्रातिभं गमयितुं श्रुतिवल्लभत्वम्॥
—जातकमाला, श्लोक ३।

तथा सरसता से अपरिचित नहीं है। वह जंगल में मयूरों के सुन्दर नृत्य, मधुपयोषिताओं के माधुर्यपूर्ण गीत, कुसुम वृक्षों के परिमल से लदी हुई वायु तथा नदियों के कोमल कलकल ध्वनि के प्रलोभन से अपने पतिदेव को लुभाती है (श्लोक ३३-३९)। काव्य में प्रचार की भावना विद्यमान अवश्य है, परन्तु सरस प्रकृति के साथ रागात्मिका वृत्ति के सद्भाव के कारण जातकमाला सचमुच एक श्लाघनीय काव्यकृति है। कवि ने अपने उद्देश्य के निमित्त बोलचाल की व्यावहारिक सरल संस्कृत का प्रयोग किया है जिसे अलंकार के आडम्बर से प्रयत्नपूर्वक बचाया है। पद्यभाग के समान गद्यभाग भी सुश्लिष्ट, सुन्दर तथा सरस है। समास का प्रयोग इसे रूक्ष तथा क्लिष्ट नहीं बनाता, प्रत्युत गाढबन्धता के प्रदान करने में समर्थ होता है। गद्यपद्य-मिश्रित आख्यान-शैली में निबद्ध काव्य का यह उज्ज्वल उदाहरण है। घटना-वर्णन की मुख्यता होने पर भी आर्यशूर का यह काव्य अपनी सरल बोधगम्य शैली की सरसता तथा हृदयावर्जन के लिए प्रख्यात रहेगा।

नवीन भावों की झलक स्थान स्थान पर भरपूर मिलती है:—

छाया तरोः स्वादुफलप्रदस्य च्छेदार्थमागूर्ण-परश्वधानाम्
धात्री न लज्जां यदुपैति भूमिर्व्यक्तं तदस्या हतचेतनत्वम्॥

शीतल छाया तथा स्वादिष्ट फल देने वाले वृक्ष को काटने के लिए जिन्होंने कुठार उठाया है ऐसे लोगों के प्रति' पृथ्वी माता जो लज्जित नहीं होती सो स्पष्ट है कि वह चेतनाहीन हो गई है। अश्वघोष की तुलना में आर्यशूर प्रतिभा के कोमल विलास में किसी प्रकार न्यून नहीं ठहरते। शैली की स्निग्धता, पदावली की मसृणता, भाषा की प्रसन्नता में आर्यशूर अश्वघोष से निःसन्देह बढ़कर कवि माने जा सकते हैं।

४

भारवि

भारवि के जीवन वृत्त के विषय में उनका एकमात्र ग्रन्थ किरातार्जुनीय एकदम मौन है। दक्षिण के 'ऐहोड़' शिलालेख में इन का नामोल्लेख पाया जाता है।

जीवन-वृत्त

अनुमान यही होता है कि भारवि दक्षिण भारत के रहने वाले थे। सौभाग्यवश दण्डी ने 'अवनीतसुन्दरी कथा' के आरम्भ में अपने पूर्वजों का वृत्तान्त कुछ विस्तार के साथ दिया है। लिखा है कि दण्डी के चतुर्थ पूर्वपुरुष, जिनका नाम दामोदर था, नासिक के समीपस्थ अपनी जन्म-भूमि को छोड़कर दक्षिण प्रान्त में चले आये। अवन्तीसुन्दरी कथा के सम्पादक पंडित रामकृष्ण कवि ने इन्हीं दामोदर के साथ भारवि की एकता मानी है अर्थात् उनकी सम्मति में भारवि ही आचार्य दण्डी के चतुर्थ पूर्वपुरुष (प्रपितामह), थे परन्तु जिस पद्य के आधार पर यह अभिन्नता मानी गई थी उसका पाठ अशुद्ध होने के कारण इस सिद्धान्त को अब बदलना पड़ा है। भारवि दण्डी के प्रपितामह नहीं थे, प्रत्युत प्रपितामह के मित्र थे क्योंकि भारवि की सहायता से ही दामोदर राजा विष्णुवर्धन की सभा में प्रविष्ट हुये। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि भारवि दक्षिण भारत के निवासी थे और चालक्यु वंशी नरेश विष्णुवर्धन (सप्तम सतक) के सभापण्डित थे।

भारवि परम शैव थे। यह बात किरातार्जुनीय के कथानक तथा अवन्तिसुन्दरीकथा के उल्लेख[1] से स्पष्ट प्रतीत होती है। राजाओं के

---

[1] यतः कौशिककुमारो (दामोदरः) महाशैवं महाप्रभावं गवां प्रभवं प्रदीप्तभासं भारविं रविमिवेन्दुरनुरुध्य दर्श इव पुण्यकर्मणि विष्णुवर्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबध्नात् ।

सहवास से, जान पड़ता है, ये राजनीति के बड़े भारी जानकार हो गये थे। राजशेखर ने लिखा है कि राजा लोगों को बड़े बड़े शहरों में काव्य तथा शास्त्र की परीक्षा के लिए ब्रह्मसभाएँ करनी चाहिये। उज्जयिनी में इसी प्रकार की सभायें होती थीं जिनमें बड़े बड़े कवियों की परीक्षा ली जाती थी। कालिदास तथा भर्तृमेण्ठ की भाँति भारवि की भी उज्जयिनी में परीक्षा ली गई थी।[1]

भारवि की 'आतपत्रभारवि' भी संज्ञा थी। रसिकों ने जिस सुन्दर अर्थ से मुग्ध होकर इन्हें यह नाम दिया था वह नीचे के पद्य में व्यक्त किया गया है—

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मा-
दुद्भूतः सरसिजसम्भवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्ता-
दाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम्॥ (५।३९)

स्थल कमलों के वन के वन खिले हैं, उनसे पीत पराग झर रहे हैं। हवा झोंके से बह रही है। वह पराग को उड़ा कर आकाश में फैला दे रही है। इस प्रकार कमल का पराग सोने के बने छाता की शोभा धारण कर रहा है। आकाश में फैला हुआ पराग सोने के बने पीले छाते की तरह जान पड़ता है। श्लोक का भाव बिल्कुल अनूठा है। सहृदयों को भारवि का कनकमय आतपत्र का सुन्दर प्रयोग इतना अच्छा लगा कि उन्होंने भारवि का नाम ही इसी के कारण 'आतपत्र भारवि' रख दिया।

कालिदास के साथ भारवि का नाम दक्षिण के चालुक्यवंशी नरेश

---

[1] श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—
इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिश्चन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥

स्थितिकाल

पुलकेशी द्वितीय के समय के ऐहोड़ के शिलालेख में मिलता है। यह शिलालेख दक्षिण में बीजापुर जिले के ऐहोड़ नामक ग्राम में एक जैन मन्दिर में मिला है। इस शिलालेख का समय[1] ५५६ शकाब्द (अर्थात् ६३४ ईस्वी) है। शिलालेख की प्रशस्ति पुलकेशी के आश्रित रविकीर्ति नामक किसी जैन कवि की है। प्रशस्ति के अन्त में रविकीर्ति अपने को कविता निर्माण करने में कालिदास तथा भारवि के समान यशस्वी बतलाता[2] है। गंग नरेश दुर्विनीत के समय के शिलालेख से जान पड़ता है कि दुर्विनीत ने किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें सर्ग पर टीका लिखी थी[3]। टीका लिखना उचित ही था क्योंकि पूरे महाकाव्य में यही सर्ग सबसे अधिक क्लिष्ट है क्योंकि भारवि ने इस सर्ग में चित्रकाव्य लिखा है। इन उल्लेखों से यही पता चलता है कि ६३४ ईस्वी के पहले भारवि हुये—उस समय तक इनका नाम दक्षिण में प्रसिद्ध हो चुका था।

अवन्तिसुन्दरी कथा के आधार पर भारवि विष्णुवर्धन के सभा-पण्डित बताये गये हैं। विष्णुवर्धन पुलकेशी द्वितीय का अनुज था और वह ६१५ ईस्वी के आसपास महाराष्ट्र प्रान्त में अपने भाई की आज्ञा से राज्य करता था। उसके समकालिक होने से भारवि का समय सप्तम शताब्दी का आरम्भ काल होना चाहिये अर्थात् मोटे तरह से यही कहना चाहिये कि भारवि ६०० ईस्वी के आसपास विद्यमान थे।

---

[1] पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्च शतासु च
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्।

[2] येनायोजि नवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।

[3] शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धवड्ढकथेन किरातार्जुनीयपञ्चादशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन।

ग्रन्थ

भारवि की अमर कीर्ति जिस काव्य पर अवलम्बित है वही सुप्रसिद्ध 'किरातार्जुनीय' नामक महाकाव्य जो महाभारत के एक सुप्रसिद्ध आख्यान के ऊपर आश्रित हैं।

द्यूतक्रीडा में हार कर युधिष्ठिर द्वैत-वन में रहते थे। दुर्योधन की शासन प्रणाली देखने के लिये उन्होंने एक वनेचर को भेजा। वनेचर पूरी जानकारी प्राप्त कर लौटा और दुर्योधन के सुव्यवस्थित शासन की बातें बतलाईं। भीम और द्रौपदी ने युधिष्ठिर को युद्ध करने के लिये उत्तेजित किया परन्तु धर्मराज ने प्रतिज्ञा तोड़कर समर छेड़ने की बात कथमपि स्वीकार नहीं की। इसी बीच में भगवान् वेदव्यास जी भी वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने अर्जुन को पाशुपतास्त्र पाने के लिये इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने के हेतु भेजा। अर्जुन ने कठिन तपस्या की। व्रतभंग करने के लिये दिव्याङ्गनायें भी आईं, परन्तु व्रती अर्जुन अपने व्रत से तनिक भी नहीं डिगे। भगवान् इन्द्र स्वयं अर्जुन के आश्रम में आये और मनोरथसिद्धि के लिये शिवजी की तपस्या करने का उपदेश दे गये। अर्जुन ने और भी दत्तचित्त से शिव की आराधना की। मुनिगणों के कहने पर शिव ने अर्जुन के तपोबल की परीक्षा करने के लिये किरात का रूप धारण किया। एक मायावी शूकर अर्जुन की ओर भेजा गया। अर्जुन ने शूकर पर अपने बाण छोड़े, साथ ही साथ किरात ने भी अपने शरों को छोड़ा। अर्जुन का बाण सुअर का काम तमाम कर पृथ्वी में चला गया। बचे हुये बाण के लिये झगड़ा छिड़ गया। कभी धनञ्जय की विजय होती, तो कभी किरात का पक्ष प्रबल होता। अन्ततोगत्वा दोनों बाहु-युद्ध पर तुल गये। गाण्डीवी के बल से प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने स्वयं अपना दर्शन दिया और अपना अमोघ पाशुपत अस्त्र देकर अर्जुन की अभिलाषा पूरी की।

किरात में १८ सर्ग हैं जिनमें ऊपर वर्णित कथानक का वर्णन किया गया है, परन्तु बीच के कई सर्गों में भारवि ने महाकाव्य के कथनानुसार ऋतु, पर्वत, सूर्यास्त, तथा जलक्रीड़ा का बहुत कुछ विस्तार किया है। पूरा चौथा सर्ग शरद ऋतु, पंचम हिमालय पर्वत, षष्ठ युवतिप्रस्थान, अष्टम सुराङ्गना-विहार तथा नवम सुरसुन्दरी-संभोग वर्णन में लगाये गये हैं। किरात में प्रधान रस वीर है। श्रृंगार रस भी गौणरूप से वर्णित किया है, वह मुख्य रस का अंगभूत ही है। किरात का आरम्भ 'श्री' शब्द से (श्रियः कुरूणामधिपस्य पालिनीम्) होता है तथा प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द आया है। कहना व्यर्थ है कि भारवि ने 'मंगलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते' के अनुसार अन्त में मङ्गलार्थक लक्ष्मी शब्द का प्रयोग किया है।

समीक्षा

भारवि का काव्य अपने 'अर्थगौरव' के लिये विवेचकों में प्रसिद्ध है। "भारवेरर्थगौरवम्"। अल्प शब्दों में विपुल अर्थ का सन्निवेश

कविता

कर देना अर्थगौरव की पहिचान है। भारवि ने बड़े से बड़े अर्थ को थोड़े से शब्दों के द्वारा प्रकट कर वास्तव में अपनी अनुपम काव्यचातुरी दिखलाई है। भारवि ने भीम के भाषण की प्रशंसा युधिष्ठिर के द्वारा जिन शब्दों में कराई है, वे ही शब्द इनकी कविता के भी यथार्थ निदर्शन हैं—

> स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
> रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥
>
> (२।२७)

भारवि ने अपने काव्य को अलंकार से विभूषित करने में खूब प्रयत्न किया है। ऋतु जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय का वर्णन बड़ी सुन्दर भाषा में किया है। चतुर्थ सर्ग में शरद ऋतु का वर्णन इतना नैसर्गिक

और हृदयग्राही हुआ है कि इस जोड़ का दूसरा वर्णन ढूँढ़ निकालना कठिन है। अन्य प्राकृतिक दृश्यों का भी वर्णन खूब अनूठा हुआ है। उपमा, श्लेष आदि अलंकारों का प्रयोग भी उचित स्थान पर किया गया है। भारवि ने चित्र काव्य लिखने में अपनी चातुरी दिखलाने के लिये एक समग्र सर्ग—पञ्चदश—ही लिख डाला है। इस सर्ग में सर्वतोभद्र, यमक, विलोम तथा अन्यान्य चित्र काव्य की शैली के नमूने पाये जाते हैं। भारवि ने एक ही अक्षर वाला भी एक श्लोक[1] लिखा है जिसमें 'न' के सिवाय अन्य वर्ण है ही नहीं। अतः कहीं कहीं इनका काव्य कठिन-सा हो गया है। इसीलिये मल्लिनाथ ने इनके काव्य को नारिकेल फल के समान बतलाया है (नारिकेलफल-सन्निभं वचो भारवेः) इतना होने पर भी इनकी कविता में एक विचित्र चमत्कार है—मनोरम गाम्भीर्य है जो पाठकों के हृदय को अपनी ओर खींच लेता है।

भारवि नीति के, विशेषतः राजनीति के, बड़े भारी ज्ञाता प्रतीत होते हैं। पूरे काव्य में नीति भरी पड़ी है।

'वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः' 'न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः', 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' 'विश्वासत्याशु सतां हि योगः' 'सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः', 'गुरुतां नयन्ति हि गुणाः न संहतिः', 'गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः'—भारवि के कितने ही सुन्दर तथा उपादेय नीति-वाक्य पण्डितों को जिह्वा पर रहते हैं।

राजनीति का भी विशिष्ट वर्णन किरातार्जुनीय में उपलब्ध होता है। द्वितीय सर्ग में भीमसेन और युधिष्ठिर का सम्वाद राजनीति के गूढ़ तत्त्वों से भरा हुआ है। अन्य सर्गों में राजनीति के ऊँचे सिद्धान्त उचित स्थान पर रखे गये हैं।

---

[1] ननोनन्नुनो नुन्नोनोनाना नानाननानन्नु
नुन्नोऽनुन्नोननुन्नेनोनाने नानुन्ननुन्ननुत्। (१५।१४)

भारवि ने बहुत से छन्दों में कविता की है परन्तु सबसे अधिक सुन्दरता से वंशस्थ का प्रयोग किया है। क्षेमेन्द्र ने वंशस्थ वृत्त को राजनीतिक विषयों के वर्णन के लिये सबसे अधिक उपयुक्त माना है—

षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते।

अतएव कोई आश्चर्य की बात नहीं कि राजनीति के विशेषज्ञ भारवि का वंशस्थ सबसे अच्छा हुआ है। लेखक को तो यही प्रतीत होता है कि भारवि के द्वारा वंशस्थ के सुचारु प्रयोग की सुषमा के कारण ही सम्भवतः क्षेमेन्द्र ने वंशस्थ को राजनीति वर्णन के लिये उपयुक्त छन्द माना है। क्षेमेन्द्र ने भारवि की प्रशंसा में यह श्लोक लिखा है—

वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता।

—सुवृत्ततिलके।

कवि की विशिष्टता

भारवि का संसार का अनुभव उच्चकोटि का है। संसार के सुख दुःख की पहिचान इन्हें खूब है। वे बड़े मानी प्रतीत होते हैं। उनकी दृष्टि में मान का—स्वात्माभिमान का—बड़ा आदर है। द्रौपदी तथा भीम ने अपने सम्मान की रक्षा के लिए युधिष्ठिरको जिस प्रकार उत्साहित किया है वह मनन करने का विषय है। कवि के स्वभाव में जितना मान का गौरव है, उससे कहीं अधिक विनय का महत्त्व है। किरात में जितने संभाषण मिलते हैं उनमें कहीं भी शिष्टाचार तथा विनय का उल्लंघन नहीं है, उनके पात्रों में अपने विरोधियों की बातें शान्तचित्त से सुनने की क्षमता है। वे अपने पक्ष का मण्डन बड़े तर्क से करते हैं तथा अपने विपक्षियों के कथन का भी खूब खण्डन करते हैं, परन्तु उनमें उद्वेग नहीं दीखता। भारवि माँगने को बड़ा बुरा मानते थे। इसे वे पण्डितों की मर्यादा को

भंग करने वाली बतलाया है—धिग् विभिन्नबुधसेतुमर्थिताम्। वे जानते हैं कि गुण प्रेम में रहते हैं वस्तु में नहीं—वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि। सज्जनता के विशिष्ट गुणों का वे मर्म जानते हैं कि सज्जनों की वाणी निन्दा करना जानती ही नहीं, केवल गुणों का ही प्रकाश करती है। 'अयातपूर्वा परिवादगोचरं सतां हि वाणी गुणमेव भाषते'। राजनीति का उनका ज्ञान सिद्धान्त-ग्रन्थों के अध्ययन का फल नहीं है, प्रत्युत व्यावहारिक कार्यों के अवलोकन का परिणाम है। राजनीति के तत्त्वों का तथा राजदूतों का इतना सजीव वर्णन किरात में मिलता है कि वह कवि कल्पना नहीं हो सकता—वह तो आँखों से देखा हुआ स्वानुभूत यथार्थ वर्णन ही हो सकता है।

भारवि की कविता में गीतिमय माधुर्य की अपेक्षा वर्णनात्मक तथा तर्कात्मक ओज का ही प्राधान्य है। भारवि सुश्लिष्ट पदविन्यास के आचार्य हैं। कालिदास के समान प्रसादमयी हृदयावर्जक पदावली का अस्तित्व इनके महाकाव्य में तो सचमुच नहीं है परन्तु अर्थगौरवमय पदों का विलास यहाँ पूर्ण मात्रा में है। राजनीति के सिद्धान्तों का तार्किक रीति से प्रतिपादन तथा प्रकृति के दृश्यों का मनोहर वर्णन भारवि की भव्य कला के प्रौढ़ अङ्ग हैं। संसार की विपुल अनुभूति की पृष्ठभूमि पर किरातार्जुनीय में व्यावहारिक तत्त्वज्ञान का वर्णन कवि के अनुभव की विशालता, राजनीति की पटुता तथा कथनोपकथन की चातुरी प्रदर्शित करने का पर्याप्त साधन है। भारवि से हम बहुत ही बड़ी बातों की आशा नहीं कर सकते परन्तु जितना इन्होंने लिखा है प्रौढ़ता, अनुभूति तथा भावुकता के साथ लिखा है। और यही भारवि की निजी विशेषता है। संस्कृत काव्य की एक नवीन शैली—विचित्र मार्ग—की सृष्टि करने के लिए भी भारवि प्रबन्ध काव्यों के विकाश में एक गौरवपूर्ण स्थान धारण करते हैं।

इनकी कविता के स्वरूप-ज्ञान के लिए दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

मृणालिनीनामनुरंजितं त्विषा
विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं
द्रुत धनुष्खण्डमिवाहिविद्विषः । (४।२७)

धान के खेतों में जल कितना सुन्दर मालूम पड़ता है । कमलिनी खिली हैं । कमललता के हरे रंग के कारण जल भी हरा हो गया है । कमल के पत्तों की शोभा के साथ जल की शोभा मिल रही है । खेत में धानों की पकी पकी पीली शिखा (बालियाँ) सिरे पर हिल रही हैं जिनसे जल भी पीला हो गया है । खेत का यह रंजित जल ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों वृत्र के शत्रु इन्द्र महाराज का रंगविरंगा धनुष, गलकर पानी के रूप में वह रहा हो । क्याही अनोखी कल्पना है !

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः
शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला
धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥ (४।३६)

शरद का सुहावना समय है । सुग्गों की पाँत की पाँत उड़ रही है । शिरीष के फूल की तरह कोमल हरे शुकों की पाँत मूँगे के टुकड़े के समान लाल लाल चोंचों में धान की पीली पीली बालियों को लिये हुये आकाश में उड़ी जा रही है । मालूम पड़ता है कि इन्द्रधनुष आकाश से उगा हो । सुग्गों का शरीर है हरा ; चोंच है लाल, उन चोंचों में ली हुई धान की बालियाँ हैं पीली । इन रंगों की मिलावट क्या इन्द्रधनुष से कम सुहावनी जँचती है ? भारवि ने शरद के इस शोभन दृश्य को कितने सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है । कल्पना एक दम नई है—वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है ।

५

भट्टि

केवल भट्टि काव्य के अन्तिम पद्य से कवि के जीवन का स्वल्प संकेत चलता है। सरलता से व्याकरण सिखलाने के लिए निर्मित भट्टिकाव्य के लेखक महाकवि भट्टि के पूरे जीवनचरित का परिचय पाना नितान्त दुष्कर है।

काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां
श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य
क्षेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्।

इससे जान पडता है कि भट्टिस्वामी का वलभी के राजा श्रीधरसेन की सभा में सत्कार होता था, सम्भवतः ये उनके सभा-पण्डित थे। अतः श्रीधरसेन का काल ही भट्टिकाव्य का निर्माण-काल है। शिलालेखों में वलभी में राज्य करने वाले श्रीधरसेन नाम-धारी चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है। प्रथम श्रीधरसेन का काल ५०० ई० के आस-पास है और अन्तिम राजा का ६५० के लगभग। इन चारों राजाओं में से भट्टिस्वामी किस श्रीधरसेन के शासन काल में थे ? यह कहना अत्यन्त दुष्कर है; परन्तु श्रीधरसेन द्वितीय के एक शिलालेख में किसी भट्टिनामक विद्वान् को कुछ भूमि देने का उल्लेख है। इस शिलालेख के भट्टि तथा महाकवि भट्टि को एक मानने में कोई भी साधक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु यदि दोनों नाम-साम्य से एक मान लिये जायँ तो भट्टिस्वामी का समय प्रायः निश्चित-सा हो जायगा। इस शिलालेख का समय ६१० ई० के आस-पास है। अतएव भट्टिस्वामी का समय भी ईसा की छठीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध

तथा सातवीं का आरम्भ सिद्ध होता है। दोनों की भिन्नता मानने पर भी हम यह निस्सन्देह कह सकते हैं कि सातवीं सदी के मध्यकाल से पहिले भट्टिकाव्य की रचना की गई थी।

ग्रन्थ

भट्टिस्वामी का ग्रंथ उन्हीं के नाम पर भट्टिकाव्य कहलाता है। इसे रावण वध भी कहते हैं। यह महाकाव्य २० सर्गों में समाप्त हुआ है, इसमें ३६२४ पद्यों का मनोहर संनिवेश किया गया है। इस महाकाव्य्में मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र की जीवन घटनायें सरल रीति से वर्णन की गई हैं। इस महाकाव्य का सुन्दर उद्देश्य यह है कि मनोरंजन के साथ साथ संस्कृत व्याकरण का पूर्ण ज्ञान पाठकों को प्राप्त हो जाय। संस्कृत व्याकरण के कठिन होने के कारण देववाणी के कुछ सच्चे भक्तों को इसे सरल बनाने की चिन्ता थी। उनकी यह हार्दिक इच्छा थी कि बालकों को शब्दों की व्युत्पत्ति तथा समुचित प्रयोग एक साथ मालूम हो जायँ। केवल भट्टिकाव्य ही इस प्रकार के काव्य का नमूना नहीं है बल्कि अन्य काव्य भी संस्कृत साहित्य में विद्यमान हैं। काश्मीरदेशीय भट्टभौम कृत "राघवार्जुनीय" काव्य भी इसी आशय से लिखा गया है। पातंजल महाभाष्य में उद्धृत कतिपय पद्यांशों से कई लोगों ने यह अनुमान निकाला है कि महर्षि पतंजलि के समय में भी ऐसे वैयाकरण काव्यों का उद्भव हो चुका था। भट्टिस्वामी ने पूर्व-विद्वानों के द्वारा अभ्यस्त मार्ग का अनुसरण बड़ी उत्तम रीति से किया है। ग्रन्थकार ने पुस्तक का उद्देश्य बड़ी योग्यता से पूर्ण किया है।

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते ॥

यह महाकाव्य व्याकरण जाननेवालों के लिये बड़ा उपकारी है। व्याकरण जाननेवालों के लिये यह ग्रन्थ दीपक की तरह अन्य शब्दों को भी प्रकाशित कर देगा। जिस प्रकार अन्धों के हाथ में रहने

पर भी दर्पण प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कराता है, उसी प्रकार व्याकरण न जाननेवालों के लिये यह ग्रन्थ व्याकरण का परिचय प्रत्यक्ष रीति से नहीं करावेगा।

समीक्षा

कविता

यद्यपि व्याकरण-सरलता को लक्ष्य में रखकर इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है, तथापि पाठकों को भूलना न चाहिये कि यह काव्य ही नहीं महाकाव्य है, व्याकरण ग्रन्थ नहीं। अतएव महाकाव्य के आवश्यक गुणों का निवेश कविवर ने बड़ी योग्यता के साथ किया है । भट्टिकाव्य के चार सर्गों की, दसवें से लेकर तेरहवें तक की, सृष्टि काव्य की विशेषताओं को प्रदर्शित करने के लिये की गई है। दसवाँ सर्ग शब्दलंकार तथा अर्थालंकार की सुन्दर छटा से सुशोभित है। यमकालंकार के जितने भिन्न भिन्न उदाहरण इस सर्ग में उपलब्ध होते हैं उतने अन्य काव्यों में बहुत कम पाये जाते हैं। एकादश सर्ग की सृष्टि माधुर्यगुण की अभिव्यक्ति के लिये की गई है। उदात्त तथा अद्भुत भावों के प्रकटीकरण के लिये समग्र द्वादश सर्ग निर्मित हुआ है। त्रयोदश में भाषानिवेश खूब मनोमोहक है। इन विशिष्ट सर्गों के अतिरिक्त भी अन्य सर्गों में प्रसाद तथा माधुर्य गुणों की कमी नहीं है।

भट्टि में वक्तृत्व शक्ति बड़े ऊँचे दर्जे की विद्यमान थी। इसके प्रमाण भट्टिकाव्य के कतिपय पात्रों के भाषण हैं। विभीषण के राजनीतिक भाषण से कविवर के राजनीतिक ज्ञान का परिचय हमें मिलता है। रावण की सभा में उपस्थित होने पर शूर्पणखा का भाषण भी बड़े महत्त्व का है। कविवर ने भाषणों को उन पात्रों के समुचित ही निविष्ट किया है। शूर्पणखा के भाषण (५ म सर्ग) से उस कुलटा के कुटिल स्वभाव का परिचय हमें साफ़ तौर से मिलता है। प्राकृतिक दृश्यों के

रमणीय वर्णन करने में कविवर भट्टि की शक्ति अच्छी दीख पड़ती है। द्वितीय सर्ग में शरद् ऋतु का वास्तव में विमल वर्णन है। द्वादश सर्ग में प्रातःकाल का कमनीय वर्णन किया गया है। यह प्रातर्वर्णन साहित्य भर में अपना स्पर्धी नहीं रखता। महाकवि माघ का प्रभातवर्णन संस्कृत साहित्य में खूब प्रसिद्ध है, परन्तु लेखक की धारणा है कि कविवर माघ की दृष्टि भट्टि के प्रभात वर्णन पर अवश्य पड़ी थी। कम-से-कम दोनों वर्णनों में बहुत से समानता के विषय हैं। दोनों कवियों ने श्रृंगाररसाविष्ट रति-अनुरक्त कामी तथा कामिनियों के विलास वर्णन में अधिक शक्ति खर्च की है। कहीं कहीं माघ के पद्यों पर भट्टि के पद्यों की छाया स्पष्ट दृग्गोचर हो रही है। सारांश यह है कि कविता के विचार से भट्टिकाव्य न्यून श्रेणी का नहीं ठहरता। कवि भट्टि अपने प्रशंसनीय उद्योग में पूरे सफल हुए हैं। इस काव्य से पाठकों को काव्य-परिचय के साथ साथ संस्कृत व्याकरण का भी यथेष्ट ज्ञान हो जाता है। अतएव भट्टि हम सबके आदर तथा श्रद्धा के पात्र हैं।

सूर्योदय का यह एक रमणीय वर्णन है:—

> दुरुत्तरे पङ्क इवान्धकारे मग्नं जगत् सन्ततरश्मिरज्जुः।
> प्रनष्टमूर्तिप्रविभागमुद्यन् प्रत्युज्जहारेव ततो विवस्वान्॥

भावार्थ—यह समस्त संसार गहरे कीचड़ की तरह गाढ़ान्धकार में धँसा हुआ है, जिससे स्थावर तथा जंगम प्राणियों के शरीर बिल्कुल नहीं दिखाई पड़ते। उदयाचल पर उदय होने वाला सूर्य रस्सीरूपी किरणों को चारों ओर फैलाकर उस अन्धकार से संसार को मानो उठा रहा है। सहृदयमर्मस्पर्शिणी उत्प्रेक्षा माघ के प्रभात वर्णन की स्मृति दिलाती है!

६

कुमारदास

संस्कृत काव्य का परिशीलन भारतवर्ष से बाहरी देशों में भी प्रचुरता के साथ इस युग में किया जाता था जिसका उत्कृष्ट उदाहरण सिंघल नरेश कुमारदास का महनीय महाकाव्य 'जानकी-हरण' है। इस प्रसन्न काव्य का पूरा उपलब्ध न होना साहित्य-संसार का विषम दुर्भाग्य ही है। सिंघली भाषा में इसके आरम्भिक पन्द्रह सर्गों के ऊपर पूर्ण पदानुयायी व्याख्या ('सन्न' के अभिधान से व्यवहृत) उपलब्ध होती है और इसी के आधार पर मूल ग्रन्थ का पुनरुद्धार किया भी गया है। मद्रास से २० सर्गों की एक अज्ञातमूल अशुद्धिबहुल हस्त-लिखित प्रति भी उपलब्ध होती है।

भारतवर्ष के विद्वान् तथा आलोचक 'जानकी हरण' से अवश्यमेव परिचित थे। उज्ज्वलदत्त ने उणादि टीका में 'धूसर' शब्द के दृष्टान्त के लिए जानकीहरण का एक पद्यांश उद्धृत किया है। राजशेखर (१० शतक) ने कुमारदास को कालिदास की शैली तथा परम्परा का अनुयायी बतलाया है—

जानकी-हरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमौ॥

—सूक्तिमुक्तावली

रघुवंश (काव्य तथा सूर्यवंश) के होते यदि किसी की सामर्थ्य जानकीहरण (काव्यग्रन्थ तथा सीता का हरण) करने में है, तो केवल कुमारदास तथा रावण की। प्रतापी रघुवंश के रहते रावण के सिवा जनक-तनया के हरण करने की योग्यता किस व्यक्ति में थी? उसी प्रकार कालिदास के मनोहर रघुवंश काव्य के रहते उसी विषय पर

कुमारदास के अतिरिक्त कौन कवि अपनी सफल लेखनी चला सकता था? इन सब प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि प्राचीनकाल में जानकीहरण को पण्डित-समाज में प्रचुर प्रसिद्धि प्राप्त थी ।

जीवन-चरित

सिंहल की पूजावली से ज्ञात होता है कि राजा मोग्गलायन (मौद्गलायन) कुमारदास सिंहल में नव वर्षों तक राज्य करके कालिदास की चिता पर आत्मघात कर मर गया। सिंहल-राज्य के पाली-इतिहास 'महावंश' में इन्हें मौद्गलायन न कहकर मौर्य लिखा हुआ है। महावंश के अनुसार कुमारदास की मृत्यु ५२४ ई० में हुई। कवि कुमारदास तथा सिंहलराज कुमारदास, दोनों एक ही व्यक्ति माने गये हैं।

कहा जाता है कि जानकीहरण की कालिदास ने खूब प्रशंसा की, जिसे सुनकर कुमारदास ने कालिदास को सिंहल में बुलाया। कालिदास राजा के आग्रह करने पर लंका गये और वहाँ किसी सुन्दरी के यहाँ इनका आना-जाना प्रारम्भ हुआ। दुर्भाग्यवश कालिदास पकड़े गये और मार डाले गये। मित्र की मृत्यु के कारण प्रेम से विह्वल होकर कुमारदास ने कालिदास की चिता पर आत्मघात कर डाला। आज भी लंका के दक्षिण प्रान्त में कालिदास का समाधिस्थान है। समाधिस्थान के पड़ोस के भिक्षु कहा करते हैं कि कुमारदास ने अपने मित्र के प्रसन्नार्थ उनकी ही भाषा में एक पहेली पूछी जिसे कालिदास ने बूझ लिया और उसका उत्तर अपनी मातृ-भाषा में दिया। कुमारदास और कालिदास की समसामयिकता सिंहल की पुस्तकों पर ही निर्धारित है। राजशेखर के उपर्युक्त श्लोक से तो इतना ही ज्ञात होता है कि कुमारदास कालिदास के अनन्तर हुये — परन्तु कितने समय बाद? यह बिल्कुल ही अज्ञात है। काव्यमीमांसा की एक दन्तकथा के अनुसार कुमारदास जन्मान्ध थे।

नन्दरगीकर महाशय ने कुमारदास को सिंहल के राजा कुमारधातु-

सेन से (यही नाम महावंश में मिलता है) सर्वथा भिन्न माना है। पूजावली और पेरुकुम्वासिरित (जो क्रमशः १३वीं और १६वीं शताब्दि के बने हुये हैं) प्राचीन इतिहास के विषय में, राजा और कविवर की अभिन्नता सिद्ध करने में, प्रमाण नहीं माने जा सकते। महावंश के सुयोग्य कर्ता विद्वान् महानाम राजा कुमारधातुसेन को जानकीहरण महाकाव्य का कर्ता अवश्य लिखता यदि वह राजा कुमारदास ही होता। कुमार धातुसेन की दूसरी प्रशंसाओं का होना और महाकाव्य का उल्लेख न होना सिद्ध कर रहा है कि दोनों व्यक्ति भिन्न थे। महावंश के समान प्राचीन किसी सिंघली ग्रन्थ से दोनों की एकता सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार कुमार दास के सिंघल नरेश होने में आलोचकों में पर्याप्त मतभेद है।

स्थितिकाल

कुमारदास छठी सदी के सिद्ध नहीं होते, वरन् नन्दरगीकर महाशय की सम्मति में आठवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश और नवीं के पूर्वार्द्ध के बीच किसी समय में इनका जन्म हुआ था। इस समय-निर्धारण का मुख्य कारण यह है कि जानकीहरण में कुछ नये शब्द उन्हीं विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त पाये जाते हैं जिन्हें काशिका (६३० ई०-६५० ई०) ने उल्लिखित किया है। सत्यापयति, उष्ण्रिम, आसुतीवल आदि ऐसे ही शब्द हैं। अतः कुमारदास सातवीं सदी के प्रायः सौ वर्ष बाद हुये क्योंकि सुदूर काश्मीर में लिखे गये नये व्याख्यान को भारत से दूर दक्षिण सिंघल में प्रसिद्ध होने में एक शताब्दी से कम समय न लगा होगा।

कुमारदास ने कालिदास के महाकाव्यों के नमूने पर अपना प्रसिद्ध काव्य लिखा है। श्लेषों का प्रयोग जानकीहरण में पाया जाता है परन्तु कालिदास की कविता में नहीं जिससे कुमारदास कालिदास के

पीछे के मालूम पड़ते हैं। वर्णनों में कालिदास की स्वाभाविकता की जगह कृत्रिमता अवश्य झलकती है। उपमा, अर्थान्तरन्यास, रूपक आदि अर्थालंकारों का समुचित निवेश देखने में आता है। अनुप्रास कवि का प्यारा अलङ्कार मालूम पड़ता है। महाकाव्यों की रीति से युद्ध, महल, ऋतु वगैरह का वर्णन स्थान पर बड़े विस्तार से किया गया है। वास्तव में जानकीहरण की कविता कालिदास के प्रसादगुण-विशिष्ट कविता के समान है। इसमें थोड़ा ओजगुण भी है जो कालिदास में नहीं पाया जाता।

जानकी-हरण कुमारदास की एकमात्र रचना है। इस महाकाव्य में २० सर्ग हैं। यह रामायणीय कथा को लेकर लिखा गया है।

ग्रन्थ

पहले सर्ग में अयोध्या, राजा दशरथ तथा उनकी महारानियों का वर्णन है। दूसरे सर्ग में बृहस्पति ब्रह्मा से सहायता माँगते समय रावण के चरित का वर्णन करते हैं। तीसरे सर्ग में राजा दशरथ की जलकेलि तथा सन्ध्या का काव्यमय रमणीय वर्णन है। चतुर्थ तथा पञ्चम सर्गों में दशरथ के महल में चार पुत्र पैदा होते हैं और इस रामजन्म से लेकर ताड़का तथा सुबाहु वध तक की कथायें हैं। षष्ठ सर्ग में राम-लक्ष्मण को साथ लिए विश्वामित्र जी जनकपुर पधारते हैं और जनक से उनकी भेंट होती है। सप्तम में राम और सीता का प्रेम तथा विवाह है। अष्टम में उनके विवाहजन्य आनन्द की बातें हैं। नवम में सब भाई अयोध्या लौटते हैं। दशम सर्ग में दशरथ राजनीति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय एक लम्बी वक्तृता देते हैं। रामचन्द्र का यौवराज्याभिषेक सर्वसम्मति से किया जाता है। बहुत सी घटनाएँ घटती हैं। सर्ग की समाप्ति के पहले ही जानकी का हरण हो जाता है। एकादश सर्ग में राम तथा हनुमान की मित्रता का वर्णन है। बालिवध के अनन्तर वर्षा ऋतु का अत्यन्त मनोहर वर्णन मिलता है। द्वादश

सर्ग में शरद्काल में सुग्रीव के अन्वेषण कार्य में न लगने पर लक्ष्मण जी उसको झिड़कियाँ सुनाते हैं। सुग्रीव रामचन्द्र को प्रसन्न करने के लिये उनके पास आता है तथा पर्वत का वर्णन करता है। त्रयोदश में वानरी सेना एकत्र की जाती है। चतुर्दश में वानर लोग समुद्र के ऊपर सेतु बनाते हैं। कवि यहाँ पर सेना के पार जाने का चमत्कारी वर्णन करता है। पन्द्रहवें सर्ग में अंगद जी रावण की सभा में राम के दूत बनकर जाते हैं। सोलहवें में राक्षसों की कमनीय केलियों का वर्णन है। सत्रहवें से लेकर बीसवें सर्ग तक संग्राम का वर्णन है। अन्त में रामचन्द्र रावण पर विजय प्राप्त करते हैं। राम-विजय के साथ यह महाकाव्य समाप्त होता है।

श्रवणकुमार की यह उक्ति कितनी स्वाभाविक है—

एकं त्वया साधयतापि लक्ष्यं नीतं विनाशं त्रितयं निरागः।
मच्चक्षुषा कल्पितदृष्टिकृत्यौ वृद्धौ वने मे पितरावहं च। १। ७७

हे राजन्! तुमने एक ही लक्ष्य पर बाण छोड़ा परन्तु निरपराधी तीन मनुष्यों का नाश कर डाला। मेरे ही आँखों से दृष्टि का काम लेने वाले मेरे बूढ़े माता पिता और मैं—ये तीनों एक ही बाण से मारे गये। मेरे मरने से मेरे माँ-बाप जीते नहीं रहेंगे।

वनेषु वासो मृगयूथमध्ये क्रिया च वृद्धान्धजनस्य पोषः।
वृत्तिश्च वन्यं फलमेषु दोषः संभावितः को मयि घातहेतुः॥

जंगलों में हरिन के झुंडों के बीच मेरा निवास है; वृद्ध अन्धे जनों का पालना मेरा काम है, जंगली फल मेरी जीविका है—इनमें से किसे आप मेरे मारने का कारण समझते हैं?

७

माघ

शिशुपालवध के कर्ता का नाम 'माघ' है। डाक्टर याकोवी का मत है कि जिस प्रकार "भारवि" ने अपनी प्रतिभा की प्रखरता सूचिन करने के लिए 'भा-रवि' (सूर्य का तेज) नाम रखा, उसी भाँति शिशुपालवध के अज्ञात-नामा रचयिता ने अपनी कविता से भारवि को ध्वस्त करने के लिए 'माघ' का नाम धारण किया, क्योंकि माघमास में सूर्य की किरणें ठंडी पड़ जाती हैं। परन्तु यह कल्पना बिल्कुल निराधार जान पड़ती है। शिशुपालवध के कर्ता का नाम ही 'माघ' है, उपाधि नहीं। माघ की जीवन घटनाओं का पता 'भोजप्रबन्ध' तथा 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' से लगता है। दोनों पुस्तकों में प्रायः एक-सी कहानी दी गयी है। माघ ने ग्रन्थ के अन्त में अपना थोड़ा परिचय भी दिया है। इन सबको एकत्रित करने पर माघ के जीवन की रूपरेखा को हम जान सकते हैं।

जीवनी—

माघ के दादा सुप्रभदेव वर्मलात नामक राजा के, जो गुजरात के किसी प्रदेश का शासक था, प्रधान मंत्री थे। अतः माघ कवि का जन्म एक प्रतिष्ठित धनाढ्य ब्राह्मणकुल में हुआ था। इनके पिता 'दत्तक' बड़े विद्वान तथा दानी थे। गरीबों की सहायता में इन्होंने अपने धन का अधिकांश भाग लगा दिया। माघ का जन्म भीन-माल+ में हुआ

+यह गुजरात का एक प्रधान नगर था। बहुत दिनों तक यह राजधानी तथा विद्या का मुख्य केन्द्र था। प्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त ने ६२५ ई० के आसपास अपने 'ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त' को यहीं बनाया। इन्होंने अपने को 'भीनमल्लाचार्य' लिखा है। ह्वेनसाँग ने भी इसको समृद्धि का वर्णन किया है।

था। पिता की दानशीलता का प्रभाव पुत्र पर भी पड़ा। ये भी खूब दानी निकले। राजा भोज[1] से इनकी बड़ी मित्रता थी। राजा भोज का इन्होंने अपने घर पर बड़े आवभगत से सत्कार किया। धीरे धीरे अधिक दान देने से निर्धन हो गये।

तब अपने मित्र भोज के पास आश्रय के लिये आये। 'भोज-प्रबन्ध' में लिखा है कि इनकी पत्नी राजा के पास 'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदाम्भोजखंडम्' आदि पद्य को, जो माघकाव्य के प्रभात वर्णन (११ सर्ग) में मिलता है, ले गयी। इस पद्य को सुनकर राजा ने प्रभूत धन दिया। उसे लेकर माघपत्नी ने रास्ते में दरिद्रों को बाँट दिया। माघ के पास पहुंचने पर उनकी पत्नी के पास एक कौड़ी भी न बच रही, परन्तु याचकों का ताँता बँधा ही रहा। कोई उपाय न देखकर दानी माघ ने अपने प्राण छोड़ दिये। प्रातः काल भोज ने माघ का यथोचित अग्निसंस्कार किया और बहुत दुःख मनाया। माघ पत्नी भी सती हो गई।

माघ के जीवन की यही घटना ज्ञात है। यह सच्ची है या नहीं, परन्तु इतना तो हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि माघ परम्परानुसार एक प्रतिष्ठित धनाढ्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। जीवन के सुख की समग्र सामग्री इनके पास थी। पिता ने इन्हें शिक्षा दी थी। पिता के समान ही ये दानी तथा उपकारी थे। सम्भवतः राजा भोज के यहाँ इनका बड़ा मान था।

---

[1] यह धारा का प्रसिद्ध राजा भोज नहीं हो सकता। इतिहास इसे असम्भव सिद्ध कर रहा है। अतएव कुछ लोग 'भोज प्रबन्ध' की कथा पर विश्वास नहीं करते। परन्तु इतिहास में कम से कम दो भोज अवश्य थे। एक तो प्रसिद्ध धारानरेश भोज (१०१०-५०) थे और दूसरे कोई सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए। सम्भवतः इसी दूसरे राजा के समय में माघ हुए थे। 'भोजप्रबन्ध' ने दोनों भोजों की कथाओं में गड़बड़ी मचा डाली है।

समय—

माघ के समय-निरूपण में बड़ा मतभेद है। कोई इनको सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानता है, तो कोई आठवीं शताब्दी के मध्य भाग में। परन्तु एक शिलालेख के आधार पर पहिला समय ज्यादा सम्भव जान पड़ता है। पूर्वोक्त भोज को प्रसिद्ध धारा-नरेश मानकर कोई कोई इन्हें ११ ग्यारहवीं शताब्दी में मानते हैं; परन्तु यह नितान्त अनुचित है। क्योंकि नवीं शताब्दी में होनेवाले आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने 'ध्वन्यालोक' में माघ काव्य के कई पद्यों को उद्धृत किया है। 'रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः' (३।५३) तथा 'त्रासाकुलः परिपतन्' (५।२६)—माघ के ये दोनों पद्यों को आनन्द ने उदाहरण के लिए 'आलोक' में दिया है। इतनो ही नहीं, नवम शतक के 'कविराजमार्ग'* नामक एक दूसरे अलंकार ग्रन्थ में भी माघ का नाम मिलता है।

अतएव यह निश्चित है कि माघ का ससय नवीं सदी (८००) से उतर कर नहीं हो सकता है। इसके ऊर्ध्वतर काल को निश्चित करने वाले एक प्रमाण की उपलब्धि अभी हुई है। डाक्टर किल्हार्न को राजपूताने के वसन्तगढ़ नामक किसी स्थान से वर्मलात राजा का एक शिलालेख मिला है। शिल्लालेख का समय संवत् ६८२ अर्थात् ६२५ ई० है। शिशुपालवध की हस्तलिखित प्रतियों में सुप्रभदेव के आश्रयदाता का नाम भिन्न भिन्न लिखा मिलता है। धर्मनाभ, वर्मनाभ, धर्मलात, वर्मलात आदि अनेक पाठ-भेद पाये जाते हैं। भीनमाल के आसपास प्रदेश में इस शिलालेख की उपलब्धि से डाक्टर किल्हार्न

---

* यह ग्रन्थ कन्नड भाषा में है। इसमें दण्डी के काव्यादर्श के आधार पर ही अलंकार निरूपण किया गया है। प्रसिद्ध दक्षिणदेशनीय राजा अमोघवर्ष (८१४ ई०) के समय में नृपतुंज नामक कवि ने इसकी रचना की थी। कन्नड भाषा की यह सबसे पुरानी पुस्तक होने से भी यह मूल्यवान् है।

'वर्मलात' को असली पाठ मानकर इस राजा तथा सुप्रभदेव के आश्रयदाता को एक ही मानते हैं। अतः सुप्रभदेव का समय ६२५ ई० के आसपास है। अतएव इनके पौत्र माघ का समय भी लगभग ६५० ई० से लेकर ७०० ई० तक होगा। अर्थात् माघ का आविर्भाव काल सातवीं सदी का उत्तरार्ध है।

इस समय-निरूपण के विरोधी प्रमाण का खण्डन आवश्यक है। माघ ने द्वितीय सर्ग के एक पद्य[1] में व्याकरण के प्रधान ग्रन्थों का उल्लेख किया है। पातञ्जल महाभाष्य तथा काशिका वृत्ति के साथ उन्होंने जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है। ह्वेन्साङ्ग के अनन्तर भारत में आने वाले इत्सिङ्ग नामक चीनी यात्री ने काशिकाकार वामन तथा जयादित्य का वर्णन किया है, वाक्यपदीय के कर्त्ता भर्तृहरि की मृत्यु का उल्लेख किया है, परन्तु जिनेन्द्रबुद्धि जैसे प्रचण्ड बौद्ध विद्वान् के विषय में वह बिल्कुल मौन है। अतः जान पड़ता है कि जिनेन्द्रबुद्धि ने अपने न्यास की रचना उसके जाने के समय (६९५ ई०) तक नहीं की थी। जब इत्सिङ्ग व्याकरण के अन्य ग्रन्थों का उल्लेख कर गया है तो जिनेन्द्रबुद्धि के इतने प्रसिद्ध होने पर उनके उल्लेख करने से वह विरत नहीं होता। अतः जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास की रचना ७०० ई० के आसपास की गई होगी।

जब माघ स्वयं ७०० ई० के आसपास के बने ग्रन्थ का उल्लेख

---

[1] अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना ।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरस्पशा ॥ २।११४

इस पद्य में माघ ने श्लेष के द्वारा राजनीति की समता शब्द-विद्या (व्याकरण-शास्त्र) से की है। 'न्यास' से तात्पर्य मल्लिनाथ ने जिनेन्द्रबुद्धि कृत न्यास ग्रन्थ ही माना है।

अपने ग्रन्थ में करते हैं, तो उनका समय ६५० ई० से ७०० ई० तक कैसे माना जा सकता है ? परन्तु न्यास ग्रन्थ के उल्लेख से भी यह कहना ठीक नहीं है कि माघ यहाँ जिनेन्द्र-बुद्धि के ग्रन्थ का ही उल्लेख कर रहे हैं। जिनेन्द्र-बुद्धि के पहिले भी बहुत से न्यास-ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। जिनेन्द्र-बुद्धि ने ही कुणि, चुल्लि तथा नल्लूर आदि के न्यास ग्रन्थों का उल्लेख किया है। बाणभट्ट ने जो न्यास की रचना के पहिले अवश्य हो चुके थे, 'हर्षचरित' में ठीक इसी श्लेष की उद्भावना की है—"कृतगुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि"। अतएव हम माघ को निश्चय-पूर्वक जिनेन्द्र-बुद्धि के पीछे नहीं मान सकते। बाणभट्ट के समान माघ ने भी इन्हीं न्यासों की ओर संकेत किया है न कि जिनेन्द्र-बुद्धि के न्यास की ओर। अतएव माघ के समय के सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

ग्रन्थ

माघ की कीर्तिलता केवल एक ही महाकाव्य शिशुपालवध रूपी वृक्ष पर अवलम्बित है। इसमें कृष्ण के द्वारा युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ में चेदि-नरेश शिशुपाल के वध की महाभारतीय कथा विस्तार से वर्णित है। महाकाव्य लम्बे लम्बे बीस सर्गों मे समाप्त हुआ है। महाकाव्य का रूप देने के लिये माघ ने इस ग्रन्थ में ऋतुवर्णन आदि अनेक विषयों का संगठन किया है। इन विषयों से कथा में चमत्कार पैदा हो गया है। स्थान स्थान पर राजनीति के विषय में लम्बे लम्बे व्याख्यान भी दिये गये हैं। अलंकारों की नवीनता देखते ही बनती है। माघ ने बड़े प्रयास से श्लेष को बैठाया है। यमक, अनुलोम, प्रतिलोम, एकाक्षर सर्वतोभद्र आदि अनेक चित्रालंकारों का भी सन्निवेश माघ की अलंकारप्रियता का पर्याप्त परिचायक है।

माघ और भारवि

माघ के महाकवि होने में तनिक भी सन्देह नहीं है। माघ ने साम्प्रदायिक प्रेम से उत्तेजित होकर अपने पूर्ववर्ती 'भारवि' से बढ़ जाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया है। भारवि शैव थे जिनका काव्य शिव के वरदान के विषय में है। माघ वैष्णव थे जिन्होंने विष्णु-विषयक महाकाव्य की रचना की है। वह स्वयं अपने ग्रन्थ को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु' कहते हैं। भारवि की कीर्ति को ध्वस्त करने में माघ ने कुछ भी उठा नहीं रक्खा है। 'किरातार्जुनीय' को अपना आदर्श मानकर भी माघ ने अपने काव्य में बहुत कुछ अलौकिकता पैदा कर दी है। किरात के समान ही माघ काव्य भी मंगलार्थक 'श्री' शब्द से आरम्भ होता है। किरात के आरम्भ में 'श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनी' है, उसी प्रकार माघ के प्रारम्भ में 'श्रियःपतिः श्रीमति शासितुं जगत्' है। भारवि ने किरात में प्रत्येक सर्ग के अन्तिम में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है। माघ ने इसी तरह अपने काव्य के सर्गान्त पद्यों में 'श्री' का प्रयोग किया है।

शिशुपालवध तथा किरातार्जुनीय के वर्णन-क्रम में समानता है। दोनों महाकाव्यों के प्रथम सर्ग में सन्देश-कथन है। दूसरे सर्ग में राजनीति-कथन है। अनन्तर दोनों में यात्रा का वर्णन है। ऋतु वर्णन भी दोनों में है—किरात के चतुर्थ सर्ग में तथा माघ के षष्ठ सर्ग में। पर्वत का वर्णन भी एक समान है—किरात के पाँचवें सर्ग में हिमालय का तथा माघ के चौथे सर्ग में रैवतक पर्वत का। अनन्तर दोनों में सन्ध्याकाल, अन्धकार, चन्द्रोदय, सुन्दरियों की जलकेलि—आदि विषयों के वर्णन कई सर्गों में दिये गये हैं। किरात के तेरहवें तथा चौदहवें सर्ग में अर्जुन तथा किरातरूपधारी शिव में बाण के लिए वाद-विवाद हुआ है; माघ के सोलहवें सर्ग में ऐसा ही विवाद शिशुपाल के दूत तथा सात्यकि में हुआ है। किरात के पन्द्रहवें तथा माघ के उन्नीसवें सर्ग में चित्र-

बन्धों में युद्धवर्णन है। इस प्रकार समता होने पर भी रसिक जन माघ के सामने भारवि को हीन समझते हैं:—

तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।

'माघे सन्ति त्रयो गुणाः।' यह तो सब पण्डित जानते हैं कि माघ में तीन गुण हैं—उपमा, अर्थ-गौरव तथा पदलालित्य। इन तीनों गुणों का सुभग दर्शन हमें माघ की कमनीय कविता में होता है। बहुत से आलोचक पूर्वोक्त वाक्य को किसी माघ भक्त पण्डित का अविचारित-रमणीय हृदयोद्गार बतलाते हैं, परन्तु वास्तव में पूर्वोक्त आभाणक में सत्यता है। माघ में कालिदास जैसी उपमाएँ भले न मिलें, परन्तु फिर भी इनमें न सुन्दर उपमाओं का अभाव है, न अर्थगौरव की कमी। पदों का ललित विन्यास तो निःसन्देह प्रशंसनीय है। माघ की पदशय्या इतनी अच्छी है कि कोई भी शब्द अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता।

माघ की विद्वत्ता

माघ केवल सरस कवि न थे, प्रत्युत एक प्रचण्ड सर्वशास्त्र-तत्त्वज्ञ विद्वान् थे। माघ जैसी विद्वत्ता किसी भी संस्कृत कवि में कम मिलेगी। भिन्न-भिन्न शास्त्रों का अध्ययन जितना माघ ने किया है, इन शास्त्रों के सिद्धान्तों का जिस सुन्दर रीति से माघ ने प्रतिपादन किया है, उस भाँति संस्कृत-साहित्य के किसी महाकाव्य में उपलब्ध नहीं होता। भारवि में राजनीति-पटुता अवश्य दीख पड़ती है, श्रीहर्ष में दार्शनिक उद्भटता अवश्य उपलब्ध होती है, परन्तु माघ में सर्वशास्त्रों का जो परिनिष्ठित ज्ञान दृष्टिगोचर होता है वह उन दोनों कवियों में कहाँ? उनमें भी पाण्डित्य है, परन्तु वह केवल एकाङ्गी है। परन्तु माघ का पांडित्य सर्वगामी है। वेद तथा दर्शनों से लेकर राजनीति तक का विशिष्ट परिचय इनके काव्य में पाया जाता है।

माघ का श्रुति-विषयक ज्ञान अत्यन्त प्रशंसनीय है। प्रातःकाल के

समय इन्होंने अग्निहोत्र का सुन्दर वर्णन किया है। हवन कर्म में आवश्यक सामधेनी ऋचाओं का उल्लेख किया है। (११ सर्ग, ४१ श्लोक)। वैदिक स्वरों की विशेषता भी आपको भली भाँति मालूम थी। स्वरभेद से अर्थभेद हो जाया करता है, इस नियम का उल्लेख मिलता है (१४। २४)। एक पद में होनेवाला उदात्त स्वर अन्य स्वरों को अनुदात्त बना डालता है—एक स्वर के उदात्त होने से अन्य स्वर 'निघात' हो जाते हैं। इस स्वर-विषयक प्रसिद्ध नियम का प्रतिपादन माघ ने शिशुपाल के वर्णन में बड़ी सुन्दर रीति से किया है—निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव (२।९५)। चौदहवें सर्ग में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का बड़ा ही विस्तृत तथा सुन्दर वर्णन किया हुआ मिलता है। दर्शनों का भी विशिष्ट ज्ञान माघ में दिखाई पड़ता है। सांख्य के तत्त्वों का निदर्शन अनेक स्थलों पर पाया जाता है। प्रथम सर्ग में नारद ने श्रीकृष्णचन्द्र की जो स्तुति की है (१।३३) वह सांख्य के अनुकूल है। योगशास्त्र की प्रवीणता भी देखने में आती है। 'मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय' आदि (४।५५) पद्य में चित्त-परिकर्म, सबीजयोग, सत्त्वपुरुषान्यताख्याति—योगशास्त्र के परिभाषिक शब्द हैं। आस्तिक दर्शनों की कौन कहे? नास्तिक दर्शनों में भी माघ का ज्ञान उच्चकोटि का था। माघ बौद्ध-दर्शनों से भी भलीभाँति परिचित थे (२।२८)। वे उसके सूक्ष्म विभेदों के भी ज्ञाता थे। वे राजनीति के भी अच्छे जानकार थे। बलराम तथा उद्धव के द्वारा राजनीति की खूबियाँ दिखलायी गयी हैं। माघ ने नाट्यशास्त्र के विभिन्न अङ्गों की उपमा बड़ी सुन्दरता से दी है। माघ एक प्रवीण वैयाकरण थे। उन्होंने व्याकरण के सूक्ष्म नियमों का पालन अपने काव्य में भलीभाँति किया है। व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थों का भी उल्लेख उन्होंने किया है। माघ का ज्ञान ललित कलाओं में भी ऊँची कक्षा का था। वे संगीतशास्त्र के सूक्ष्म विवेचक थे। जगह-जगह पर संगीत शास्त्र के मूल तत्त्वों का निदर्शन कराया गया है।

अलंकार-शास्त्र में माघ की प्रवीणता की प्रशंसा करना व्यर्थ है। वह तो कवि का अपना प्रदेश है। माघ ने राजनीति के गूढ़ तत्त्वों को सम्यक् समझाने के लिये अलंकार शास्त्र के नियमों का सहारा लिया है। माघ ने एक सच्चे कवि-आलंकारिक के ऊँचे पद से शब्द तथा अर्थ दोनों को 'काव्य' माना है (२।८६)।

कहने का सारांश यह है कि माघ एक महान् कवि-पण्डित थे। उनका ज्ञान हिन्दूदर्शन, बौद्धदर्शन, नाट्य-शास्त्र, अलंकारशास्त्र, व्याकरण, संगीत आदि शास्त्रों में बड़ा उत्कृष्ट था। माघ ने अपने सम्पूर्ण ज्ञान को कविता-कामिनी को अर्पण कर दिया है—उन्होंने कविता की बाँकी छटा दिखलाने के लिये समग्र संस्कृत-साहित्य के उपयोग करने में कुछ भी उठा नहीं रखा है।

समीक्षण—

संस्कृत भारती के महाभागवत कवि माघ ने अपने महाकाव्य के कथावस्तु को श्रीमद्भागवत (१०।७१-७५) के आधार पर ही मुख्यतया प्रस्तुत किया है। काव्य की प्रधान घटना का मुख्य आधार भागवत पुराण ही है। माघ की काव्य शैली 'अलंकृत' शैली का चूडान्त दृष्टान्त है जिसका प्रभाव अवान्तर कवियों के ऊपर बहुत ही अधिक पड़ा है। माघ परिष्कृत पदविन्यास के आचार्य हैं। सीधे सादे शब्दों में पदार्थ-निरूपण ऊँचे काव्य की कसौटी नहीं है, प्रत्युत वक्रोक्ति से मण्डित तथा शाब्दिक और आर्थिक चमत्कार के उत्पादक अलंकारों से सुसज्जित पद-विन्यास ही माघ की दृष्टि में सच्चे काव्य का निदर्शन है। फलतः इनके काव्य में समासों की बहुलता, विकटवर्णों की 'उदारता', गाढ बन्धों की मनोहरता पाठकों के हृदयावर्जन में सर्वथा समर्थ होती है। माघ के प्रवीण पद्य उस गुलदस्ते के समान हैं जिसे माली ने अनेक रंगीन फूलों के मञ्जुल मिश्रण से तैयार किया है और जो खूब कटे-छँटे नपे-तुले विदग्ध जनों के मनोविनोद के लिए प्रस्तुत एक नयनाभिराम कलात्मक

पदार्थ होता है। परन्तु कहीं कहीं, विशेषतः उन्नीसवें सर्ग में युद्ध वर्णन के प्रसंग में, चित्रालंकारों का बाहुल्य कवि की शाब्दिक चमत्कारिणी प्रतिभा का निर्देशक होने पर भी आलोचकों के नितान्त वैरस्य का कारण बनता है। अर्थालंकारों का उपन्यास बड़ी ही मार्मिकता से किया गया है। माघ ने नाना प्रकार के लघुकाय गीति-छन्दों का प्रयोग कर अपनी सहृदयता तथा विदग्धता का परिचय दिया है। 'मालिनी' छन्द के तो माघ रससिद्ध आचार्य हैं।

माघ 'पंडित कवि' हैं। इन्होंने नानाशास्त्रों के विषयों का उपयोग अपनी उपमा तथा उत्प्रेक्षा जमाने के लिए बड़ी सुन्दरता से किया है। उदात्त चरित शिशुपाल एक ही चाल में अपने शत्रुओं को उसी प्रकार मार भगाता है जिस प्रकार एक ही पद में विद्यमान उदात्त स्वर अन्य स्वरों को निघात स्वर (अनुदात्त) बना देता है। इस उपमा में वैदिक व्याकरण के मूल तथ्य का पाण्डित्य-पूर्ण संकेत है। और यही कारण है कि सामान्य जनों के लिए यह काव्य कुछ कठिन सा भान होता है। माघ के वर्णनों में—चाहे वे प्राकृतिक हो या मानुषिक-अपूर्व सजीवता है कवि के प्रकृति-पर्यवेक्षण का परिणाम उसके स्वाभाविक वर्णनों में खूब ही झलकता है। माघ ने अपने काव्य के उपबृंहण के लिए पर्वत, ऋतु, जल-क्रीडा, चन्द्रोदय, प्रभात आदि का चित्र बड़ी ही कुशल तूलिका से चित्रित किया है। माघ का प्रभात-वर्णन अपनी स्वाभाविकता तथा सरसत के कारण साहित्य संसार में अद्वितीय है। शिशुपालवध का समग्र एकादश सर्ग प्रातःकालीन रंग-भरे दृश्यों की भव्य झाँकी प्रस्तुत करता है। 'रैवतक' के वर्णन प्रसंग में उद्भावित एक नवीन कल्पना 'माघ' को 'घण्टा माघ' अभिधान का कारण बनती है। पर्वत की हाथी से तथा उसके दोनों ओर लटकने वाले सूर्य तथा चन्द्र की घण्टा से तुलना प्राचीन आलोचकों को इतनी रुची कि उन्होंने मुग्ध होकर उन्हें 'घण्टामाघ' का विरुद दे डाला (माघकाव्य ४।२०)।

माघ के पात्रों में खूब सजीवता है। आकाशसे उतरने वाले काले काले मेघों के नीचे कर्पूरपाण्डुर महर्षि नारद के रूप-चित्रण में कवि जितना सफल है उतना ही उनके सन्देश-कथन में भी। भगवान श्री कृष्ण का रूप तथा उनका सहिष्णु चरित्र बड़ा ही सुन्दर है। कवि की अलोकसामान्य प्रतिभा सामान्य पदार्थों में भी विशिष्टता उत्पन्न कर देती है, नित्य परिचित वस्तुओं में भी नवीनता का संचार करती है। वह प्रकृति के हृदय को समझता है तथा मधुर शब्दों में उसे अभिव्यक्त करता है। प्रातःकालीन दिवाकर का बालक रूप में चित्रण कवि के सरस हृदय का परिचायक है (११।४७), तो प्राची में सूर्योदय का यह रंगीन दृश्य एक चिरस्मरणीय वस्तु है—

विततपृथुवरत्रा-तुल्यरूपैर्मयूखैः,
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृतचपलविहङ्गालापकोलाहलाभि—
र्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः ॥

(११।४४)

चारों ओर फैली हुई, मोटी रस्सियों के समान, किरणों के द्वारा खींचा जाता हुआ बड़े भारी कलश के समान यह सूर्य दिशारूपी नारियों के समुद्र के जल से निकाला जा रहा है। जिस प्रकार कलश रस्सी की सहायता से बाहर निकाला जाता है, उसी प्रकार पूर्व-समुद्र में डूबे हुए सूर्य्य को दिशायें किरणरूपी रस्सियों से खींचकर निकाल रहीं हैं। जिस प्रकार घड़े को जल से निकालने के समय बड़ा कोलाहल मचता है, उसी तरह प्रातःकाल की चुह-चुहाती चिड़िया शोर मचा रही हैं। प्रातःकाल के समय, पक्षिगण का मनोहर कोलाहल कर्णपुट को सुख देता है। चारों ओर किरणें फैलाने वाले सूर्य का क्या ही सुन्दर वर्णन है।

रैवतक से बहने वाली नदियों के वर्णन में कवि अपने प्रेमी हृदय का परिचय देता है—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः ।
अनुरोदितीव करुणेन पत्त्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥

(४।४७)

पहाड़ी नदियाँ कल कल शब्द करती हुई बह रही हैं। ये निडर होकर उसकी गोद में लोट पोट-किया करती हैं। अतः वे रैवतक की बेटियाँ हैं। आज वे अपने पति समुद्र से मिलने के लिए जा रही हैं। इस कारण रैवतक चिड़ियों के करुण स्वर के द्वारा, जाना पड़ता है कि प्रेम के कारण रो रहा है। कन्या के पतिगृह जाने के समय पिता का हृदय पिघल जाता है, वह कितना भी कठोर हो द्रवीभूत अवश्य हो जाता है। "पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः"। अतः रैवतक भी पक्षियों के करुण स्वर से कन्याओं के लिए रो रहा है। ठीक है, पिता का हृदय कोमल होता ही है।

इन्हीं महनीय गुणों के कारण माघ का उत्कर्ष है। उनका शब्द भंडार एक अक्षय राशि है। नये नये शब्दों का प्रयोग, विचित्र व्याकरणसम्मत पदों का निवेश माघ के प्रचण्ड पाण्डित्यका परिचायक है। इसलिए तो 'नव सर्गं गते माघे नवशब्दो न विद्यते' के आभाणक के समान आलोचकों का यह कथन भी यथार्थ है—

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे ।
स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा ॥

८

प्रवरसेन

संस्कृत के महाकाव्यों के ढंग पर प्राकृत में, भी अनेक महाकाव्यों की रचना समय समय पर होती रही। इन प्राकृत महाकाव्यों में संस्कृत

महाकाव्य के सब विशिष्ट गुण विद्यमान हैं। कथा-वस्तु को अलंकृत करने का ढंग भी वही पुराना है। प्रकृति के मनोरम दृश्यों का, प्रभात तथा संध्या का, वसन्त तथा वर्षा का, संश्लिष्ट वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। प्राकृत-महाकवियों ने अपने सहयोगी संस्कृत महाकवियों की रचनाओं से बढ़कर काव्य-कला दिखलाने का प्रयत्न किया है। अनेक अंश में ये कविलोग सफल भी हुए हैं। भारवि का समकालीन 'सेतुबन्ध' प्राकृत महाकाव्य का श्रेष्ठ प्रतिनिधि माना जाता है जिसके विषय में बाणकी यह सूक्ति है—

कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला ।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना ॥

इस महाकाव्य के रचयिता प्रवरसेन किसी देश के राजा थे। पर वे किस देश के राजा थे? इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। कुछ लोग इन्हें काश्मीर का राजा मानते हैं, अन्य लोग वाकाटक वंश का राजा प्रवरसेन से इनकी अभिन्नता मानते हैं। सेतुबन्ध का दूसरा नाम 'रावणवध' या 'दशमुखवध' है। इसमें सेतुबन्धन से आरम्भ कर रावण-वध तक की कथा प्रौढ़रीति से वर्णित है। दण्डी ने महाराष्ट्री प्राकृत में लिखित इस महाकाव्य को 'सागरः सूक्तिरत्नानाम्'—सूक्तिरत्नों का समुद्र कहा है[1]। यह प्रशंसा यथार्थ है। बाणभट्ट भी इस महाकाव्य के कीर्तिशाली होने के प्रबल प्रमाण हैं। इन कारणों से स्पष्ट है कि सप्तम शतक से पहले ही इसकी रचना हो चुकी थी। इसके कर्ता कालिदास भी माने जाते हैं, ऐसी किम्वदन्ती है। सम्भवतः षष्ठ शतक में इस महाकाव्य की रचना हुई थी।

'सेतुबन्ध' में १५ 'आश्वास' हैं जिसमें सेतुबन्ध से आरम्भ कर

---

[१] महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः ।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥—काव्यादर्श

रामकथा का सुन्दर चमत्कारपूर्ण वर्णन है। इस काव्य में प्रसाद गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है, 'गउडवहो' के समान नितान्त नवीन अर्थ की कल्पना तो यहाँ कम मिलती है परन्तु जो कुछ मिलता है वह सरस भाषा में निबद्ध है। कालिदास के रचियता होने की किंवदन्ती का रहस्य इस साहित्यिक सौन्दर्य में छिपा हुआ है।

हनुमान् जी के आगमन पर रामचन्द्रजी की अवस्था का वह वर्णन नितान्त सुन्दर है—

दिट्ठ त्ति ण सद्दहिअं झीण त्ति सवाहमन्थरं णीससिअम्।
सोअइ तुमं ति रुण्ण पहुणा जिअइ त्ति मारुइ उवऊढो॥

'सीता जी को देखा है' इसे विश्वास नहीं किया। 'वह क्षीण हो गई है' इस पर वे रोते हुए दीर्घ निःश्वास लेने लगे। 'तुम्हें शोच करती है' इस पर प्रभु रोने लगे। 'वह जीती है' यह जानकर राम ने हनुमान-जी को आलिंगन किया।

९

काश्मीरी कवि

कश्मीर में संस्कृत काव्य तथा उसकी आलोचना की उपासना प्राचीन काल से होती चली आती है। इन प्राचीन काश्मीरक कवियों में भर्तृमेण्ठ अन्यतम हैं। कल्हण (तृतीय तरंग, २६४-६६) ने अपनी राजतरंगिणी में इनके आश्रयदाता मातृगुप्त (जो काश्मीर के तत्कालीन नरपति थे तथा जो कालिदास से कभी कभी एकीकृत किये जाते हैं) के द्वारा इनके महनीय काव्य 'हयग्रीव वध' के विशिष्ट सत्कार की घटना का उल्लेख किया है। मातृगुप्त के सभाकवि होने से इनका समय पञ्चम शतक का पूर्वार्ध माना जाता है। 'हयग्रीव-वध' के श्लोक सूक्ति-ग्रन्थों में उद्धृत हैं, परन्तु कतिपय पद्यों के अतिरिक्त इसका कोई भी

अंश आज अवशिष्ट नहीं है। राजशेखर इन्हें वाल्मीकि का नया अवतार मानते हैं—

बभूव वल्मीकभवः पुरा कवि-
स्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः।

यह महाकाव्य शोभन तथा प्रतिभासम्पन्न अवश्य होगा, तभी तो मातृगुप्त ने पुस्तक को बेठन में बाँधते समय इनके नीचे सोने का थाल रखवा दिया था कि कहीं इसका रस जमीन पर चू न जाय। भर्तृमेण्ठ के अनन्तर तीन शताब्दियों तक काश्मीर में प्रबन्ध कवियों का पता नहीं चलता। नवम शतक में रत्नाकर ही इस परम्परा को अग्रसर करने वाले महाकवि हैं।

रत्नाकर

हरविजय के रचयिता रत्नाकर काश्मीर के महाकवियों की रत्नमालिका के मध्यमणि हैं। काव्य का पूर्ण लालित्य इनकी कविता में लक्षित होता है। इनके पिता का नाम 'अमृतभानु' था। ये 'बालबृहस्पति' की उपाधि धारण करने वाले काश्मीर-नरेश चिप्पट जयापीड (८०० ई०) के सभापण्डित थे। इस बात का उल्लेख उन्होंने अपने को 'बालबृहस्पत्यनुजीविनः' लिखकर किया है। ये दीर्घजीवी प्रतीत होते हैं, क्योंकि कल्हण ने इन्हें अवन्तिवर्मा (८५५-८८४ ई०) के राज्यकाल में प्रसिद्धि प्राप्त करने की घटना का उल्लेख किया है—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

अतः साधारण रीति से हम कहते हैं कि ये नवम शतक के प्रथमार्द्ध में विद्यमान थे।

'हरविजय' संस्कृत महाकाव्यों में परिमाण तथा गुण की दृष्टि से श्रेष्ठ माना जाता है। इसमें पूरे पचास सर्ग तथा ४३२१ पद्य हैं। कम से कम इस काव्य का विपुल परिमाण ही इसकी अद्वितीयता का परिचायक है, परन्तु काव्यगुणों के चमत्कार के कारण भी यह काव्य सचमुच ही अद्वितीय है। रत्नाकर के समय माघ की विपुल ख्याति थी। उस काव्य को दबा डालने के उद्देश्य से ही रत्नाकर ने इस महाकाव्य का प्रणयन किया है। माघ वैष्णव थे। उन्होंने अपने काव्य को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्त्तनमात्रचारु' (अर्थात् भगवान् कृष्ण के चरित-कीर्तन के कारण सुन्दर) कहा है। उसी प्रकार शिवभक्त रत्नाकर ने अपने काव्य को 'चन्द्रार्धचूल-चरिताश्रय-चारु' लिखा है। कवि की यह गर्वोक्ति कि उनकी ललित, मधुर, सालंकार, प्रसादमनोहर, विकट यमक तथा श्लेष से मण्डित, चित्रमार्ग में अद्वितीय वाणी को सुनकर बृहस्पति के चित्त में भी शंका उत्पन्न हो जाती है निरी गर्वमयी उक्ति ही नहीं है, उसके सत्य होने का पर्याप्त कारण भी विद्यमान है[1]।

काव्य का कथानक तो बहुत ही स्वल्प है—शंकर के द्वारा अन्धक असुर का वध; परन्तु इसे अलंकृत, परिष्कृत तथा मांसल बनाने में कवि ने कुछ उठा नहीं रखा है। जलक्रीडा संन्ध्या चन्द्रोदय, समुद्रोल्लास, प्रसाधन, विरह, पानगोष्ठो आदि के वर्णन में १५ सर्ग खर्च किये गये हैं। भाषा के सौन्दर्य में, ललित पदों की मैत्री में, नवीन चमत्कारी अर्थ की कल्पना में, अभिनव वर्णनों के उपन्यास में, शब्दों के अद्भुत प्रभुत्व में यह महाकाव्य संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है, यह कथन पुनरुक्तिमात्र है। माघ सचमुच रत्नाकर के सामने काव्यप्रतिभा के प्रदर्शन

---

[1] ललितमधुराः सालंकाराः प्रसादमनोहरा
विकटयमकश्लेषोद्गारप्रबन्धनिरर्गलाः।
असदृशमतीश्चित्रे मार्गे ममोद्गिरतो गिरो
न खलु नृपते चेतो वाचस्पतेरपि शंकते ॥

में हतप्रभ से दीख पड़ते हैं। रत्नाकर का अध्यात्मशास्त्र का ज्ञान भी पूर्ण, बहुमुख तथा परिनिष्ठित था। छठे सर्ग में लगभग दो सौ सुन्दर श्लोकों में भगवान् की बड़ी ही पाण्डित्यपूर्ण स्तुति है जिसके एक एक पद्य से इनका गहरा शास्त्रानुशीलन प्रकट होता है। ४७ वें सर्ग की 'चण्डिकास्तुति' इनके शाक्तागम का उच्च ज्ञान अभिव्यक्त कर रही है। इस महनीय काव्य का यद्यपि कल्हण ने उल्लेख किया है (५।३४), अलक ने व्याख्या से इसे मण्डित किया है, क्षेमेन्द्र ने वसन्ततिलका वृत्त की प्रशस्त प्रशंसा की है[1] तथा सूक्ति संग्रहों ने इसके पद्यों को उद्धृत किया है, तथापि काश्मीर में भी इसके हस्तलिखित प्रतियों के अभाव से इसकी अवहेलना की घटना स्पष्ट प्रतीत होती है। संस्कृत आलोचक इस काव्य की भूयसी प्रशंसा करते हैं तथा रत्नाकर ने इस काव्य के सेवी अकवि पाठक को कवि तथा महाकवि बनाने की प्रतिज्ञा की है[2], तथापि इस काव्य में पाण्डित्य का बोझ इतना अधिक है कि उसके भीतर काव्य की चमत्कारी तथा प्रतिभाशाली उक्तियाँ दब सी गई हैं।

शिवस्वामी

शिवस्वामी काश्मीर के निवासी थे ये। स्वयं तो शैवमतावलम्बी थे, परन्तु 'चन्द्रमित्र' नामक बौद्धाचार्य की प्रेरणा से इन्होंने बौद्ध-साहित्य में प्रसिद्ध एक अवदान को अलंकृत महाकाव्य के रूप में

---

[1] वसन्त-तिलकारूढा वाग्वल्ली गाढसंगिनी।
रत्नाकरस्योत्कलिका चकास्त्यानन-कानने॥
—सुवृत्ततिलक

[2] हरविजयमहाकवेः प्रतिज्ञां शृणुत कृतप्रणयो मम प्रबन्धे।
अपि शिशुरकविः कविः प्रभावात् भवति कविश्च महाकविः क्रमेण॥

काल

गुम्फित किया। राजतरंगिणी से पता चलता है कि इनका उदय काश्मीर के विख्यात नरेश अवन्ति वर्मा के (८८५·८५८ ई०) राज्यकाल में हुआ था—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः।

इस प्रकार शिवस्वामी आनन्दवर्धन तथा रत्नाकर के समसामयिक हैं। काश्मीर के इतिहास में यह काल साहित्य तथा कला की विशिष्ट उन्नति के कारण 'सुवर्णयुग' माना जाता है। किसी कारण शिवस्वामी का यह बौद्ध काव्य विस्मृत-प्राय हो गया था, परन्तु प्राचीन काल में इसकी पर्याप्त ख्याति थी। सुभाषित ग्रन्थों में इनके श्लोक उपलब्ध होते हैं। मम्मट ने ध्वनि के उदाहरण में इनके 'उल्लास्य कालकरवाल-महाम्बुवाहम्' (१।२४) को उद्धृत किया है। इससे शिवस्वामी की कविता के प्रसिद्ध होने की सूचना मिलती है।

काव्य

बौद्ध साहित्य में 'कप्फिण' का आख्यान विशेषरूप से प्रसिद्ध है। 'कप्फिण' दक्षिण देश ('लीलावती') के राजा थे। कारणवश इन्होंने श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित को चढ़ाई कर परास्त किया। प्रसेनजित ने भगवान बुद्ध का ध्यान किया जिससे प्रकट होकर उन्होंने कप्फिण को पराजित कर दिया। अन्ततः यह राजा बुद्धके शरण में गया और उनके धर्मामृत का पान कर कृतकृत्य हुआ। इसी कथानक का वर्णन शिवस्वामी ने २० सर्गों में नाना प्रकार के छन्दों में किया है। कथा को अलंकृत तथा विकसित करने के लिये कवि ने मलयपर्वत (६ स०) षट्ऋतु (८ स०) कुसुमावचय (९ स०), जलक्रीड़ा (१० स०), सूर्यास्त (११ स०), चन्द्रोदय (१२ स०), मदिरापान (१३ स०), कामसूत्रानुसार शृंगारिका क्रीड़ा (१४ स०), प्रभात (१५ स०), का उन उन सर्गों

में बड़ा ही कलापूर्ण वर्णन किया है। १८ वें सर्ग में चित्रयुद्ध के वर्णन में चित्रकाव्य की छटा है, तो १९ वें सर्ग में बुद्ध की संस्कृतप्राकृत मिश्रित भाषा में प्रशस्त स्तुति होने से शान्त का सदृश प्रवाह है। प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'शिव' शब्द के आने से यह काव्य 'शिवाङ्क' कहा गया है।

काव्य समीक्षा

शिवस्वामी सचमुच एक महान् प्रतिभाशाली कवि थे। वे शैवमतावलम्बी थे, फिर भी उन्होंने अपने से विभिन्न धर्म के एक सामान्य आख्यान में अपनी प्रतिभा के बल से जान फूँक दी है कि वह पाठकों के सन्मुख परिष्कृत तथा विशिष्ट आकार में चलता फिरता दीख पड़ता है। उन्होंने अपने को बहुत कथाओं को जानने वाला, चित्रकाव्य का उपदेष्टा 'यमककवि' कहा है। यह कथन अक्षरशः सत्य है। सरस मृदुल शब्दों के गुम्फन की शक्ति इनमें खूब है। काव्य-प्रतिभा का सौन्दर्य इनके काव्य में विशेष मुग्धकारी है। शब्दालंकार के समान इन्होंने अर्थालंकारों—विशेषतः उपमा, उत्प्रेक्षा तथा श्लेष—का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से किया है। इनकी शब्दों पर विशेष प्रभुता है। प्राकृत का ज्ञान भी कम चमत्कारी नहीं है। हमारी दृष्टि में शिवस्वामी का यह महाकाव्य संस्कृत साहित्य का रत्न है जिसकी प्रभा विशेष अनुशीलन करने पर बढ़ती जावेगी। शिवस्वामी ने रघुकार (कालिदास), मेण्ठ (भर्तृमेण्ठ) तथा दण्डी को उपजीव्य माना है[1]। माघ तथा रत्नाकर

---

[1] विदित-बहु कथार्थश्चित्र-काव्योपदेष्टा
यमककविरगम्यश्चारु-सन्दानभानी ।
अनुकृतरघुकारोऽभ्यस्तमेण्ठप्रचारो
जयति कविरुदारो दण्डिदण्डः शिवाङ्कः ।।२०।४७

के काव्यों का इन्होंने गाढ़ अनुशीलन किया था। इन कवियों की छाया विशेषतः रत्नाकर की कवि के काव्य पर खूब पड़ी[1]।

विरहिणी की यह उक्ति रमणीय तथा चमत्कारिणी है—

गतोऽस्तं घर्मांशुर्भज-सहचरनीडमधुना
सुखं भ्रातः सुप्याः सुजनचरितं वायस कृतम्।
मयि स्नेहाद् वाष्पस्थगितनयनायामपघृणो
रुदत्यां यो यातस्त्वयि स विलपत्येष्यति कथम्॥

हे भाई कौए, सूरज डूब गया। अब अपनी सहचरी के नीड में चले जाओ और वहाँ सुखपूर्वक रहो। तू ने सज्जन काम किया है। जो आँसुओं से आँखों के ढक जाने पर भी मेरे रोने का ख्याल न कर चला गया, भला वह निर्दय तुम्हारे शब्द करने पर कभी आवेगा? सूक्ति का सौन्दर्य तथा भाव सुतरां अवलोकनीय है।

क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र के काव्य ग्रन्थ विस्तार तथा लोकोपकार की दृष्टि से महत्त्वशाली हैं। ये काश्मीर के एक धनाढ्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुये थे। इनके पितामह का नाम 'सिन्धु' तथा पिता का नाम 'प्रकाशेन्द्र' था। इनके पिता बड़े दानी थे। इन्होंने अपने पिता के विषय में लिखा है कि वे मेरु के समान उदार और कल्याणप्रद सम्पत्ति से युक्त थे तथा उनके गृह में असंख्य ब्राह्मणों का भोजन हुआ करता था। क्षेमेन्द्र ने आचार्य अभिनवगुप्त से साहित्य विद्या पढ़ी थी[2]। इस प्रकार काश्मीर

---

[1] अर्थसाम्यके लिए द्रष्टव्य कप्फिणाभ्युदय की अंग्रेजी भूमिका पृष्ठ ५३-६१।

[2] श्रुत्वाभिनवगुप्तख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः।
आचार्यशेखरमणेः विद्या-विवृतिकारिणः॥
—बृहत्कथामञ्जरी १९।३७

के सर्वश्रेष्ठ साहित्य-विद्वान् के ये शिष्य थे। इन्होंने साहित्य विद्या में अपनी आचार्यता और निपुणता अच्छी तरह से अभिव्यक्त की है। ये योग्य गुरु के योग्य शिष्य थे। ये काश्मीर के राजा अनन्त (१०१८ ई० से १०६३ तक) और कलश (१०६३ ई०—१०८९ ई०) के राज्यकाल में विद्यमान थे। इस प्रकार इनका समय एकादश शतक का मध्यकाल समझना चाहिये। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'दशावतारचरित' की समाप्ति ४१ लौकिकाब्द (१०६६ ई०) में की। संभवतः उनका अन्तिम ग्रन्थ यही है। शैव मण्डल में रहकर भी ये परम वैष्णव थे जिसका कारण भागवताचार्य सोमपाद की शिक्षा का प्रभाव था।

ग्रन्थ

इन्होंने अनेक विपुलकाय ग्रन्थों की रचना की है जिनमें प्रधान ग्रन्थ हैं:—(१) रामायण-मञ्जरी (२) भारत-मञ्जरी (३) बृहत्कथा-मञ्जरी। ये तीनों ग्रन्थ क्रमशः रामायण, महाभारत और गुणाढ्य की बृहत्कथा के कवित्वमय सारांश हैं। ये तीनों स्वतन्त्र काव्यमय ग्रन्थ हैं। (४) दशावतारचरित—इनका नितान्त प्रौढ़ महाकाव्य है जिनमें भगवान् विष्णु के दशावतारों का बड़ा ही रोचक तथा विस्तृत वर्णन है (५) बोधिसत्वावदान कल्पलता—इसमें बौद्ध जातक की कथाओं का बड़ी ही सुन्दर तथा सुबोध पद्यों में वर्णन है। इसके अतिरिक्त इनके लघुकाय ग्रन्थों में (६) कला-विलास (७) चतुर्वर्ग-संग्रह (८) चारुचर्या (९) नीतिकल्पतरु (१०) समय-मातृका (११) सेव्य-सेवकोपदेश लोकव्यवहार के परिज्ञान के लिए निबद्ध सुन्दर काव्य हैं।

क्षेमेन्द्र ने सच्चा कवि-हृदय पाया था। संसार का इन्हें पूर्ण अनुभव था। ये भलीभाँति जानते थे कि संसार के प्रलोभन इतने अधिक हैं कि वे कच्चे हृदयों को अपनी ओर खींचकर दुर्गति के गड्ढे में गिराने के लिये सदा तैयार रहते हैं। जगत्-कल्याण की इसी भावना से प्रेरित

होकर इन्होंने अपने नीतिमय ग्रन्थों की रचना की है। इनकी भाषा बड़ी ही मीठी, सरस तथा सुबोध है। न तो कहीं पाण्डित्य का प्रदर्शन है और न कहीं शब्द में अनावश्यक चमत्कार उत्पन्न करने का व्यर्थ प्रयास। इनकी भाषा में प्रवाह है। पदावली इतनी स्निग्ध है कि कहीं भी अनमेल शब्दों का प्रयोग नहीं दीखता।

अरण्यवास के आनन्द का यह वर्णन कितना सुन्दर है—

दयितजनवियोगोद्वेगरोगातुराणां
विभवविरहदैन्यम्लानमानाननानाम् ।
शमयति शितशल्यं हन्त नैराश्यनश्य-
द्भवपरिभवतान्तिः शान्तिरन्ते वनान्ते ॥

जिन लोगों का हृदय दयितजनों के वियोग के उद्वेगरूपी रोग से आक्रान्त है और धन के नाश से उत्पन्न होनेवाली दीनता के कारण जिनका मुख फीका पड़ गया है, उनके हृदयगत तेज बाण को दूर हटाने में एक ही वस्तु समर्थ होती है और वह है अन्त में वन में निवास। उनके चित्त में निराशा के कारण संसार के परिभव का क्लेश दूर भाग जाता है और वे शान्ति का आनन्द लेने लगते हैं।

मंखक—

क्षेमेन्द्र के बाद एक शताब्दी के भीतर ही काश्मीर के एक दूसरे महाकवि ने नवीन महाकाव्य रचा। इनका नाम मंखक हैं। 'श्रीकण्ठ-चरित' में मंख ने भगवान् शंकर और त्रिपुर के युद्ध का साहित्यिक वर्णन प्रस्तुत किया है। अपने कैलासवासी पिता के आदेश से कवि ने इसका प्रणयन किया था। प्रसिद्ध आलंकारिक 'रुय्यक' इनके गुरु थे। ये गुरु-शिष्य काश्मीर के राजा जयसिंह (११२९-५० ई०) के सभापण्डित थे।

श्रीकण्ठचरित्र में २५ सर्ग हैं। मूल कथानक तो छोटा है, पर महाकाव्य की पूर्ति के लिए दोला, पुष्पावचय, जलक्रीड़ा, सन्ध्या, चन्द्र, चन्द्रोदय, प्रसाधन, पानकेलि, क्रीड़ा तथा प्रभात का विस्तृत वर्णन ७वें सर्ग से लेकर १६वें सर्ग तक क्रमशः किया गया है। २५ वां सर्ग तो तत्कालीन काश्मीरक कवियों का साहित्यिक वर्णन है जो कवि के ज्येष्ठ भ्राता अमात्य 'अलंकार' की सभा को अलंकृत करते थे। यह बड़ा ही जीवन्त तथा रोचक वर्णन है। इसका साहित्यिक मूल्य बहुत ही अधिक है। कविता उच्च कोटि की है। काश्मीरी कवियों की कविता का एक राग ही अलग है जिसकी माधुरी सहृदयों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती है। पदों का सुन्दर विन्यास, अर्थों की मनोहर कल्पना, भक्ति का उद्रेक—इसकी कुछ विशिष्टतायें हैं। द्वितीय सर्ग में कवि और काव्य की मार्मिक समीक्षा है। रमणीय उक्तियों में दोष का पता उसी प्रकार जल्दी चलता है जिस प्रकार धुले हुए वस्त्र में जरा सा धब्बा[1] बिना कठिन परीक्षा के कविता का गुण नहीं ज्ञात होता। बिना आँधी के मणिदीप और साधारण दीपक का अन्तर मालूम नहीं पड़ता[2]—ये उक्तियाँ मंखक के समीक्षात्मक विचार को प्रकट करती हैं।

मंखक ने काव्यशैली के लिए कालिदास का अनुगमन किया है और इसलिए इनके काव्य में कोमल पदावली के द्वारा सरस भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है।

---

[1] सूक्तौ शुचावेव परे कवीनां सद्यः प्रमादस्खलितं लभन्ते ।
अधौतवस्त्रे चतुरं कथं वा विभाव्यते कज्जलबिन्दुपातः ॥२।९

[2] नो शक्य एव परिहृत्य दृढां परीक्षां
ज्ञातुं मितस्य महतश्च कवेर्विशेषः ।
को नाम तीव्रपवनागममन्तरेण
भेदेन वेत्ति शिखिदीपमणिप्रदीपौ ॥ —२।३७

अन्धकार का यह वर्णन मौलिक, चमत्कारपूर्ण और मनोरम है। कवि कहता है कि सायंकाल का सूर्य जगत् के व्यवहार की गणना करनेवाले भगवान् काल का सोने का बना हुआ मसीपात्र (दावात) है। सायंकाल में जब वह (सूर्य) उल्टामुख करके गिर पड़ता है तो वही काली स्याही दावात से निकल कर सारे संसार में अन्धकार के रूप में फैल जाती है—

किन्तु कालगणनापतेर्मषीभाण्डमर्यमवपुर्हिरण्मयम् ।
तत्र यद्विपरिवर्तितानने लिम्पति स्म धरणीं तमोमषी ॥
—श्रीकण्ठचरित १०।१९

१०

श्रीहर्ष

श्रीहर्ष के पिता का नाम 'हीर' तथा माता का नाम 'मामल्लदेवी' था। हीर पण्डित काशी के राजा गहड़वालवंशी विजयचन्द्र की सभा के प्रधान पण्डित थे। सभा में किसी एक विशिष्ट पण्डित के साथ इनका शास्त्रार्थ हुआ। सुनते हैं कि यह विशिष्ट विद्वान् मिथिला देश के प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य थे[1]। शास्त्रार्थ में हीर हार गये। मरते समय श्रीहर्ष से कह गये कि मुझे पराजय होने का बड़ा दुःख है। यदि तुम सुपुत्र हो तो उस पण्डित को शास्त्रार्थ में अवश्य जीतना। श्रीहर्ष ने गंगातीर पर 'चिन्तामणि' मंत्र का वर्ष भर तक जप किया। भगवती

---

[1] चांडू पंडित ने अपनी टीका के आरम्भ में 'श्रीहर्षः स्वपितुर्विजेतुरुदयनस्य कृतीः खंडनखंडखाद्यनामकग्रन्थेनाखंडयत्' लिखकर इस प्रसिद्धि का समर्थन किया है। अतः इसके ठीक होने में अब सन्देह नहीं मालूम पड़ता।

त्रिपुरा प्रत्यक्ष हुईं। अप्रतिभ पाण्डित्य का वरदान दिया। श्रीहर्ष की वैदुषी ऐसी प्रखर निकली कि इनकी कविताओं को कोई समझता ही न था। पुनः तपस्या की। भगवती ने कहा—आधी रात के समय माथे को जल से गीला रखो और दही पीओ। श्रीहर्ष ने वैसा ही किया। तब कहीं जाकर लोग इनके काव्यों को समझने में समर्थ हुये। विजयचन्द्र की सभा में गये। सभा में जाते ही राजा की स्तुति में यह सुन्दर पद्य कह सुनाया—

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च
मास्मिन् नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री-
रस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्री।

काश्मीर में इनके ग्रन्थों का बड़ा आदर किया गया। प्रसिद्धि है कि ये मम्मट के भांजे थे।

श्रीहर्ष के ऊपर लिखित वृत्तान्त की परिपुष्टि नैषध में उल्लिखित कथनों से ठीक ठीक होती है। पिता का 'हीर' तथा माता का मामल्ल देवी नाम था[1]। कान्यकुब्ज के राजा की सभा में इनका बड़ा सम्मान होता था क्योंकि इन्होंने कान्यकुब्जेश्वर से आसन तथा पान के बीड़ा मिलने की बात लिखी है। कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजा जयचन्द्र की सभा में श्रीहर्ष रहते थे। सम्भवतः जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र के दरबार में भी ये बहुत दिन तक रहे होंगे, क्योंकि इन्हीं के नाम पर कविवर ने 'विजय-प्रशस्ति' लिखी थी[2]। काश्मीर में इनके काव्य

---

[1] श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालंकारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
यह पद्यार्ध प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में आता है।

[2] तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य.............. (५ प० १३८)

की बड़ी प्रशंसा हुई थी। इस वृत्तान्त को कविवर ने स्वयं लिखा है[1]। इस प्रकार ऊपर लिखित घटनायें सत्य प्रमाणित होती हैं और श्रीहर्ष कान्यकुब्ज के नरेश विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र की सभा के एक परम मूल्यवान् रत्न ठहरते हैं।

वैदुषी—

श्रीहर्ष केवल प्रथम कक्षा के महाकवि ही न थे, प्रत्युत ऊँचे दर्जे के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। श्रीहर्ष में पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य का अनुपम सम्मिलन था। ये जिस प्रकार हृदय कली को खिलानेवाली स्वभाव-मधुरा कविता लिखने में नितान्त दक्ष थे, उसी प्रकार मस्तिष्क को आश्चर्यान्वित करनेवाली अनेक पण्डितों का मद चूर्ण करनेवाली, तर्क-कर्कशा वाणी के गुम्फन में भी अत्यन्त प्रवीण थे। जिस श्रीहर्ष ने काव्यकला के अनुपम शृङ्गारभूत नैषधीय-काव्य की रचना की है, उसी श्रीहर्ष ने प्रखर पाण्डित्य के चूड़ान्त निदर्शन-रूप 'खण्डनखण्डखाद्य' की सृष्टि की है। जिस श्रीहर्ष ने अपनी मनोहारिणी कविता के कारण काश्मीरदेश में अपनी विमलकीर्ति-पताका फहराई, उसी ने जयचन्द्र के दरबार में अपने पूज्य पिता को परास्त करने वाले मानी तार्किक-प्रकाण्ड उदयन का भी मद चूर्ण कर डाला। कविवर की यह उक्ति नितान्त युक्ति-युक्त है—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम् ॥

इस वचन को सुनकर ही उस तार्किक को हार मानकर इनकी श्रेष्ठता स्वीकार करनी पड़ी थी—

---

[1] काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महा- (१६।१३१)

हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्धता-
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम् ।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः
संहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहंकृते हुंकृते ॥

सच तो यह कि श्रीहर्ष को हुये आज लगभग आठ सौ वर्ष व्यतीत हो गये, परन्तु इस दीर्घ काल में केवल पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़ इनके जोड़ का कोई कवि हुआ ही नहीं।

हमारे चरितनायक केवल कवि-पण्डित ही न थे, प्रत्युत एक प्रचण्ड साधक तथा उन्नत योगी थे। कहा जा चुका है कि गुरु से दीक्षा लेकर श्रीहर्ष ने चिन्तामणि मन्त्र को सिद्ध किया था जिससे प्रसन्न हो भगवती सरस्वती ने इन्हें अलौकिक प्रतिभा प्रदान की थी। चिन्तामणि मंत्र का उद्धार तथा मंत्र जपने का उच्च फल कवि ने स्वयं नैषध में सरस्वती मुख से कहलाया है (१४।८८)। जब चिन्तामणि मंत्र के जापक द्वारा किसी व्यक्ति के सिर पर हाथ रख देने से वह सुन्दर श्लोकों की अनायास ही रचना करने लगता है (१४।८९), तब पावन गंगा के तीर पर इस परम प्रसिद्ध मंत्र को सिद्ध करने वाले श्रीहर्ष ने अद्भुत कल्पनामय नैषधकाव्य की रचना कर डाली, इसमें कौन आश्चर्य है ! श्रीहर्ष उच्चकोटि के योगी भी थे। आपने ही लिखा है कि वे समाधि में ब्रह्मानन्द का आस्वाद लिया करते थे। धन्य है ऐसा परम श्लाघनीय महात्मा कवि और धन्य है उसकी लोकोत्तर कल्पना का विकाश तथा अद्भुत पाण्डित्य की प्रखरता ! अपने आदरणीय महाकाव्य के अन्त में श्रीहर्ष ने अपने विषय में जो यह लिखा है वह निःसन्देह सत्य है :—

ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्
यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।

यत् काव्यं मधुवर्षि घर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्री श्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याम्युदीयादियम् ।

समय—

ये कान्यकुब्ज नरेश जयचन्द्र की सभा में विद्यमान थे। जयचन्द्र के वंश वाले राजपूत गहड़वाल कहलाते थे। एगारहवीं तथा बारहवीं सदी में इस वंश का उत्तरीय भारत में बड़ा नाम था। ये लोग कन्नौज के राजा कहलाते थे। परन्तु पीछे चलकर इन्होंने काशी को अपनी राजधानी बनाई। जयचन्द काशी से ही अपने विस्तृत साम्राज्य पर शासन करते थे। इनके पिता विजयचन्द्र ने तथा इन्होंने मिलकर ११५६ ईस्वी से लेकर ११९३ ईस्वी तक राज्य किया था। अतएव कविवर श्रीहर्ष का आविर्भाव-काल विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र के सभापण्डित होने के कारण द्वादश शताब्दी का उत्तरार्ध ठहरता है।

ग्रन्थ—

श्रीहर्ष ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन सब ग्रन्थों का नाम कविवर ने अपने नैषधीयचरित में उल्लिखित किया है। नैषध में उल्लेख-क्रम से ग्रन्थों के नाम नीचे दिये जाते हैं:—

(१) स्थैर्य-विचारण-प्रकरण—नाम से ही यह ग्रन्थ दार्शनिक विषय पर लिखा हुआ जान पड़ता है। अनुमान से कहा जा सकता है कि इसमें क्षणिकवाद का निराकरण होगा। (४। १२३)

(२) विजय-प्रशस्ति—जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ में जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र की, जो उस समय के प्रसिद्ध योद्धा तथा विजयी वीर थे, प्रशंसात्मक प्रशस्ति लिखी गई थी (५।१३८)

(३) खण्डनखण्ड—श्रीहर्ष का यही प्रसिद्ध खण्डनखण्डखाद्य

नामक वेदान्त-ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ वेदान्त शास्त्र का एक अनुपम रत्न है। इसमें नैयायिक तर्क-प्रणाली का अनुसरण कर लेखक ने न्याय के सिद्धान्तों का खण्डन तथा अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का मण्डन किया है। पाण्डित्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ उच्च कोटि का है और श्रीहर्ष की अलोकसामान्य शास्त्र-चातुरी प्रदर्शन कर रहा है (६।११३)।

(४) **गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति**—नं० २ की तरह यह भी प्रशस्ति है जिसको ग्रन्थकार ने गौड़ भूमि (बंगाल) के किसी राजा की प्रशंसा में बनाया था (७।११०)।

(५) **अर्णववर्णन**—नाम से यह समुद्र का वर्णन जान पड़ता है (९।१६०)।

(६) **छिन्द प्रशस्ति**—छिन्द नामक किसी राजा के विषय में लिखी गई काव्य-पुस्तक जान पड़ती है (१७।२२२)। 'छिन्द' किस देश का राजा था और उसका निवास-स्थान कहाँ था? यह आज कल बिलकुल अज्ञात है।

(७) **शिवशक्तिसिद्धि**—यह ग्रन्थ शिव तथा शक्ति की साधना के विषय में लिखा गया प्रतीत होता है। कहीं कहीं शक्ति के स्थान पर 'भक्ति' पाठ है। तदनुसार इसका 'शिवभक्तिसिद्धि' भी नाम हो सकता है (१८।१५४)।

(८) **नवसाहसांकचरितचम्पू**—श्रीहर्ष के शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने नवसाहसांक के चरित्र को चम्पू के रूप में वर्णन किया था (२२।१५१)। 'नवसाहसांक' राजा भोज के पिता सिन्धुराज का विरुद विख्यात है। पद्मगुप्त ने 'नवसाहसांकचरित' नामक महाकाव्य में सिन्धुराज के ही चरित का वर्णन किया है। नहीं कहा जा सकता कि श्रीहर्ष का यह चम्पू सिन्धुराज के विषय में था अथवा 'नवसाहसांक' विरुद्कारी किसी अन्य राजा के विषय में।

(९) **नैषधीयचरित**—इस महाकाव्य में निषध देश के अधिपति

राजा नल का पावन चरित्र बड़ी ही उत्तम रीति से वर्णन किया गया है। इसमें २२ लम्बे लम्बे सर्ग हैं जिसमें २८३० श्लोक हैं। तिसपर नल चरित्र का एकदेश ही श्रीहर्ष ने वर्णन किया है। आरम्भ में राजा नल का विशद वर्णन है, नल का मृगया-विहार, हंस का ग्रहण तथा मुक्ति का वर्णन है। राजा हंस को दमयन्ती के पास भेजते हैं। हंस वहाँ जाता है और अकेले में जाकर नल के सौन्दर्य का वर्णन करता है। दमयन्ती के पूर्वानुराग का बड़ा ही प्रशस्त वर्णन है। राजा भीम अपनी कन्या दमयन्ती के लिये स्वयंवर की रचना करते हैं। इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम देवता भी दमयन्ती के अलोकसामान्य रूपवैभव की कथा सुन स्वयंवर में पधारना चाहते हैं। राजा नल को ही तिरस्करिणी विद्या के सहारे अपना दूत बना महल में भेजते हैं। नल देवताओं की ओर से खूब पैरवी करते हैं, परन्तु दमयन्ती का नल-विषयक निश्चय तनिक भी नहीं डिगता। स्वयंवर रचा जाता है। चारों देवता नल का ही रूप धारणकर सभा में उपस्थित होते हैं। सरस्वती स्वयं उसी सभा में आती है और राजाओं का परिचय देती है। नल की प्रतिकृति-वाले पाँच पुरुषों को देख दमयन्ती घबड़ा जाती है। अन्त में देवतागण उसकी पतिभक्ति से प्रसन्न होकर अपने विशिष्ट चिन्हों को प्रकट करते हैं, जिससे दमयन्ती राजा नल को सहज ही पहचान लेती है। दोनों का विवाह होता है। अब देवतागण स्वर्ग को लौटते हैं। तब कलि के साथ घनघोर वाग्युद्ध छिड़ जाता है। देवता कलि को हरा कर नास्तिकवाद का मुंहतोड़ उत्तर देते हैं। नल-दमयन्ती के प्रथम मिलनरात्रि का रुचिर वर्णन कर ग्रन्थ समाप्त होता है। संक्षेप में नैषध का यही सार है। जिस प्रकार खण्डन-खण्ड खाद्य श्रीहर्ष के दार्शनिक ग्रन्थों में मुकुट-मणि है, उसी प्रकार यह नैषध उनके काव्यों का अलंकार है।

समीक्षण

संस्कृत काव्य के अपकर्षकाल में आलोचकों की दृष्टि श्रीहर्ष के महनीय काव्य की ओर गड़ी हुई है, क्योंकि अन्धकार युग को आलोक प्रदान करने वाला यही गौरवमय प्रशंसनीय काव्य है। श्रीहर्ष अपनी अलौकिक प्रतिभा तथा अपने काव्य की मधुरता से स्वतः परिचित थे और इनका उन्हें गर्व भी था। अपने काव्य के लिए 'कविकुलादृष्टाध्वपान्थ' (८।१०६) तथा 'अन्याक्षुण्ण-रसप्रमेय-भणिति' (२० सर्ग का अन्तिम पद्य) का प्रयोग उनके नवीन रसमय मार्ग के आश्रयण का संकेत कर रहा है। उन्होंने 'नवार्थघटना' की अपनी प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह इस काव्य में किया है (एकामत्यजतो नवार्थ घटनाम्)। तथ्य यह है कि नैषधचरित में वैदग्धी तथा पाण्डिती का परम मञ्जुल योग काव्य की उदात्तता का पूर्ण परिचायक है। श्रीहर्ष विशुद्ध—विदग्ध पदावली के आदरणीय आचार्य हैं। सामान्य अर्थ को 'वक्रोक्ति' के द्वारा अभिव्यञ्जना कला के वे पूर्ण पण्डित हैं। वे पामरजनश्लाघ्य पदावली जो काव्य के लिए नितान्त हेय तथा गर्हणीय मानते हैं। नलकी वियोगपीड़ा से विह्वल तथा कटाक्ष-क्षेप को भी भूल जाने वाली आँखों के लिए कवि अपाङ्ग रूपी अपनी आँगन में थोड़े से घूमने में लँगड़ने वाले खञ्जन की उपमा का प्रयोग कर 'वक्रोक्ति' का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है[1]। अलौकिक सूझ के कारण अर्थघटना में न कहीं फीकापन दीख पड़ता है और न पुनरुक्ति। कल्पना की भव्यता के कारण वर्णन की नवीनता सर्वत्र चमत्कारिणी है। चन्द्रमा के कलंक को कवि की भावनामयी दृष्टि नाना रूपों में अंकित करती है। नल के यात्रा प्रसंग में सेनाओं के द्वारा उत्थापित धूलिराशि से पंकिल समुद्र के

---

[1] अजनि पङ्गु रपाङ्ग निजाङ्गण-भ्रमिकणेऽपि तदीक्षणखञ्जनः।
नैषध ४।४

मन्थन से उत्पन्न चन्द्रमा कहीं उसी पंक को धारण करता है,[1] तो कहीं दमयन्ती के मुख बनाने के लिए ब्रह्मा के द्वारा सौन्दर्य को काट लेने पर चन्द्रमा के छेदों से नीला आकाश झलकता हुआ दीख पड़ता है[2]। एकत्र वह कलंक पंक का प्रतीक है, तो अन्यत्र वही नीले आकाश के रूप का प्रतिनिधि है।

श्रीहर्ष नारी रूपके वर्णन में बड़े प्रवीण हैं। दमयन्ती का रूप अनेक अवसरों पर वर्णित है और प्रत्येक अवसर पर एक नवीनता है। कवि में कल्पना का दारिद्र्य नहीं है। फलतः वह किसी कल्पना की पुनरुक्ति कर उसे बासी तथा फीका नहीं बनाता। विप्रलम्भ-श्रृंगार के वर्णन में भी श्रीहर्ष की चातुरी (चतुर्थ सर्ग) अद्भुत तथा मनोहारिणी है। इस प्रसंग में 'चन्द्रोपालम्भ' के विषय में इनकी उक्तियाँ बड़ी ही अनूठी तथा मौलिक हैं। दमयन्ती ने विषम पीड़ा के उत्पादक चन्द्रमा को नाना प्रकार से इतना अधिक उलाहना दिया है कि किन्हीं आलोचकों को इसमें कृत्रिमता की भावना उत्पन्न हो सकती है, परन्तु कवि की मौलिकता में किसी को संशय नहीं हो सकता। कवि ने अपनी प्रतिभा का परिचय शब्दों के चमत्कारी नवीन अर्थों को दिखलाकर बहुत स्थलों पर किया है। कृष्ण पक्ष की 'बहुल' संज्ञा का रहस्य इस घटना में है कि चन्द्रमा जैसे दुःखोत्पादक पदार्थ से हीन होने के कारण इस पक्ष का बहुत ही अधिक आदर विरही जनों के द्वारा

---

१ तदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत् प्रतापानलधूममञ्जिम ।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पंकीभवदंकतां विधौ ॥
नैषध चरित १।८

२ हृतसारमिवेन्दु-मण्डलं दमयन्ती वदनाय वेधसा ।
कृतमध्य-बिलं विलोक्यते धृतगम्भीर खनी खनीलिम ॥
—वही २।२५

किया जाता है तथा जिस रात में चन्द्र के एकदम अभाव के कारण सत्कार की अपरिमिति (अत्युत्कर्ष) होती है वही रात इसी कारण 'अमा' (मान-हीन) के नाम से पुकारी जाती है—

विरहिभिर्बहु मानमवापि यः स बहुलः खलु पक्ष इहाजनि ।
तदमितिः सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथिः किममीकृता ॥
—नैषध ४।६३

ब्राह्मणों के राजा होने के कारण—सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा--श्रुति के अनुसरण पर चन्द्रमा 'द्विजराज' नहीं कहलाता, प्रत्युत विरहियों को अपनी दंष्ट्रारूपी कला से चर्वण करने के कारण ही वह दाँतों में श्रेष्ठ होने से इस नाम से मण्डित किया जाता है (४।७२)। इसी प्रकार श्रीहर्ष की दृष्टि में 'पञ्चशर' पद में 'पञ्च' शब्द संख्या-वाचक न होकर 'प्रपंच' अथवा 'विस्तार' का बोधक है—

पञ्च्यःस्यवत् पञ्चशरस्य नाम्नि प्रपंचवाची खलु पञ्च-शब्दः ।

संस्कृत भाषा पर श्रीहर्ष का अलौकिक प्रभुत्व है। कविता में रमणीय प्रवाह है। पदशय्या इतनी सुन्दर बन पाई है कि कोई भी पद अपने स्थान से च्युत नहीं किया जा सकता।

हृदयपक्ष के समान नैषध का कलापक्ष भी विशेष गौरवशाली है। कवि अलंकारों के प्रयोग करने से अपने काव्य को मण्डित करने का अवसर कभी नहीं छोड़ता। उपमा तथा रूपक का साम्राज्य यहाँ विराजमान है। श्लेष लिखने में कवि की चातुरी कम आश्चर्यमयी नहीं है। नैषध पञ्चनली (१३।३४) प्रसिद्ध ही है जहाँ कवि ने श्लेष की महिमा से एक ही पद्य में पाँच नलों का वर्णन किया है।

विदग्ध आलोचक श्रीहर्ष के वैदग्ध्य तथा पाण्डित्य के मञ्जुल समन्वय पर सदा रीझता आया है। वह इसकी भव्य प्रशस्ति इस पद्य के द्वारा उद्घोषित करता है—

तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क च भारविः ॥

भारवि में राजनीति शास्त्र की बहुज्ञता है तथा माघ में दर्शन आदि शास्त्रों की निपुणता है, परन्तु श्रीहर्ष का पाण्डित्य इन दोनों की अपेक्षा कहीं बढ़ चढ़ कर है। इन्होंने “खंडनखंडखाद्य” जैसा विद्वतापूर्ण शास्त्रीय ग्रन्थ लिख कर अपनी विद्वत्ता का प्रगाढ परिचय दिया है। तर्क-कर्कश पण्डित की रसस्निग्ध कवि के रूप में परिणति काव्य-जगत् की एक अतर्कित घटना समझनी चाहिए। कवि का हृदय अद्वैतवाद में रमता है और इसीलिए वह अद्वैतसिद्धान्त की भव्य धारणा को पुष्ट करने के लिए किसी अवसर पर नहीं चूकता। ‘अद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः’ (१२।३६)—कवि अद्वैत सिद्धान्त को ही सत्यतर मानता है। न्यायशास्त्र के कर्ता गोतम को वह इसीलिए गोतम (पक्काबैल-अत्यन्त मूर्ख) मानता है कि वह मुक्तदशा में चेतन प्राणियों को विशेषगुणहीन मानकर शिलामयी स्थिति का समर्थक है—

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्
गोतमं तमवेद्यैव यथा वित्थ तथैव सः ॥ —१७।७५

यह अद्वैत दृष्टि से नैयायिक मुक्ति के ऊपर रमणीय व्यंग्योक्ति है। १७ वें सर्ग में चार्वाकदर्शन को बड़ी ही कटु, विस्तृत तथा प्रामाणिक समीक्षा कवि के दार्शनिकत्व का विजयघोष है। दर्शन के तत्त्वों का उपयोग बड़े ही सुन्दर प्रसङ्गों में नैषधकाव्य में किया गया है। मार्मिक आलोचक की दृष्टि में नैषध काव्य केवल लौकिक प्रेम का प्रशंसक प्रशस्त काव्य नहीं है। वह अलौकिक प्रेम की भव्य भावना तथा साधना प्रस्तुत करनेवाला अद्वैतवादी कवि का एक रहस्यमय काव्य है। विश्वास नहीं होता कि ‘खण्डनखण्डखाद्य’ का लेखक कवि भौतिक प्रेम के वर्णन में ही अपनी सरस्वती की कृतार्थता चाहता है।

दमयन्ती का सन्देश लेकर नल के पास हंस का जाना तथा दोनों

का परस्पर अविच्छिन्न मिलन कराना आध्यात्मिक जगत् के तथ्य की ओर संकेत कर रहा है। दमयन्ती तथा नल का हंस के द्वारा मिलन गुरु के द्वारा जीव तथा ब्रह्म के परम मंगलमय संयोग का भव्य निदर्शन है। इस दृष्टि से अनुशीलनकर्ता के लिए काव्य में वर्णित अन्य घटनाओं का रहस्यात्मक महत्त्व समझना कठिन न होगा।

तथ्य यह है कि नैषध काव्य एक विशाल सुसज्जित प्रासाद के समान है जिसमें सब वस्तुयें यथास्थान सुचारु रूप से अलंकृत कर रखी गई हैं तथा जिनके चुनाव तथा रमणीयता में सर्वत्र सुसंस्कृति तथा नागरिकता झलकती है। श्रीहर्ष अपने अलौकिक पाण्डित्य के लिए जितने प्रसिद्ध हैं, उतने ही वे अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा, विलक्षण वर्णन-चातुरी तथा रसमयी अनूठी उक्तियों के लिए भी विख्यात हैं। आज के आलोचक को 'परमाणुमध्याः' 'अणिमैश्वर्यविवर्तमध्या' पदों में कृत्रिमता की गन्ध भले आवे, परन्तु पण्डित-आलोचक नैषध काव्य की पाण्डित्यमयी उपमाओं पर, रमणीय रूपकों पर तथा हृदयावर्जक श्लेषों के ऊपर सदा रीझता रहा है तथा भविष्य में भी रीझता रहेगा। कालिदास की कोमल सूक्ष्म तथा नैसर्गिक कमनीयता के अभाव होने से हम श्रीहर्ष को उस कोटि में अवश्य नहीं रख सकते, परन्तु पण्डित-कवियों में इनका स्थान निरापद, नितान्त ऊँचा तथा महत्त्वशाली है और भविष्य में बना रहेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। ऐसे ही रसिक आलोचकों की ओर कवि ने स्वयं संकेत किया है—

यथा यूनस्तद्वत् परमरमणीयापि रमणी
कुमाराणामन्तः-करणहरणं नैव कुरुते।
मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः॥

(नैषध २२।१५२)

पंडितजन ही व्याकरण के विशिष्ट तथ्य के उद्बोधक इस पद्य का रस ले सकते हैं—

क्रियेत चेत् साधु-विभक्तिचिन्ता
व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासै-
स्तावत् क्षमा नाम-पदं बहु स्यात्॥
(नैषध ३।२३)

इतर कवि—

इन बड़े कवियों के अतिरिक्त अन्य कविजनों के काव्य भी कम रोचक नहीं हैं। अभिनन्द का 'कादम्बरीकथासार' काश्मीर में १०वें शतक में लिखा था। ये नैयायिक जयन्तभट्ट के पुत्र थे। सुन्दर अनुष्टुप् छन्दों में कादम्बरी की पूरी कथा कही गई है। क्षेमेन्द्र ने अभिनन्द के अनुष्टुपों की प्रशंसा की है। महाकवि वेंकटनाथ (१३ शतक) का 'यादवाभ्युदय' कृष्ण चरित के वर्णन में लिखा गया है। ये कवि-तार्किक-शिरोमणि की उपाधि से विभूषित थे। ये कवि होने की अपेक्षा बड़े दार्शनिक थे। इन्होंने रामानुजीय दर्शन तथा मत को अपने शताधिक ग्रन्थों से इतना पुष्ट किया कि ये द्वितीय रामानुज माने जाते हैं। १७वीं शताब्दी तथा उसके बाद द्रविड़ देश में अनेक मान्य काव्यकर्ता उत्पन्न हुए जिनमें नीलकंठ दीक्षित की प्रतिभा सर्वातिशायिनी है। ये उच्च विद्वत्कुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पितामह प्रसिद्ध वेदान्ती अप्पय दीक्षित के कनिष्ठ भ्राता अच्चा दीक्षित थे। इनके 'नीलकण्ठविजयचम्पू' का निर्माण ४१३८ कलिवर्ष में (१६३७ ई०) हुआ था। अतः इनका समय १७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। इनकी प्रख्यात कृति 'शिव-लीलार्णव' महाकाव्य है जिसके २२ सर्गों में शंकर की पुराणवर्णित लीलाओं का सरस सन्निवेश है। रामभद्रदीक्षित का 'पतञ्जलिचरित'

(८ सर्ग) इसी युग की रचना है जिसमें महाभाष्यकार का चरित ललित पद्यों में वर्णित है। कृष्णानन्द का 'सहृदयानन्द' १९ सर्गों में नल का चरित वर्णन करता है। ये प्राचीन कवि हैं। १४ वें शतक में जगन्नाथ पुरी के निवासी थे क्योंकि साहित्य-दर्पण में इनका एक पद्य उद्धृत है।

जैन कवि —

संस्कृत महाकाव्य के इतिहास में जैन पण्डितों की रचनायें कुछ कम महत्त्व की नहीं हैं। जैन पण्डितगण प्राचीन काल से संस्कृत भाषा तथा साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् होते आये हैं। उन्होंने अपने तीर्थङ्करों का चरित्र अलंकृत शैली में लिखकर जैनधर्म की महती सेवा की है। इन पुस्तकों में कतिपय अपवाद को छोड़कर धर्म-प्रचार की प्रवृत्ति ही अधिक पाई जाती है, शुद्ध साहित्यिक चेतना को जागरित करने का प्रयास कम है। जैन कवियों की संख्या बहुत अधिक है। कुछ चुने हुये कवियों ही का वर्णन यहाँ दिया जाता है:—

धनेश्वर सूरि (६१० ई०) - शत्रुञ्जय महाकाव्य। इस महाकाव्य में १४ सर्ग हैं जिनमें राजाओं के विषय की प्रसिद्ध दन्तकथायें काव्यरूप से वर्णित हैं।

वाग्भट्ट (११४० ई०)—नेमिनिर्वाणकाव्य। इस महाकाव्य के १५ सर्गों में जैनतीर्थङ्कर नेमिनाथ का चरित्र वर्णित है। हेमचन्द्र के समकालिक इस कवि की कविता प्रसाद से स्निग्ध तथा माधुर्य से पूर्ण है।

अभयदेव (१२२१ ई०) जयन्त-विजय काव्य। इस महाकाव्य में १९ सर्ग है जिसमें मगधदेश के राजा जयन्त का विजय लगभग दो सहस्र श्लोकों में वर्णित है।

अमरचन्द्र सूरि (१२४३–६० ई०)—बाल-भारत। यह ग्रन्थ-

कार जिनदत्त सूरि का शिष्य तथा अणहिलपट्टन के राजा वीसलदेव का सभा-पण्डित था। इनके बालभारत में ४४ सर्ग हैं तथा ६९५० श्लोक हैं। महाभारत की कथा संक्षेप में इस ग्रन्थ में वर्णित है। भाषा सुबोध तथा रीति विशेषतः वैदर्भी है।

वीरनन्दी (१३०० ई०)—चन्द्रप्रभ चरित। इस महाकाव्य के १८ सर्गों में सप्तम जैन तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ का जीवन-चरित सरस भाषा में निबद्ध है।

देवप्रभसूरि (१२५० ई०)—पाण्डव-चरित। इस काव्य में महाभारत की कथा संक्षेप में दी गयी है। इसके १८ सर्ग अनुष्टुप् में निबद्ध है। कविता सरल तथा रोचक है।

वस्तुपाल (१३ शतक)—नरनारायणानन्द। गुजरात के राजा वीरधवल (१२१९ ३९ ई०) का प्रसिद्ध मन्त्री वस्तुपाल विद्वानों के आश्रय देने के कारण 'लघुभोजराज' कहा जाता था। सोमेश्वर, हरिहर, अरिसिंह आदि कवि इसके आश्रय में रहते थे। अमात्य के उपकार को इन कवियों ने काव्य में निबद्ध कर इन्हें अमर बना दिया है। इस महाकाव्य में १६ सर्ग हैं जिनमें कृष्ण और अर्जुन की मैत्री, गिरनार पर्वत पर उनकी क्रीड़ा तथा सुभद्रा-हरण का वर्णन है।

बालचन्द्रसूरि (१३ शतक)—वसन्त-विलास। यह ग्रन्थ वस्तुपाल का जीवन चरित है जो उनके पुत्र जैत्रसिंह के मनोविनोद के लिये लिखा गया था। प्रबन्ध-चिन्तामणि से ज्ञात होता है कि यह काव्य वस्तुपाल को इतना पसन्द आया कि इन्होंने कवि को आचार्य-पद के अभिषेक के लिये एक हजार स्वर्ण मुद्रायें दीं।

देवविमलगणि—(१७ शतक)—हीर-सौभाग्य। इस ग्रन्थ में हीरविजय सूरि के चरित्र का विस्तृत वर्णन है। सूरि ने अकबर को जैन धर्म का उपदेश दिया था जिसका उसने पालन कर धार्मिक पर्वों पर

हिंसा बन्द कर दी थी। अतः अकबर का इतिहास जानने के लिये १७ सर्गात्मक इस काव्य का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है।

हरिचन्द्र —

जैन महाकवियों में 'धर्मशर्माभ्युदय' के रचयिता महाकवि हरिचन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जैन साहित्य में इस महाकाव्य का वही स्थान तथा आदर है जो ब्राह्मण कवियों माघ-काव्य तथा नैषध-काव्य को प्राप्त है। ग्रन्थकार का समय निश्चित नहीं है। ये नोमक नामक वंश में उत्पन्न हुये थे। ये जाति के कायस्थ थे। इनके पिता का नाम आर्द्रदेव और माता का नाम रथ्या देवी था। हर्षचरित के आरम्भ में बाणभट्ट ने जिस भट्टारहरिचन्द्र का उल्लेख किया है[1] उससे तो इन्हें भिन्न ही मानना ही पड़ेगा क्योंकि भट्टारहरिचन्द्र गद्य के लेखक थे, महाकाव्य के नहीं। कर्पूरमञ्जरी की प्रथम जवनिका में हरिचन्द्र का नाम सादर उल्लिखित है[2]। ये कवि ही 'धर्मशर्माभ्युदय' काव्य के रचयिता हैं, यह भी कथन सन्देह से रहित नहीं है। परन्तु ये कवि पुराने अवश्य हैं। संभवतः ये एकादश शताब्दी में उत्पन्न हुये थे। इनके ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति का समय १२८७ वि० सं० है। अतः इस संवत् से पूर्व ही इनका अविर्भाव हुआ होगा। वाग्भट ने 'नेमि-निर्वाण' काव्य में धर्मशर्माभ्युदय की शैली की छाया ग्रहण की है। 'नेमि निर्वाण' की रचना १२वीं सदी में हुई थी। अतः इससे भी इनका समय एकादश शतक ही ठहरता है।

---

[1] पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचंन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते।

[2] विदूषकः—उज्जुअं एव्व ता किं ण भणाइ, अम्हाणं चेडिआ हरिअन्द णंदिअंद कोट्टिसहालप्पहुदीणं पि पुरदो सुकइ त्ति।

धर्मशर्माभ्युदय काव्य में २१ सर्ग हैं जिसमें पन्द्रहवें तीर्थङ्कर धर्मनाथ जी का चरित वर्णित है। इस काव्य की भाषा बड़ी ही सुन्दर तथा अलंकृत है। यह काव्य वैदर्भी रीति का आश्रय लेकर लिखा गया है। शब्द-सौष्ठव तथा नवीन अर्थ कल्पना के लिये यह काव्य प्रसिद्ध है।

ऐतिहासिक महाकाव्य

रामायण-महाभारत के वर्णन प्रसंग में 'इतिहास' की भारतीय कल्पना का कुछ वर्णन ऊपर किया गया है। इतिहास का आश्रय लेकर काव्य लिखने की परिपाटी संस्कृत साहित्य में नई नहीं है। कवियों ने अपने आश्रयदाता की कीर्ति अक्षुण्ण बनाये रखने के विचार से उनका जीवनचरित रोचक भाषा में लिखने का उद्योग किया है। परन्तु उनका यह उद्योग शुद्ध साहित्य-कोटि में ही आता है, इतिहास-कोटि में नहीं; क्योंकि वे अपने आश्रयदाता के विषय में अत्यावश्यक ऐतिहासिक सामग्री भी देने का प्रयत्न नहीं करते। गुप्तकाल के कवि वत्सभट्टि ने कतिपय प्रशस्तियाँ ही प्रस्तुत की हैं। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' लिखकर ऐतिहासिक काव्य के निर्माण का प्रथम अवतार किया है, परन्तु महाकाव्य की दृष्टि से पद्मगुप्त परिमल का काव्य प्रथम ऐतिहासिक महाकाव्य कहा जा सकता है।

पद्मगुप्त परिमल

संस्कृत का सबसे पहला ऐतिहासिक महाकाव्य 'नवसाहसाङ्कचरित' है जिसमें धारा के प्रसिद्ध नरेश भोजराज के पिता सिन्धुराज (नवसाहसाङ्क) का विवाह शशिप्रभा नामक राजकुमारी के साथ वर्णित है।

रचयिता का नाम है पद्मगुप्त परिमल। ये पहले सिन्धुराज के जेठे भाई वाक्पतिराज उपाधिकारी राजा मुञ्ज के सभाकवि थे। मुञ्ज बड़े गुणग्राही तथा स्वयं सरस्वती के उपासक थे। उनकी मृत्यु के अनन्तर पद्मगुप्त ने अपने को निराश्रय पाया। परन्तु सिन्धुराज ने कविवर का इतना सत्कार किया कि उनकी प्रसन्नता कविता के रूप में प्रकट हुई। इस प्रकार यह ग्रन्थ १००५ ईस्वी के लगभग लिखा गया। इस महाकाव्य में १८ सर्ग हैं। इसके १२ वें सर्ग में सिन्धुराज के पूर्ववर्ती समस्त परमारवंशी राजाओं का कालक्रम से वर्णन है जिसकी सत्यता शिलालेखों से प्रमाणित हो चुकी है। काव्य की दृष्टि से यह महाकाव्य वैदर्भी रीति का उत्कृष्ट उदाहरण है। वैदर्भी अपने पूर्ण शृंगार के साथ इसमें प्रकट हुई है। प्रसाद गुण की चारुता अवलोकनीय है। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कवि सिद्धहस्त है। कालिदास की कविता का जितना सफल अनुकरण इस महाकाव्य में दृष्टिगोचर हो रहा है, उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। उपमा आदि अलंकारों का सन्निवेश भी नितान्त मनोरम हुआ है। इस प्रकार यह काव्य परमारों के इतिहास के लिये जितना उपादेय है, काव्य की दृष्टि से भी यह उतना ही मनोरम है।

कालिदास की रसमयी पद्धति, सुकुमार मार्ग का पूर्ण सौन्दर्य पद्मगुप्त के मनोरम काव्य में स्फुटित हो रहा है। इन्होंने अपनी अनुपम प्रतिभा के बलपर कालिदास की कीर्ति पुनः जीवित किया है। साहित्य तथा इतिहास दोनों दृष्टियों से पद्मगुप्त परिमल के काव्य में रसिक भ्रमरों को मुग्ध बनाने वाले परिमल का सर्वथा सद्भाव है। इनका कथन है कि कालिदास की सरस्वती अत्यन्त उज्ज्वल, प्रसन्न तथा हृदयंगम अलंकारों से सर्वथा विभूषित है—

प्रसादहृद्यालंकारैस्तेन मूर्तिरभूष्यत।
अत्युज्ज्वलैः कवीन्द्रेण कालिदासेन वागिव ॥

पद्मगुप्त की कविता के गुणों का संकेत इस पद्य में किया गया है।

मम्मट के द्वारा काव्यप्रकाश में पद्यों के उद्धृत होने के कारण इनकी लोकप्रियता का अनुमान भली भाँति लगाया जा सकता है।

बिल्हण—

बिल्हण

महाकवि के बिल्हण द्वारा रचित 'विक्रमांकदेवचरित' नामक दूसरा ऐतिहासिक महाकाव्य इतिहास के घटनाचक्र पर विशेष जोर देता है। १८ वें सर्ग में कवि ने अपने जीवन चरित का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। उनके प्रपितामह का नाम मुक्तिकलश था, पितामह का राजकलश तथा पिता का ज्येष्ठकलश। उनकी माता का नाम नागदेवी था। इष्टराय और आनन्द उनके दो भाई थे। आश्रयदाता की खोज में बिल्हण काश्मीर से निकल पड़े और मथुरा, कन्नौज, प्रयाग काशी आदि अनेक स्थानों को पार करते हुए वे दक्षिण भारत के कल्याण नगर के चालुक्यवंशीय प्रसिद्ध नरेश विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६—११२७ ई०) के दरबार में जा पहुँचे। गुणग्राही राजा ने इनका खूब स्वागत किया।

'विक्रमाङ्क-देव-चरित' में इन्हीं विक्रमादित्य तथा उनके वंश का विस्तृत वर्णन दिया हुआ है। ऐतिहासिक घटनाओं के निर्देश करने में बिल्हण ने इतनी तत्परता दिखलाई है कि यह काव्य कल्याण के चालुक्यवंशी नरेशों का इतिहास जानने के लिए परम उपयोगी हो गया है। काव्य-दृष्टि से बिल्हण वैदर्भी मार्ग के कवि हैं। १८ सर्गों के इस काव्य में माधुर्य तथा प्रसाद का पर्याप्त पुट है। इस कवि की प्रौढ़ि प्राचीन साहित्यिकों में चिरकाल से प्रसिद्ध है। इनकी अनूठी सूक्तियाँ विदग्धों की जिह्वा पर नाचा करती हैं। रसों में वीर तो प्रधान है ही, परन्तु शृंगार तथा करुण का पुट भी कम मनोरंजक नहीं है। बिल्हण के काव्य में कुछ विलक्षण प्रौढ़ि है जिससे विदग्धहृदय सदा से इनकी कविता पर रीझता आता है। इनका कहना है कि कवीश्वरों के भावों की अन्यकवि

कितना भी ग्रहण करते जायँ उनमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती। दैत्यों ने असंख्य रत्नों को छीन लिया तथापि आज भी समुद्र रत्नाकर ही बना हुआ है[1]। ये राज दरबार में कविजनों के रखने के तथा प्रतिष्ठा देने के बड़े भारी पक्षपाती हैं। इनका कथन है[2] कि राम का यश जगत् में फैलाने का तथा रावण के यश के संकुचित होने का एकमात्र कारण महर्षि वाल्मीकि ही हैं। इसलिये कविजनों का तिरस्कार कभी न करना चाहिये।

सुन्दर रसीली कविता को सुनकर भी उसके दोषों को खोजने में ही दुर्जन लोग लगे रहते हैं। सुन्दर केलि वन में आने पर भी ऊँट केवल काँटों को ही खोजता है। कोमल फूलों तथा पत्तों की ओर उसकी दृष्टि कदापि नहीं जाती :—

कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान् खलानाम्।
निरीक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टकजालमेव ॥१।२९

कल्हण

जीवनी—आधुनिक ऐतिहासिक रीति से साधनों के पर्याप्त पर्यालोचन के आधार पर निर्मित राजतरंगिणी प्राचीन कश्मीर का एक महनीय इतिहास ग्रन्थ है और इसके विद्वान् रचयिता का नाम कल्हण है। राजतरंगिणी कश्मीर के राजनैतिक इतिहास, भौगोलिक विवरण, सामाजिक व्यवस्था, साहित्यिक समृद्धि तथा आर्थिक दशा जानने के लिए सचमुच एक विश्वकोष है। बीसवीं शती की वैज्ञानिक ऐतिहासिक पद्धति से परीक्षा करने पर यह बिल्कुल ठीक, प्रामाणिक

---

[1] गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेष्टं नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम्।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः ॥

[2] लङ्कापतेः संकुचितं यशो यत् यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
स सर्वं एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीया कवयः क्षितीन्द्रैः ॥

तथा खरा नहीं ठहर सकता, तथापि अपनी व्यापक दृष्टि तथा आधारभूत ग्रन्थों के पर्याप्त उपयोग के कारण राजतरंगिणी वस्तुतः संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है। इसके मर्मज्ञ रचयिता कल्हण कश्मीर के निवासी थे। आढ्य ब्राह्मणवंश में उत्पन्न होने के कारण तथा राजदरबार के जीवन को नजदीक से देखने के हेतु कल्हण का अनुभव विशेष रूपसे विशाल तथा विस्तृत था। इनके पिता चणपक तत्कालीन कश्मीर-नरेश हर्ष (१०४८—११०१ ई०) के प्रधान अमात्य थे जो अपने आश्रयदाता के सुख में तथा दुःख में, उन्नति में तथा अवनति में, ह्रास में तथा विलास में समभावेन एकनिष्ठा से सेवा करना जानते थे तथा राजा की हत्या किये जाने पर जिन्होंने सेवाकार्य से सदा के लिए संन्यास ले लिया। इनके पितृव्य कनक भी हर्ष के कृपापात्रों में तथा तथा विश्वासी अनुर्जीवियों में से थे जिन्होंने जीवन की सन्ध्या में कश्मीर से नाता तोड़कर काशी में आकर निवास किया था। कल्हण का वास्तव संस्कृत नाम कल्याण था जिन्होंने अंलकदत्त नामक किसी विशेष पुरुष की छत्रछाया को अपने कल्याण तथा ग्रन्थ निर्माण के लिए अपनाया था। यदि ये चाहते तो अपने पिता के समान ही राज्य के उच्च अधिकार पद पर प्रतिष्ठित हो सकते थे, परन्तु तत्कालीन राजनैतिक संघर्ष तथा परिवर्तन के युग में इन्होंने अपने को अधिकार-पद से वंचित रख कर राजदरबारों की गाथा निबद्ध करने में ही अपने को निमग्न किया। इसीलिए वह निष्पक्ष दृष्टि से घटनाओं के अवलोकन में सर्वथा समर्थ हैं। इन्होंने राजतरंगिणी की रचना सुस्सल के पुत्र राजा जयसिंह (११२७—११५९ ई०) के राज्यकाल में की। सन् ११४८ ईस्वी में कल्हण ने इतिहास लिखना आरम्भ किया तथा सन् ११५० ईस्वी में उन्होंने दो वर्षों के भीतर ही इसे समाप्त किया।

ग्रन्थ—

राजतरंगिणी में आठ तरंग हैं जिनमें आठवां तरंग समग्र ग्रन्थ के आधे से भी मात्रा तथा परिमाण में बढ़कर है। कल्हण का श्लाघनीय उद्योग था कश्मीर के अत्यन्त प्राचीन काल से आरम्भ कर १२ वीं शती तक के इतिहास का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करना। राजतरंगिणी के आरम्भिक तरंगों में वर्णित भूपाल पौराणिक गाथा के आधार पर आश्रित होने के कारण अनेक अंशों में कल्पना जगत् के ही जीव हैं, प्रामाणिक इतिहास के पात्र नहीं। परन्तु ज्यों ज्यों कवि अपने समय की ओर ढलता गया है त्यों त्यों उसका इतिहास प्रामाणिक, खरा तथा सच्चा उतरता गया है। आरम्भ तो होता है विक्रम-पूर्व द्वादश शती के किसी गोनन्द नामक राजा के वर्णन से, परन्तु ग्रन्थ के आरम्भिक तीन परिच्छेदों में राजाओं का निर्देश बिना किसी काल या तिथि के उल्लेख के ही किया गया है। सर्वप्रथम निर्दिष्ट की गई तिथि ८१३—१४ ईस्वी है और यहाँ से आरम्भ कर ११५० ईस्वी तक की घटनायें—अर्थात् चार सौ वर्षों का इतिहास नितान्त पूर्ण, विशेष प्रामाणिक तथा एकान्त वैज्ञानिक प्रतीत होता है, क्योंकि यह पूर्ण ऐतिहासिक शैली पर निर्मित हुआ है। अष्टम तरंग की घटनायें तो कवि के साक्षात् दर्शन तथा प्रभूत अनुभव के ऊपर आश्रित होने से विशेषतः प्रामाणिक हैं।

कल्हण की ऐतिहासिक दृष्टि अर्वाचीन इतिहासवेत्ता की शोधक दृष्टि से समान है जो अपने उपकरणों तथा साधनों का पर्याप्त परीक्षण के अनन्तर ही ग्रहण करता है। वे अपने देश के इतिहास तथा भूगोल से गाढ़ परिचय रखते हैं। उन्होंने प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी ग्यारह ग्रन्थों का उपयोग इस इतिहास में पूरी छानबीन के बाद किया है जिनमें केवल नीलमत पुराण ही आज उपलब्ध है। सुव्रत पण्डित का ग्रन्थ

दुष्ट वैदग्धी से तीव्र होने के कारण विशेष उपयोगी सिद्ध न हो सका (१।११-१२)। क्षेमेन्द्र की नृपावली कवि की रचना होने से रमणीय अवश्य थी, परन्तु अनवधानता के कारण इसका कोई भी अंश दोष विरहित नहीं था[1]। हेलाराज के ग्रन्थ पार्थिवावी से भी अनेक राजाओं के नाम तथा धाम संकलित किये गये हैं। परन्तु कल्हण पण्डित थे मार्मिक शोधक, फलतः उन्होंने शिलालेख, दानपत्र, प्रशस्ति आदि अन्य ऐतिहासिक उपकरणों की सहायता से अपने ग्रन्थ को भरपूर पूर्ण तथा प्रामाणिक बनाया है। उदार दृष्टि होने के कारण कल्हण संकीर्णता तथा एकदेशीयता के जाल से बिल्कुल बचे हैं। वे प्रत्याभिज्ञा दर्शन के अनुयायी शैव थे; तन्त्रों में उनकी पूरी आस्था थी, परन्तु कदाचारी तान्त्रिकों के दुराचारों तथा दुष्ट प्रवृत्तियों की निन्दा करने में वे तनिक भी पराङ्मुख नहीं हुए हैं।

शैव होने पर भी वे बौद्धधर्म पर अविश्वास तथा अनास्था की दृष्टि नहीं रखते, प्रत्युत उसके अहिंसातत्त्व के वे पूर्ण प्रशंसक हैं। बौद्धधर्म ने कश्मीर की घाटी में विशेष रूपसे घर कर लिया था तथा जनता के हृदय में प्रतिष्ठित हो गया था। इसीलिए कल्हण ने महाराज अशोक के बौद्धधर्माश्रयी कार्यों की भूरि भूरि प्रशंसा की है तथा कश्मीर नरेशों के द्वारा बौद्ध मन्दिरों तथा विहारों के निर्माण का उल्लेख प्रशंसात्मक शब्दों में किया है। कल्हण ने लिखा है कि उदाराशय कश्मीरनरेश अधिकारपद पर प्रतिष्ठा के लिए योग्यता की कद्र करते थे, योग्य व्यक्तियों को भिन्न धर्मानुयायी होने पर भी उच्च पदों पर रखने से कभी वंचित नहीं रखते थे। ललितादित्य कश्मीर के विशेष मान्य शैव राजा थे, परन्तु इनका अग्रमन्त्री तुषार देश का निवासी

---

[1] केनाप्यनवधानेन कवि-कर्मणि सत्यपि।
अंशोऽपि नास्ति निर्दोषः क्षेमेन्द्रस्य नृपावलौ ॥ १।१३

था। नाम था चंकुण। इसने अष्टम शतक में अपने नाम पर 'चंकुण विहार' नामक एक सुन्दर विहार बनवाया और मगधदेश के राजा के द्वार लाई गई विशालकाय बौद्ध प्रतिमा को अपने विहार में प्रतिष्ठित किया था। इस प्रकार धार्मिक सहिष्णुता, बौद्ध शैव सहयोग, के अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत कर कल्हण पण्डितने अपनी उदार बुद्धि तथा विवेक का गाढ परिचय हमें दिया है।

योग्यता—

कल्हण खरा निष्पक्ष ऐतिहासिक था। आजकल के पाश्चात्य ऐतिहासिकों में यह दोष विशेषत: जागरूक रहता है कि वे अपने ही देश की गौरव गाथा गाने में—चाहे वह कितना भी छिद्रों तथा दोषों का शिकार हो—कभी नहीं चूकते, परन्तु वह पक्षपात और संकीर्ण जातीयता से एकदम उन्मुक्त तथा स्वतन्त्र है। काश्मीरी होने पर भी कल्हण काश्मीरियों की भीरूता तथा मिथ्याभाषण, संग्राम से पलायन वृत्ति, परस्पर कलह तथा विद्रोह, पक्षपात तथा दुराग्रह, संघर्ष तथा संग्राम, क्षुद्रता तथा हृदय-दौर्बल्य के विवरण देने में कभी नहीं चूकता। ब्राह्मणों के दोषों को बतलाने तथा निकालने में भी वह पराङ्मुख नहीं होता। वह काश्मीरी सैनिकों की भीरुता तथा दगाबाजी की खूब निन्दा करता है, परन्तु अन्य प्रान्तीय राजपूत सिपाहियों की वीरता की प्रशंसा करने में वह सदा अग्रसर है। वह अपने आदर्श को लक्ष्य रखकर कहता है—

> श्लाध्यः स एव गुणवान् रागद्वेष-बहिष्कृता
> भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती ॥ १।७

प्रशंसाका पात्र वही गुणवान् पुरुष होता है, उचित न्याय करने वाले जज के समान जिसकी वाणी बीते हुये अर्थ तथा घटना के वर्णन करने में दृढ़ रहती है और वह न किसी के ऊपर पक्षपात करती है और

न किसी के साथ द्वेष ही रखती है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि कल्हण पण्डित ने अपने इतिहास में इस आदर्श का परिपालन पूर्ण रूपमे किया है। इसी कारण राजतरंगिणी मानवों के हृदय परखने के लिए, अतीत को बिल्कुल प्रत्यक्ष बनाने के लिए तथा इतिहास की मार्मिक घटनाओं से उपयोगी शिक्षा तथा मननीय उपदेश ग्रहण करने के लिए आज भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थरत्न है। कल्हण के अर्वाचीन दृष्टिकोण में तथा उस के सहानुभूतिपूर्ण हृदय में इस महत्त्व का रहस्य छिपा हुआ है। इस प्रकार कल्हण इतिहास की कल्पना में पक्का यथार्थवादी है जो कल्पना जगत् में विचरण न कर अपने ठोस अनुभव के ऊपर ही घटनाओं के वर्णन को श्रेयस्कर समझता है। वह इतिहास के कारुणिक मानवपक्ष का अनुयायी है। उच्च धनाढ्य कुल में उत्पन्न होने से वह स्वयं कमी तथा आवश्यकताओं को नहीं जानता था तथापि समाज के दीन-हीन पददलित लोगों से उसे पूर्ण सहानुभूति है। इसी लिए उसका यह ग्रन्थ राजाओं के उथल पुथल का इतिहास होने के अतिरिक्त मानवीय उदात्त भावनाओं को अंकित करने वाला एक श्लाघनीय प्रयत्न है और यही इसका ऐतिहासिक मूल्यांकन है। हरिजनों के साथ बर्ताव, राजनैतिक उद्देश्य से उपवास करना आदि अनेक घटनायें वर्तमान युग की राजनैतिक समस्याओं के सुलझाने की दिशा की ओर पूर्ण संकेत बतलाती है।

काव्यसुषमा—

कल्हण अपने को इतिहासवेत्ता न मान कर विशेषरूप से कवि मानता है। वह कवि के महनीय गुणों से पूर्ण परिचित है। वह जानता है कि सुकवि की वाणी अमृत रस को भी तिरस्कार करने वाली होती है। अमृत के पीने से केवल पीने वाला ही अमर बन जाता है, परन्तु कवि की वाणी दोनों के, अपने तथा अपने वर्णित पात्रों के यशरूपी शरीर को अमर बना देती है—

वन्द्यः कोऽपि सुधास्यन्दास्कन्दी स सुकवेर्गुणः ।
येनायाति यशःकायः स्थैर्यं स्वस्य परस्य च ॥ १।३

वह कवि की तुलना प्रजापति ब्रह्मा के साथ करता है क्योंकि दोनों रम्य निर्माणशाली होते हैं तथा अतीत काल को साक्षात् प्रस्तुत करने की अलौकिक क्षमता से मण्डित होते हैं—

कोऽन्यः कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः ।
कविप्रजापतींस्त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिनः ॥ —१।४

राजतरंगिणी काव्यदृष्टि से भी एक महर्घ रत्न है जिसकी प्रभा आज भी उतनी ही आनन्ददायिनी है तथा जिसकी वर्णनशैली सहृदयों को आज भी अपनी सरलता तथा सरसता से सद्यः आवर्जित कर रही है। कल्हण वाल्मीकि तथा व्यास के काव्यरत्नों से पूर्ण परिचित तथा प्रभावित हैं। कश्मीरी कवियों में उन्होंने बिल्हण के विक्रमांकदेव-चरित का गाढ अनुशीलन किया था और इसका प्रभाव उनकी कविता पर पूर्ण रूप से पड़ा है। श्रीकंठ-चरित के लेखक मंखक ने स्पष्ट ही लिखा है कि कल्हण ने अपने काव्य-दर्पण को इतना रमणीय तथा साफ कर रखा है कि उसमें बिल्हण की प्रौढोक्ति सद्यः प्रतिबिम्बित होती है[1]। अपने प्रतिभाप्रसार तथा वैचित्र्य वर्णन के लिए पूर्ण अवसर न पाकर खेद प्रकट किया है, परन्तु उनकी यह माध्यस्थ्य-वृत्ति हानि उत्पन्न न कर कविता के लिए लाभकारी ही सिद्ध हुई है। हर्ष की कुटिलता तथा दुष्टता को उन्होंने अपनी आँखों देखा था और देखा था उच्चल तथा सुस्सल के परस्पर संघर्ष तथा मारकाट को। फलतः जगत् के व्यापारों से उन्हें नैसर्गिक उपरति हो गई थी। इसी-

---

[1] तथापचस्करे येन निज वाङ्मयदर्पणः ।
बिल्हण-प्रौढि-संक्रान्तौ यथा योगत्वमग्रहीत् ॥
—श्रीकण्ठचरित २५।७९

लिए वे शान्तरस को अपने काव्य का प्रधान रस मानते हैं। संसार के पचड़े को सूक्ष्म दृष्टि से निरखनेवाला कल्हण भाग्य की दुर्दमनीयता तथा अवश्यंभाविता में पूर्ण विश्वास रखता है। वह अपने इतिहास को अपने काव्यकौशल प्रदर्शित करने तथा जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है। वह अपनी कविता को अलंकारों की सजावट, शब्दोंके चमत्कार तथा चाकचिक्य से कोसों दूर रखता है। उसके काव्य में एक विलक्षण सरलता तथा हृदय आकर्षण करनेवाली साक्षात्प्रवृत्तिता है। कल्हण की कविता वर्णनात्मिका है, परन्तु उसमें पर्याप्त गति है, मनोहरता है और सबसे अधिक है लेखक की स्वतः अनुभूति का अंकन जो उसमें जीवन-शक्ति डालने में सर्वथा समर्थ हुआ है। चरित्र-चित्रण में वह नितान्त सफल है। आरम्भिक नरपति तो केवल कल्पना-प्रसूत चरित्रों की कोटि में आते हैं, परन्तु पिछले राजा जैसे अनन्त अवन्तिवर्मा तथा हर्ष आदि का चित्रण वैयक्तिकता तथा यथार्थता से परिपूर्ण है। वर्णन में वह कविता के क्षुण्ण मार्ग से अपने आपको स्वतन्त्र रखता है और इस दृष्टि से उसका काव्य बाण तथा बिल्हण के काव्यों के प्रभूत आलंकारिक वैचित्र्य से कहीं अधिक मनोहर तथा हृदयावर्जक है। तथ्य यह है कि कल्हण की अपनी एक विशिष्ट शैली है जिसमें अर्थ की अभिव्यक्ति ही प्रधान लक्ष्य है, घटना का अनुभूतिपूर्ण विवरण ही मुख्य उद्देश्य है, शब्दों की सजावट तथा स्निग्धता की ओर दृष्टि नहीं है।

कवि कविकर्म की महत्ता का प्रतिपादन करता हुआ कह रहा है कि अपने प्रताप से भूमण्डल को निर्भय करनेवाले राजाओं का नाम तथा काम कहाँ रहता यदि कवि की वाणी उनके चरित्र का रम्य विवरण प्रस्तुत नहीं करती—

भुज-वनतरुच्छायां येषां निषेव्य महौजसां
जलधिरशना मेदिन्यासीदसावकुतोभया।

स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहं
प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे।

राजा तारापीड के दुष्कर्मों का अन्त हुआ ब्राह्मणों के ऊपर आक्रमण करने से और अपनी मृत्यु से। इस वर्णन में अग्नि और मेघ का दृष्टान्त बड़ा ही सुन्दर तथा रुचिकर है :—

यो ऽयं जनापकरणाय श्रयत्युपायं
तेनैव तस्य नियमेन भवेद् विनाशः।
धूमं प्रसौति नयनान्ध्यकरं यमग्निः
भूत्वाम्बुदः स शमयेत् सलिलैस्तमेव।

अनुष्टप् छन्द में ही समस्त ग्रन्थ की रचना है, परन्तु स्थान स्थान पर बड़े छन्दों का भी प्रयोग वर्णन को रुचिर तथा शैली को मञ्जुल बनाने के लिए किया गया है। स्निग्ध काव्य शैली में काश्मीर-राजाओं का संघर्षमय जीवन चित्रित करने में तथा सामान्य जनता के साथ प्रचुर सहानुभूति दिखलाने में राजतरंगिणी भारतीय दृष्टि से आदर्श इतिहास प्रस्तुत करने में समर्थ होती है। उसकी यह विशिष्टता भारतीय साहित्य में कल्हण की अपूर्व कृतित्व हैं।[1]

---

[1] प्रथम फारसी अनुवाद कश्मीर के राजा जैन-उल-आबीदीन (१४२१–१४७२ ई०) की आज्ञा से किया गया, परन्तु कठिन भाषा में होने के कारण अकबर ने कश्मीर विजय के अनन्तर अल-बदाऊँनी से चलती फारसी में अनुवाद कराया। जहाँगीर के समय में कश्मीर के ही एक उच्चकुलीन मुस्लिम विद्वान् हैदर मलिक ने इसका फारसी में संक्षिप्त संस्करण किया। सबसे प्रथम मूल का संस्करण बंगाल की एशिएटिक सोसाइटी के द्वारा, कलकत्ता १८३५; डाक्टर स्टाइन का संस्करण १८९२ में तथा अनुवाद १९०० में, इसी समय पण्डित दुर्गाप्रसाद का सं०, निर्णयसागर प्रेस बम्बई १८९२; रणजीत पण्डित का राजतरंगिणी का पूर्ण

इतर कवि

जैन कवि ऐतिहासिक विषय पर निबद्ध महाशब्दों की रचना नितान्त दक्ष हैं परन्तु इनका साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मूल्य परिवर्तनशील है। जैन आचार्य हेमचन्द (१०८९ ई—११७३ ई०) ने कुमारपाल चरित (द्वाश्रय काव्य)[1] में गुजरात के राजाओं का चरित अपने आश्रयदाता कुमारपाल तक निबद्ध किया है। कुमारपाल ११४४ ई० में सिंहासनारूढ़ हुए और ११५२ ई० में हेमचन्द्र ने जैनधर्म में दीक्षित किया। आरम्भ के बीस सर्ग संस्कृत में तथा अन्त के आठ अर्ग प्राकृत में केवल लिखे ही नहीं गये, प्रत्युत हेमचन्द्र के संस्कृत तथा प्राकृत व्याकरणों के उदाहरणों को भी प्रदर्शित करते हैं। इसीलिये इस काव्य को 'द्वाश्रय' काव्य कहते हैं। इस महाकाव्य का साहित्यिक मूल्य कम होने पर भी गुजरात के इतिहास का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करने के कारण से इसका ऐतिहासिक मूल्य बहुत ही अधिक है। गुजरात के राजा बीरधवल तथा वीसलदेव के उदार मंत्री वस्तुपाल-तेजपाल के जीवन से सम्बद्ध अनेक काव्य और नाटक उपलब्ध होते हैं : सोमेश्वर (११७९—१२६२) ने वस्तुपाल का जीवन चरित अपने 'कीर्ति कौमुदी' काव्य मे किया है। यह काव्य की अपेक्षा अधिकतर चम्पू ही है। अरिसिंह का 'सुकृत संकीर्तन' नामक काव्य एकादश सर्गों मे वस्तुपाल की तीर्थयात्रा तथा धार्मिक कृत्यों का विशेष वर्णन करता है। बालचन्द्रसूरि का 'वसन्त विलास' भी इसी विषय पर है। लगभग दो शताब्दि पीछे नयचन्द्रसूरि ने चौहान नरेश हम्मीर के वर्णन में चौदह

तथा प्रामाणिक अनुवाद इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद १९३५; केवल आधे भाग का (१-७ तरंगों का) हिन्दी अनुवाद, काशी १९९८ विक्रमी संवत् ॥

[1] बाम्बे संस्कृतसीरीज में प्रकाशित (संख्या ६०, ६९, ७६)

सर्गों में 'हम्मीर महाकाव्य' लिखा है। इसमें ऐतिहासिक बातों का विशेष समावेश न होकर साहित्यिक सामग्री ही अधिक है। ऐसी ऐतिहासिक रचना का एक सुन्दर निदर्शन 'सुरजन चरित' महाकाव्य[1] है जिसे गौड़देशीय कवि चन्द्रशेखर ने १६ वीं शताब्दि के अन्तिम भाग में काशी में लिखा। इसमें वर्णित राजा सुरजन अकबर क बड़े विश्वासपात्र सामन्त थे तथा उनके द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण स्थानों में युद्ध के निमित्त भेजे गये थे। इस काव्य में बीस सर्ग हैं जिनमें बूँदी के हाडावंशीय राजाओं का चरित बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया गया है। अतः साहित्यिक सौन्दर्य क साथ इसका ऐतिहासिक मूल्य कम नहीं है। चन्द्रशेखर कवि ने कालिदास के शैली का सफल अनुकरण यहाँ किया है।

संस्कृत के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के चरित निबद्ध करने में विशेष उदारता का परिचय दिया है। ऐसे काव्यों का प्रकाशन धीरे धीरे अब हो रहा है। विजयनगर के राजाओं के ऊपर भी अनेक चरित-काव्य हैं जिनमें राजनाथ डिंडिम कवि का 'अच्युतरायाभ्युदय' १२ सर्गों में निबद्ध एक इतिहास प्रधान महाकाव्य है[2]। इसका अनुशीलन अच्युतराय के राज्यकालीन घटना, विजय तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की जानकारी के लिये नितान्त उपादेय है। अच्युतराय के सभापंडित होने से इस ग्रन्थ का रचनाकाल १६ शतक का मध्य भाग है। कविता साधारणतया प्रसादमयी तथा सुन्दर है। गंगा देवी का 'मधुराविजय' अथवा 'वीरकम्पराय चरित' विजयनगर साम्राज्य के आरम्भिक काल से सम्बद्ध घटनाओं के परिचय के लिए नितान्त उपादेय है क्योंकि इसकी लेखिका कम्पराय की रानी थी तथा इसने स्वयं ही अपने पति के

---

[1] श्री चन्द्रधर शर्मा द्वारा सम्पादित, काशी १९५२

[2] वाणी विलास प्रेस से आदि के ६ सर्ग प्रकाशित हैं। ७-१२ सर्ग अड्यार लाइब्रेरी से १९४५

विजयों का जीता जागता सच्चा चित्र खींचा है। रचनाकाल १४ शतक है। सन्ध्याकरनन्दी का 'रामपाल चरित' पालवंशीय नरेश रामपाल (१०८४-११३०) की जीवनी श्लिष्ट पद्यों द्वारा प्रस्तुत करता है। परन्तु ऐतिहासिक घटनाओं की विशेष जानकारी न होने से हम तन्निर्दिष्ट घटनाओं का विशेष मूल्य नहीं आँक सकते।

उस दुर्दैव को हम किन शब्दों में कोसें जिसने हिन्दू साम्राज्य के अंतिम सम्राट् पृथ्वीराज का जीवन-चरित 'पृथ्वीराज विजय' एक ही अधूरी हस्तलिखित प्रतिमें सुरक्षित रखा है। इस महाकाव्य के टीकाकार जोनराज (१४४८ के आसपास) ही काश्मीरी नहीं है, प्रत्युत उसका रचयिता भी उसी देश का निवासी था। जब पृथ्वीराज की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो रही थी उसी समय इस ग्रन्थ की रचना हुई थी। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है[1]। सर्वानन्द ने 'जगडू-चरित' काव्य लिखकर उस परोपकारी जगडूशाह की कीर्ति को अमर बना दिया है जिसने १२५६-५८ ई० के भीषण दुर्भिक्ष में अन्नकष्ट से मरते हुए प्राणियों को अपनी उदारता से बचाया था। गुजरात में होने वाले इस दुर्भिक्ष का बड़ा ही रोचक वर्णन करने से इसका सामाजिक मूल्य बहुत अधिक है।

वाक्पतिराज—

'गउडवहो' प्राकृत में निबद्ध ऐतिहासिक काव्यों में अपनी शैलीगत विशिष्टता के कारण नितान्त प्रख्यात है। प्राकृत में विरचित होने पर भी यह संस्कृत महाकाव्यों की ही वर्णनरीति का अनुसरण करता है। इसके रचयिता वाक्पतिराज कन्नौज के अधिपति यशोवर्मा के सभापण्डित थे और इस काव्य में उनकी ही गौड (मगध) नरेश के ऊपर किये गये विजय की विशिष्ट प्रशस्ति है। वाक्पति के

---

[1] गौरीशंकर हीराचन्द ओझा द्वारा प्रकाशित, अजमेर।

निजी कथन से उनका भवभूति के द्वारा विशेष रूप से प्रभावित होना ध्वनित होता है। इस काव्य का निर्माणकाल अभी तक आलोचकों में सन्देह का विषय बना हुआ है। काश्मीर-नरेश ललितादित्य (७२४ ई०-७६० ई०) ने ७३४ ई० में यशोवर्मा को परास्त किया था। अतः मगध नरेश पर विजय तथा उसका वर्णनपरक यह काव्य ७३४ ई० से पूर्व ही निर्मित हो चुका था। डा० याकोबी ने गउडवहो में निर्दिष्ट सूर्यग्रहण का काल ७३३ ई० सिद्ध किया है। अतः इस काव्य की रचना इसी समय के कुछ पीछे होनी चाहिए। वाक्पति के उल्लेख से यही तात्पर्य निकाला जा सकता है कि महाकवि भवभूति इनके मार्गदर्शक तथा गुरु थे जिसके काव्यामृत के कण इस रमणीय काव्य में स्फुरित होते हैं।[1]

वाक्पतिराज के अन्य प्राकृत काव्य 'मधुमह विजय' (गाथा ७९) की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई है, परन्तु इनका एकमात्र उपलब्ध महाकाव्य—गउडवहो (गौड़वधः) इनकी ख्याति को अक्षुण्ण रखने में सर्वथा समर्थ है। ऐतिहासिक महत्त्व की अपेक्षा इस काव्य का साहित्यिक मूल्य कहीं अधिक है। थोड़ी सी घटना के वर्णन को कवि ने प्राकृतिक दृश्य, भौगोलिक स्थान तथा अवान्तर विषयों के विवरणों से खूब ही पुष्ट, परिमार्जित तथा उपबृंहित किया है। विन्ध्यवासिनी भगवती के पूजा-विधान का वर्णन बड़ी सजीवता तथा मर्मज्ञता से चित्रित किया गया है। वाक्पतिराज बड़े ही प्रतिभा-सम्पन्न भावुक कवि थे। इनकी कल्पनायें स्थान-स्थान पर इतनी अनोखी, अपूर्व तथा रसमयी हैं कि इनका दर्शन संस्कृत साहित्य में भी नितान्त दुर्लभ है। कवि ने संस्कृत के महाकाव्यों का गाढ़ अनुशीलन किया है और उनकी

---

[1] भवभूइ-जलहि-णिग्गय-कव्वामय रसकणा इव फुरन्ति ।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहा-णिवेसेसु ॥
श्लोक० ७९९

ही स्वीकारोक्ति से (गाथा ८००) भास, रघुकार (कालिदास). सुबन्धु तथा हरिचन्द्र के काव्यों से स्फूर्ति-ग्रहण करने की घटना का संकेत हमें मिलता है, परन्तु इनके प्रधान उपजीव्य भवभूति ही हैं। १२०९ गाथाओं में निबद्ध इस महाकाव्य के रचयिता की 'कविराज' उपाधि (कइ-राअलंछण) यथार्थ तथा वास्तव है।

महाकाव्य का विकास

लौकिक संस्कृत में कविता लिखने का उदय वाल्मीकि से हुआ। रामायण हमारा आदिकाव्य है। वाल्मीकि हमारे आदि कवि हैं। क्रौञ्चवध की घटना जो साधारण दर्शकों के हृदय में थोड़ी सी सहानुभूति उत्पन्न करने में ही समर्थ होती वाल्मीकि के रससिक्त हृदय में शोकतरङ्गिणी के प्रवाहित होने का कारण बनती है और रसावेश में महर्षि का शोक श्लोक के रूप में परिणत हो जाता है। जिस अवसर पर 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं' के रूप में वाल्मीकि की करुण-रसाप्लुत वैखरी स्खलित हुई उसी समय भारतीय काव्य की दिशा का परिचय सहृदयों को मिल गया। काव्यतरङ्गिणी रसकूल का आश्रय लेकर ही प्रवाहित होती रहेगी, इसकी पर्याप्त सूचना उसी समय मिल गयी। वाल्मीकि का आदिकाव्य संस्कृत भारती का नितांत अभिराम निकेतन है। सरसता और स्वाभाविकता ही इसका सर्वस्व है। नाना रसों का मंजुल समन्वय, वर्णन में नितांत स्वाभाविकता, छोटे २ मनोरम पदों के द्वारा भावपूर्ण मधुर अर्थों की अभिव्यक्ति—इस काव्य की विशिष्टता है। स्थान स्थान पर वाल्मीकि ने अपने काव्य को अलंकारों से भूषित करने का भी उद्योग किया है, पर इन अलंकारों से वस्तु का सौन्दर्य और भी अधिकता से फूटता है और रसिकों के हृदय को हठात् मुग्ध बना देता

है । अलंकारों के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है, शोभा का विकास होता है, गुण की गरिमा बढ़ती है । वाल्मीकि के काव्य में अलंकार की छटा कम सुहावनी नहीं है । गरुड़ की यह उपमा रामचन्द्र की उदात्तता के अनुरूप ही है—

राक्षसेन्द्रमहासर्पान् स रामगरुडो महान् ।
उद्धरिष्यति वेगेन वैनतेय इवोरगान् ॥ (राम० ५।२१।२७)

सीता के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का यह प्रकार कितना अनूठा है—

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्ता स विश्वकृत् ।
नहि रूपोपमा ह्यन्या तवास्ति शुभदर्शने ॥ ५ २०।१३)

यह समासोक्ति भी सरता का भव्य निदर्शन है—

चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्श—हर्षोन्मीलिततारका ।
अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम् ॥ (४।३०।४५)

वाल्मीकि ने बाह्य प्रकृति का बड़ा ही मार्मिक वर्णनों प्रस्तुत किया है । उनके प्राकृतिक वर्णनों में सर्वत्र बिम्बग्रहण का प्राधान्य है । बिम्बग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उसके आसपास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट वर्णन देता है । यह तभी सम्भव है जब कवि के हृदय में प्रकृति के लिए सच्चा अनुराग रहता है । वाल्मीकि का यह हेमन्त वर्णन (अरण्य, अ० १६) अनुपम है—

अवश्यायनिपातेन किञ्चित् प्रक्लिन्न-शाद्वला ।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा ॥
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥

वन की भूमि जिसकी हरी हरी घास ओस गिरने से कुछ गीली सी बन गई है, तरुण धूप के पड़ने से कैसी शोभा दे रही है । अत्यन्त प्यासा

हुआ भी जंगली हाथी अधिक शीत जल के स्पर्शमात्र से ही अपनी सूँड़ को सिकोड़ लेता है।

वाल्मीकि की 'रसमयपद्धति' को हम 'सुकुमारमार्ग' कह सकते हैं। रस ही उसका जीवन है। स्वाभाविकता उसका भूषण है कालिदास ने इस शैली को अपनाकर इतना यश अर्जन किया है। इस पद्धति के दो श्रेष्ठ कवि हैं—वाल्मीकि और कालिदास।

कालिदास में वाल्मीकीय शैली का उदात्त उत्कर्ष मिलता है। कालिदास ने अपने आप को वाल्मीकि की कविता में। सिक्त कर दिया था। उनसे बढ़कर रामायण का भक्त शायद ही कोई दूसरा कवि मिले। इसीलिए उनके काव्य में वाल्मीकि की मनोरम पदावली तथा मञ्जुल भाव पूर्णतया भरे पड़े हैं। वाल्मीकि को बिना समझे कालिदास का अध्ययन पूरा नहीं हो सकता। रघुवंश (१।४) में कालिदास ने 'पूर्वसूरिभिः' के द्वारा वाल्मीकि की ओर संकेत किया है। रघु० (१५।३३) में रामायण को 'कविप्रथमपद्धति' कहा गया है। कालिदास को अपनी काव्यकला को पुष्ट करने में वाल्मीकि से स्फूर्ति तथा प्रेरणा मिली है, यह सिद्धान्त सन्देहहीन है। कालिदास प्रकृति के प्रवीण पुरोहित थे। उनकी दृष्टि में प्रकृति तथा मानव का परस्पर सम्बन्ध विश्व में विराजने वाली भगवद्विभूति की एक विस्पष्ट अभिव्यक्ति है। प्रकृति मानव पर प्रभाव डालती है। वह मनुष्य के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होती है। मानव भी प्रकृति को अपनी चिरसंगिनी समझता है।

इस निसर्ग-भावना के समान ही कालिदास की कविता की कमनीयता है। अलंकारों की झंकार का वह युग न था। रसीली बोली पर ही रसिक समाज अपने को निछावर करता था। कालिदास की कविता में अलंकारों का भव्य विन्यास है—परन्तु वह विन्यास इतना भड़कीला नहीं है कि पाठकों का हृदय वर्ण्य-वस्तु को छोड़कर अलंकारों की छटा की ओर ही आकृष्ट हो जाय। उस अलंकार से वस्तु का सौन्दर्य

निरखता है, उसका सलोनापन अधिक बढ़ता है, वह रसिकों के हृदय में बरबस घर कर लेती है।

कालिदास की शैली को परवर्ती कुछ कवियों ने बड़ी सफलता के साथ अपनाया है। अश्वघोष के ऊपर कालिदास की स्पष्ट छाप है। गुप्तकाल के प्रशस्ति-लेखक हरिषेण और वत्सभट्टि ने कालिदास के काव्यों का गहरा अनुशीलन कर उसी के आदर्श पर अपनी कविता लिखी थी। इतना ही नहीं, कालिदास के काव्यों की ख्याति भारतवर्ष के बाहर भी कम्बोज देश (आजकल का इण्डोचीन) तक फैली थी। भारतीय विद्वान् जिन जिन उपनिवेशों में धर्म और सभ्यता के प्रचार के लिये गये वहाँ उन्होंने कालिदास के काव्यों का प्रचार किया। इसलिये सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) और कम्बोज, जावा आदि देशों में उपलब्ध संस्कृत शिलालेखों में कालिदास की कविता का पर्याप्त अनुकरण पाया जाता है—उदाहरण के लिये कम्बोज के राजा भववर्मा के ६०० ई० के शिलालेख की कुछ पंक्तियाँ तथा कालिदास के श्लोक साथही दिये जाते हैं जिससे इस महाकवि का विपुल प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है[1]।

---

[1] —(क) शरत्कालाभियातस्य परानावृततेजसः।
द्विषामसह्यो यस्यैव प्रतापो न रवेरपि ॥ (शिलालेख, ६)
दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥ (रघुवंश ४।४९)

(ख) यस्य सेनारजो धूतमुज्झितालंकृतिष्वपि।
रिपुस्त्रीगण्डदेशेषु चूर्णभावमुपागतम् ॥ (शिलालेख ७)
भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम्।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधिः कृतः ॥ (रघु० ४।५४)

विचित्र-मार्ग

संस्कृत साहित्य के विकास में महाकवि भारवि का नाम विशेष उल्लेखनीय रहेगा, क्योंकि उन्होंने महाकाव्य लिखने की एक नयी शैली को जन्म दिया। आचार्य कुन्तक इस अलंकार-बहुल पद्धति को 'विचित्र-मार्ग' की संज्ञा देते हैं। इस अलंकृत शैली की दो विशेषतायें हैं — (१) विषय-सम्बन्धी और (२) भाषा-सम्बन्धी। भारवि के पहले वाल्मीकि तथा कालिदास ने अपने महाकाव्य का जो विषय चुना था वह अत्यन्त विस्तृत तथा परिमाण में विपुल है। कालिदास ने अपने रघुवंश में, केवल १९ सर्गों के भीतर दिलीप से प्रारम्भ कर अग्निवर्ण तक रघुवंश की अनेक पीढ़ियों का वर्णन बड़ी सफलता के साथ किया है परन्तु भारवि ने अर्जुन का किरात के पास जाना और उनसे युद्ध कर अस्त्र प्राप्त करने की स्वल्प कथा को २० सर्गों में कह डाला है। इन्होंने अपने काव्य में पर्वत, नदी, सन्ध्या, प्रातः, ऋतु तथा अनेक प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में अनेक सर्ग समाप्त कर दिये हैं और इस प्रकार इस छोटे से कथानक को इतना अधिक विस्तार प्रदान किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारवि के पहले काव्य का विषय विस्तृत होता था और प्राकृतिक वर्णन कम। परन्तु भारवि के बाद काव्य में कथावस्तु अत्यन्त कम होने लगी और प्रकृति-वर्णन अधिक। यही बात शिशुपालवध और नैषध जैसे महाकाव्यों में भी पायी जाती है।

विचित्र मार्ग

दूसरी बात भाषा-सम्बन्धी है। वाल्मीकि तथा कालिदास ने अपने महाकाव्यों में सीधी, सादी, चलती और प्रवाहपूर्ण भाषा का प्रयोग किया है। उनकी कविता प्रसाद गुण से युक्त है। न तो उनमें कहीं क्लिष्ट कल्पना मिलती है और न अलंकारों की बेसुरी झनकार। इनकी कविता में अलंकार के लाने का बल-पूर्वक प्रयास नहीं किया है और

न चित्रकाव्य लिखकर गोमूत्र और कमल का ही प्रदर्शन किया है। इनकी कविता में जहाँ कहीं भी अलंकार आये हैं वे स्वाभाविक रीति से अनायास प्रयुक्त हैं। उनसे कविता के समझने में कष्ट नहीं होता, बल्कि उसका सौष्ठव और अधिक बढ़ जाता है। परन्तु भारवि ने एक ऐसी शैली का जन्म दिया, एक ऐसी रीति का काव्य में प्रयोग किया जो अलंकार के भार से लदी है, श्लेष के प्रयोग से अत्यन्त दुरूह बन गयी है तथा चित्रकाव्य से प्रदर्शन करने की बलवती इच्छा से पहेली के समान कठिन हो गयी है। अलंकारों की प्रधानता होने के कारण ही इसे 'अलंकृत शैली' नाम प्रदान किया गया है[1]।

इस अलंकृत शैली का उत्कर्ष माघ का प्रसाद है। अतः इस शैली की उद्भावना में भारवि और माघ का नाम संश्लिष्ट रहेगा। अब कवियों के सामने दो प्रकार की शैलियाँ विद्यमान थीं —(१) वाल्मीकि-कालिदास की रसमयी शैली और (२) भारवि-माघ की अलंकृत शैली। पिछले कवियों ने अपनी रुचि के अनुसार इन शैलियों में से अन्यतम को अपनाया है। पद्मगुप्त परिमल ने 'नवसाहसांकचरित' में तथा श्रीहर्ष ने 'नैषध' में प्रथम शैली को अपनाया है, परन्तु अपने काव्य को अलंकृत करने की प्रवृत्ति भी इनमें है। 'अलंकृत शैली' का भव्य निदर्शन रत्नाकर का 'हरविजय' है। इस परवर्ती युग के कवियों की दृष्टि में नैसर्गिकता के स्थान पर 'अलंकारिकता' का विशेष मूल्य है। बाह्य प्रकृति के वर्णन में भी भिन्नता आ गई है। ये कवि-लोग प्रकृति के मार्मिक रूप के विश्लेषण में नितान्त असमर्थ हैं क्योंकि उनमें निरीक्षण का वस्तुतः अभाव है। श्रीहर्ष जैसे विदग्ध कवि की दृष्टि में सायंकाल में पश्चिम दिशा शवरालय में प्रहर के अन्त की सूचना देनेवाले

---

[1] द्रष्टव्य—मेरा ग्रन्थ 'भारतीय साहित्य शास्त्र' दूसरा खण्ड, पृष्ठ १८४—१९४।

कुक्कुटों (मुर्गों) की कलँगी के कारण लाल रंग की दिखलाई पड़ती है[1] !!!

कालिदास ने अनेक साहित्यिक रूढ़ियों को जन्म दिया है जिनमें एक रूढ़ि है—द्रुतविलम्बित छन्द में यमकमय ऋतुवर्णन। द्रुतविलम्बित के चतुर्थ चरण में उन्होंने यमक का बड़ा ही सरस विन्यास कर वसन्तशोभा का वर्णन रघुवंश के नवम सर्ग में किया है। बस, पिछले कवियों ने इस रूढ़ि को अपना लिया, पर यमक का इतना अधिक प्रयोग किया कि रसवत्ता जाती रही। कालिदास के यमक की स्वाभाविकता तथा मनोरमता के सामने माघ का ऋतुवर्णन सम्बन्धी (६ सर्ग) कोई भी श्लोक खड़ा नहीं हो सकता। अलंकृत शैली का विकटरूप तब प्रकट होता है, जब कवि एक ही प्रबन्ध में राम की तथा अर्जुन की कथा सुनाने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। कभी कभी तो तीन तीन अर्थ एकही श्लोक से आदि से लेकर अन्त तक निकलते हैं। ऐसी द्व्यर्थी महाकाव्यों में धनञ्जय का 'द्विसन्धान' विद्यामाधव का 'पार्वतीरुक्मिणीय', हरिदत्तसूरि का 'राघवनैषधीय', कविराजसूरि का 'राघवपाण्डवीय' मुख्य हैं। त्र्यर्थी काव्यों में राजचूड़ामणि दीक्षित का 'राघव यादवपाण्डवीय' तथा चिदम्बरसुमति का 'राघवपाण्डवयादवीय' मुख्य हैं। कहना व्यर्थ है कि इन काव्यों में पाण्डित्य का प्रदर्शन ही मुख्य है, हृदय को विकसित करनेवाली कला की अभिव्यक्ति नितरां न्यून है।

---

[1] नैषध चरित २२।५

सप्तम परिच्छेद

गीति-काव्य

गीति काव्य संस्कृत भारती का परम रमणीय अङ्ग है। संस्कृत में गीति काव्य मुक्तक तथा प्रबन्ध दोनों प्रकारों से उपलब्ध होता है। 'मुक्तक' से अभिप्राय उस काव्य से है जो सन्दर्भ आदि बाह्य उपकरणों से मुक्त होकर स्वयं रसपेशल होता है। इसके समझने के लिए बाहरी सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। संस्कृत के मुक्तक उन रसभरे मोदकों के समान हैं जिनके आस्वादमात्र से सहृदयों का हृदय सद्यः परितृप्त हो जाता है। जो आलोचक रस की पुष्टि के लिए प्रबन्ध काव्य को ही उत्तम साधन समझते हैं, उन्हें आनन्दवर्धन की यह उक्ति भुलानी न चाहिए—मुक्तकेषु हि प्रबन्धेषु इव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। मुक्तक काव्य के सुन्दर उदाहरण भर्तृहरि तथा अमरुक के शतक हैं। प्रबन्धात्मक गीति-काव्य के दृष्टान्त कालिदास का मेघदूत तथा उसी के अनुकरणपर लिखे गये 'सन्देश काव्य' हैं। गीति काव्यों में मधुर पदावली के साथ संगीतमय छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। वर्णन विशेषकर शृंगार, नीति, वैराग्य तथा प्राकृतिक दृश्यों के हैं। यहाँ कोमल भावों की मधुरिमा प्रत्येक रसिक के हृदय को हठात् अपनी ओर आकृष्ट करती है। इसका कारण यह है कि इन गीति काव्यों का बाह्यरूप जितना अभिराम तथा सुन्दर है उतना ही सुन्दर तथा पेशल उनका आभ्यन्तर रूप भी है।

वैशिष्ट्य—

रमणी का सौन्दर्य इन काव्यों में जितनी सुन्दरता तथा स्वाभाविकता के साथ परिस्फुटित हो पाया है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ सा प्रतीत हो रहा है। नारी के हृदय तथा रूपछटा के रंगीन चित्र किस रसिक के हृदय में प्रमोद की सरिता नहीं बहाते ? श्रृंगार की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का मार्मिक चित्रण इस काव्य की महती विशेषता है। आलोचकों की यह धारणा नितान्त भ्रान्त है कि श्रृङ्गारिक काव्यों में इन्द्रिय के उत्तेजक काम का ही अभिराम चित्रण है। यह आक्षेप संस्कृत साहित्य के श्रृङ्गार-प्रधानकाव्यों के विषय में आज भी किया जाता है। परन्तु ऐसे आक्षेपकों को संस्कृत साहित्य के प्रमुख आलोचक रुद्रट की ये उक्तियाँ कभी न भूलनी चाहिए—

न हि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः ।
कर्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः ॥
किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति ।
आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र ॥

इन गीतिकाव्यों के अध्ययन से तो नारी-प्रेम की उदात्तता तथा विशुद्धता का ही परिचय हमें प्राप्त होता है। प्रकृति चित्रण का भी इनमें प्रमुख स्थान है। बाह्य प्रकृति तथा अन्तःप्रकृति इन दोनों का परस्पर प्रभाव बड़ी सजीवता के साथ यहाँ दर्शाया गया है। संयोग तथा वियोग-उभय अवस्थाओं में प्रकृति मानवहृदय पर अपना प्रभाव डालने से विरत नहीं होती। उल्लसित हृदय को प्राकृतिक सौन्दर्य द्विगुणित कर देता है। परन्तु वही दृश्य विषण्ण हृदय के विषाद की रेखा को और भी गाढ़ी बना देता है। इस प्रकार ये गीति-काव्य प्राकृतिक दृश्यों के चल चित्रों के समान रसिकों के सामने उपस्थित होकर अपना सौन्दर्य दिखलाते हैं।

मुक्तकों के दो प्रधान भेद किये जा सकते हैं—लौकिक तथा धार्मिक। लौकिक मुक्तक लोक के नाना विषयों के विधान से सम्बन्ध रखता है। धार्मिक मुक्तक (स्तोत्र) विशिष्ट देवता की स्तुति से सम्बद्ध रहते हैं। दोनों प्रकार के काव्यों की प्राचीनता संस्कृत में पर्याप्त रूप से है। समग्र वैदिक संहिताएं देवताओं की विशिष्ट स्तुतियों से मण्डित हैं। गीतियों का उदय-स्थान तो स्वयं वेद ही है।

(१) वेद में गीति का उद्गम

कवि काव्य-सृष्टि का प्रजापति है। जिस प्रकार शिव अपनी शक्तिभूता प्रतिभा के सहयोग से नयी रंगीन सृष्टि का उद्गम करता है उसी प्रकार कवि भी अपनी प्रतिभा के बल पर नवीन सौन्दर्यमय काव्य-जगत् का निर्माण करता है। कवि में अन्तर्दर्शन की सत्ता नितान्त आवश्यक है। कवि सुन्दर पदार्थ के दर्शन में जब तक अपनी पृथक् सत्ता का विसर्जन कर उससे तादात्म्य स्थापित नहीं कर लेता, तब तक वह भावमयी कविता की सृष्टि नहीं कर सकता। अन्तर्दर्शन कवि को वस्तुतत्त्व के अन्तस्तल के निरीक्षण की क्षमता प्रदान करता है, तो वर्णन उसकी अनुभूत भावना को बोधगम्य अभिव्यक्ति प्रदान करता है। अतः कवि के लिए वर्णन उतना ही आवश्यक है जितना अन्तर्दर्शन। दर्शन के द्वारा प्रातिभ चक्षु के उन्मेष होने पर भी वाल्मीकि को कवि की पदवी तभी प्राप्त हुई जब दर्शन वर्णन के बाह्य रूप में छलक उठा। अन्तर्दर्शन कवि की निजी विभूति है जो उसके हृदय को नाना भावनाओं का आकर्षण केन्द्र बनाती है, परन्तु वर्णन कवि की बाह्य विभूति है जिसके द्वारा वह पाठकों के हृदयावर्जन में समर्थ कोमल कविता को जन्म देता है।

दर्शन तथा वर्णन से स्निग्ध ऋषि की वाणी के भव्य उदाहरण हैं वेद के महनीय मन्त्र। मन्त्र आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान के निधि हैं तथा

कर्मकाण्ड के जागरूक साधन हैं ; इसमें तो विवाद या सन्देह के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है ; परन्तु यह मन्त्र ही निश्चयपूर्वक कमनीय काव्यकला के आद्य निदर्शन भी माने जा सकते हैं। वैदिक ऋषियों की वाणी में दिव्यता अपने भव्यरूप में स्वर्गीय सौगन्ध के साथ विलसित हो रही है। आध्यात्मिक दृष्टि से वैदिक मन्त्र उदात्त तत्त्वज्ञान के निःसन्देह परिचायक हैं। भाव-प्रकटन की दृष्टि से ये मन्त्र ऋषियों के आर्षचक्षुओं के द्वारा अनुभूत तत्वों के नितान्त सरल, सहज तथा शान्तिमय अभिव्यञ्जक हैं। वैदिक मन्त्र पौरुपेय हैं या अपौरुपेय ? इस सिद्धान्त की छानबीन करने के लिए यहाँ स्थान नहीं है, परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि काव्यदृष्टि से भी उनकी निजी विशेपता है। मन्त्रों की विशिष्टता है अभीष्ट अर्थ को सीधे सादे शब्दों में सद्यः प्रकटन की क्षमता। वैदिक ऋषि मनोभिलपित भावों को थोड़े से चुने सुबोध शब्दों में सीधे तौर से कह डालने की क्षमता रखता है, परन्तु समय समय पर वह अपने भावों की तीव्रता की अभिव्यक्ति के हेतु अलंकारों के विधान करने में भी पराङ्मुख नहीं होता। अलंकारों की रानी उपमादेवी का नितान्त भव्य, मनोरम तथा हृदयावर्जक रूप हमें इन मन्त्रों में देखने को मिलता है। तथ्य तो यह है कि उपमा का काव्य-संसार में प्रथम अवतार उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं कविता का आविर्भाव। आनन्द से सिक्त-हृदय कवि की वाणी उपमा के द्वारा अपने को विभूपित करने में कोमल उल्लास तथा मधुमय आनन्द का बोध करती है। अपनी अनुभूतियों में तीव्रता लाने के लिए तथा उन्हें सरलता-पूर्वक पाठक के हृदय तक पहुँचा देने के निमित्त कवि की वाणी जिन अन्तरंग मधुमय कोमल साधनों का उपयोग किया करती है अलंकार उन्हीं का अन्यतम रूप है। हम ऐसे काव्ययुग की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें भावभङ्गी में कोमल विलास के संचार के हेतु कवि किसी न किसी प्रकार के साम्यविधान

का आश्रय लेता है। वैदिकमन्त्रों में इसीलिए अलंकारों के, विशेषतः औपम्यगर्भ अलंकारों के विधान पर आलोचक को आश्चर्य होने की कोई बात नहीं है।

अलंकारविधान

वेद के सूक्तों में नाना देवताओं से यज्ञ में पधारने के लिए, भौतिक सौख्य सम्पादन के निमित्त तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि उन्मिषित करने के हेतु नाना प्रकार के छन्दों में स्तुति की गई है। उनके रूपों का भव्य वर्णन कवि की कला का विलास है, तो उनके भीतर सुकुमार प्रार्थना के अवसर पर कोमल भावों, हार्दिक भावनाओं की रुचिर अभिव्यञ्जना है। उषा-विषयक मन्त्रों में सौन्दर्य भावना का आधिक्य है, तो इन्द्रविषयक मंत्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है। अग्नि के रूप वर्णन में यदि स्वभावोक्ति का आश्रय है, तो वरुण की स्तुति के अवसर पर हृदयगत कोमल भावों की मधुर अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वेद के मन्त्रों में काव्यगत गुणों का पर्याप्त दर्शन होना काव्य-जगत् की कोई आकस्मिक घटना नहीं है। तन्मयता तथा अनन्यता का यह विशद परिचायक चिह्न है भावों की सरल सहज अभिव्यक्ति। निःसन्देह वेदों में इसका विशाल साम्राज्य है।

इन्द्र की स्तुति (१।३२) के अवसर पर आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि की यह उक्ति है कि त्वष्टा के द्वारा निर्मित स्वरयुक्त वज्र के द्वारा जब इन्द्र ने पर्वत में आश्रय लेकर निवास करने वाले वृत्र को मारा, तब रंभाती हुई धेनुओं के समान जल जोरों से बहता हुआ समुद्र की ओर चल निकला—

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं
त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेमवः स्यन्दमाना
अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ (१।३२।२)

यहाँ 'वाश्रा धेनवः' की उपमा से सायंकाल चरागाहों से लौटने वाली, अपने बछड़ों के लिए उतावली से जोरों से रँभाती हुई और दौड़ती हुई गायों का मनोरम दृश्य नेत्रों के सामने झूलने लगता है। जोरों से बहने वाले, घोर रोर करने वाले बहुत दिनों तक रुके रहने के बाद प्रवाहित होने वाले जल के लिए इससे अधिक सुन्दर उपमा का विधान ही क्या हो सकता है ? इसी वैदिक कल्पना को हमारे महनीय कवियों ने भी अपने काव्यों में बड़ी रुचिरता के साथ अपनाया है।

हृदयवृत्तियों की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए वरुणसूक्तों का अनुशीलन विशेष सहायक सिद्ध होगा। महर्षि वशिष्ठ ने एक नितान्त भावप्रवण सूक्त (ऋग्वेद ७।८६) में अपने आराध्यदेव वरुण के प्रति अपना कोमल उद्गार प्रकट किया है। वे सुन्दर शब्दों में कह रहे हैं कि मैं स्वयं अपने आप पूछ रहा हूँ कि कब मैं वरुण के साथ मैत्री सूत्र में बँध जाऊँगा ? क्रोधरहित होकर वरुण प्रसन्नचित्त से क्या मेरे द्वारा दी गई हवि को ग्रहण करेंगे ? कब मैं प्रसन्न-मानस होकर उनकी दया को देखूँगा—

उत स्वया तन्वा सं वदे तत्
कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत
कदा मृडीकं सुमना अभिख्यम्॥
(ऋ० ७।८६।२)

जब विद्वानों की मीमांसा से उसे वरुण के कोप का पता चलता है तब कह उठता है कि हे देव, पितरों के द्वारा किये द्रोहों को दूर कर दीजिए और उन द्रोहों तथा विरोधों को भी दूर हटाइए जिन्हें हमने अपने शरीर से स्वयं किया है। जिस प्रकार पशु को चुरानेवाले चोर को तथा बछड़े को रस्सी से लोग छुड़ा देते हैं, उसी प्रकार आप भी अपराध की रस्सी में बँधे वसिष्ठ को भी मुक्त कीजिए—

अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽ-
व या वयं चकृमा तनूभिः ।
अव राजन् पशुतृपं न तायुं
सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् ।। (७।८६।५)

नम्रता तथा दीनता, अपराध स्वीकृति तथा आत्मसमर्पण की भव्य भावनाओं से मण्डित यह सूक्त वैष्णव भक्तों की उन वाणी की सुध दिलाता है जिसमें उन्होंने अपने को हजारों अपराधों का भाजन बताकर भगवान् से आत्मसात् करने की याचना की है ।

उषा की सुषमा

उषादेवी के विषय में उपलब्ध सूक्तों का अनुशीलन हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि वे काव्य की दृष्टि से नितान्त सरस, सहज तथा भव्य-भावना-मण्डित हैं । प्रातःकाल अरुणिमा से मण्डित, सुवर्ण-छटा से विच्छुरित प्राची नभोमण्डल पर दृष्टिपात करते समय किस भावुक के हृदय में कोमल भावना का उदय नहीं होता ? वैदिक ऋषि उसे अपनी प्रेमभरी दृष्टि से देखता है और उसकी दिव्य छटा पर रीझ उठता है । उषा मानवी के रूप में कवि-हृदय के नितान्त पास आती है । यदि उषा केवल महान् तथा स्वर्ग की अधिकारिणीमात्र होती, इस विश्व से परे ऊर्ध्वलोक में अपनी दिव्य छबि छहराती रहती, मानव जगत् के ऊपर उठकर अपनी भव्य सुन्दरता से मण्डित होकर अपने में ही पुञ्जीभूत बनी रहती, तो हमारे हृदय में केवल कौतुक या विस्मय जाग्रत होता, घनिष्ठता नहीं । जब हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तृत तथा व्यापक हो जाता है कि हम अपनी पृथक् सत्ता को सर्वथा निर्मूलन कर प्रकृति की सत्ता के भीतर नरसत्ता का सद्यः अनुभव करने लगते हैं, तब अनन्यता की भावना जन्म लेती है । इसका फल यह होता है कि कवि उषा को कभी कुमारी के रूप में,

कभी गृहिणी के रूप में और कभी माता के रूप में देखता है। बाह्य सौन्दर्य के भीतर कवि आन्तर सौन्दर्य का अनुभव करता है। उषा केवल बाह्य सौन्दर्य की प्रतिमा न होकर कवि के लिए माता की ममता की सुषमा का भी प्रतीक बन जाती है।

वैदिक ऋषि उषा के स्वरूप की भावना को तीव्र रूप से प्रकट करने के लिए नाना अलंकारों का विधान प्रस्तुत करता है। उषा अपने शुभ्र उज्ज्वल रूप को धारण करती हुई स्नान करने वाली सुन्दरी की भाँति आकाश में प्रकट होती है, तो कभी वह भ्रातृविहीन भगिनी के समान अपने दायभाग को लेने के लिए पितृस्थानीय सूर्य के पास आती है, कभी वह सुन्दर वस्त्र पहन पति को अपने प्रेमपाश में बाँधने के लिए मचलने वाली सुन्दरी के समान अपने पति के सामने अपने सुन्दर रूप को प्रकट करती है—

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरीणीते अप्सः ॥

—ऋग् १।१२४।७

कवि की दृष्टि उषा के रम्यरूप पर पड़ती है और वह उसे एक सुन्दर मानवी के रूप में देखकर प्रसन्न हो उठता है। वह कहता है—हे प्रकाशवती उषा, तुम कमनीय कन्या की भाँति अत्यन्त आकर्षणमयी बनकर अभिमत फलदाता सूर्य के निकट जाती हो तथा उनके सम्मुख स्मितवदना युवति की भाँति अपने वक्ष को आवरणरहित करती हो—

कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम् ।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ॥

(ऋग् १।१२३।१०)

यहाँ कवि की मानवीकरण की भावना अत्यन्त प्रबल हो उठी है।

यहाँ उपा के कुमारीरूप की कल्पना है। स्मितवदना सुन्दर रूप को प्रगट करने वाली युवति कन्या की कल्पना सूर्य के पास प्रणय मिलन की भावना से जाने वाली उपा के ऊपर कितनी सयुक्तिक है तथा सरस है।

उपा के ऊपर की गई अन्य कल्पनाओं के भीतर भी उतना ही औचित्य दृष्टिगोचर हो रहा है। वह अपने प्रकाश द्वारा संसार को उसी प्रकार संस्कृत करती है जिस प्रकार योद्धा अपने शस्त्रों को घिसकर उनका संस्कार करता है—

अपेजते शूरो अस्तेव शत्रून्
वाधते तमो अजिरा न वोढ़ा (६।६४।३)

उषा अपने प्रकाश को उसी प्रकार फैलाती है जिस प्रकार ग्वाला चरागाह में गौवों को विस्तृत करता है अथवा नदी अपने जलको विस्तृत करती है :—

पशून्न चित्रा सुभगा प्रथाना
सिन्धु र्न क्षोद उर्विया व्यश्वैत (१।९२।१२)

उषा का नित्य-प्रति उदित होना उसके अमरत्व की पताका है—

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वो-
र्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः ॥ (३।६।२।)

उषाका नित्य प्रति एकाकार रूप से आनां कवि की दृष्टि में चक्र के आवर्तन के समान है। चक्र सदा आवर्तित होता रहता है, उसी प्रकार उपा भी अपना आवर्तन किया करती है—

समानमर्थं चरणीयमाना
चक्रमिव नव्यस्याववृतस्व ॥ (३।६।३)

इन उदाहरणों में उपमा का विधान उषा की रूपभावना को तीव्र बनाने के लिए कितने उचित ढंग से प्रयुक्त किया गया है।

उषा-विषयक मन्त्रों के अनुशीलन से हम वैदिक ऋषियों की प्रकृति के प्रति उदात्त भावना को भी भलीभाँति समझ सकते हैं। प्रकृति का चित्रण दो प्रकार का है–

(१) अनावृत वर्णन अर्थात् प्रकृति का स्वतः आलम्बनत्वेन वर्णन जहाँ प्रकृति की नैसर्गिक माधुरी कवि हृदय को आकृष्ट करती है और अपने आनन्द से कविमानस को सिक्त करती है।

(२) अलंकृत वर्णन अर्थात् प्रकृति तथा उसके व्यापारों का मानवी-करण किया गया है। प्रकृति निश्चेष्ट न होकर चेतन प्राणी के समान नाना व्यापारों का सम्पादन करती है। वह कभी स्मितवदना सुन्दरी के समान दर्शकों का हृदय आकृष्ट करती है, तो कभी उग्ररूप भीषण जन्तु के समान हमारे हृदय में भय तथा क्षोभ उत्पन्न करती है।

वैदिक कवि की इस द्विविध भावना का स्फुट निदर्शन में मिलता है उषासम्बन्धी भावनाओं में। प्राचीन क्षितिज पर सुवर्ण के समान अरुण छटा छिटकाने वाली उषा को साक्षात्कार करते समय कवि का हृदय इन कोमल चित्र में रम जाता है और वह उल्लासमयी भाषा में पुकार उठता है—

उषो देव्यमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ॥
(३।६१।२)

हे प्रकाशमयी उषा, तुम सोने के रथ पर चढ़कर अमरणशील यनकर चम को। तुम्हारे उदय के समय पक्षिगण सुन्दर रसमय वाणी का उच्चारण करते हैं। सुन्दर शिक्षित पृथु बल से सम्पन्न घोड़े सुवर्ण वर्ण वाली तुम्हें वहन करें।

अन्य मन्त्र में वह उषा के उदय होने के समय सर्वत्र व्यापक प्रकाश की चर्चा की गई है, तो कहीं प्रातःकाल ऋषियों के मन्त्रों द्वारा उषा के स्वागत किये जाने का उल्लेख है (ऋग्वेद ३।३१।९)

अलंकृत वर्णन के अवसर पर उषा से सम्बद्ध रूप तथा व्यापारों पर मानवीय रूप तथा व्यापारों का बड़ा ही हृदयरञ्जक आरोप किया गया है। एक स्थल पर कवि उषा की रूपमाधुरी का वर्णन करते समय शोभनवस्त्रा युवति के साथ उसकी तुलना करता है—

जायेव पत्य उशती सुवासा ।
उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः ॥ (१।१२४।७)

यहाँ कवि नारी के कोमल हृदय को स्पर्श कर रहा है। पति के सामने कौन सुंदरी अपने हृदय के उल्लास तथा मन की वासना को गुप्त रख सकती है? और कौन ऐसी स्त्री होगी जो पति के सामने अपने सुंदरतम सज्जा-सम्पन्न रूप को प्रकट करना नहीं चाहती? अपने पतिभूत सूर्य्य का अनुगमन करने वाली उषा के आचरण में कवि साध्वी सती के आचरण की स्फुट अभिव्यक्ति पाता है (७।७६।३)। एक स्थान पर कवि भय से शंकित होकर कह उठता है कि कहीं उषा के सुकुमार शरीर को सूर्य की तीक्ष्ण किरणें संतप्त न कर दें जिस प्रकार राजा चोर को या शत्रु को संतप्त करता है—

नेत त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति
सूरो अर्चिषा सु जाते अश्वसूनृते ॥

(५।८०।९)

अन्यत्र रंगमंच के ऊपर अपना उल्लासमय नृत्य दिखलाने वाली नर्तकी की समता कवि प्रातःकाल प्राची क्षितिज के रंगमंच पर अपने शरीर को विशद रूप से दिखलाने वाली उषा के साथ करता हुआ अपनी कलाप्रियता का परिचय देता है—

अधि पेशांसि वपते नृतूरिवा-
पोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम् ॥

(१।९२।४)

महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में प्रकृति के द्विविध रूप की भव्य झाँकी प्रस्तुत की है। 'ऋतु संहार' में प्रकृति अपने अनावृत रूप में पाठकों के सामने अपनी रमणीय छवि दिखलाती है, तो मेघदूत में वह अलंकारों की सजावट से चमत्कृत तथा कोमल हार्दिक भावभङ्गियों से स्निग्ध रमणीरूप में आकर प्रस्तुत होती है। कालिदास का यह प्रकृति-चित्रण ऋग्वेदीय मञ्जुल धारा के ही अन्तर्गत है।

२

लौकिक गीतिका

मेघदूत—

संस्कृत के गीतिकाव्यों का आदिम ग्रन्थ महाकवि कालिदास का मेघदूत है जिसमें धनपति कुबेर के शाप से निर्वासित एक विरही यक्ष की मनोव्यथा का मार्मिक चित्रण है। मेघदूत कालिदास के नर-प्रकृति तथा बाह्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का भव्य भण्डार है। यहाँ बाह्य प्रकृति को जो प्रधानता मिली है वह संस्कृत के अन्य किसी काव्य में नहीं। पूर्वमेघ तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारत भूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। कवि की पैनी दृष्टि में ग्रीष्मऋतुकी मन्द प्रवाहिनी नदी उस प्रोषित-पतिकाके समान प्रतीत होती है जो अपने पति के वियोग में मलिनवसना बन बड़े क्लेशों में अपना जीवन बिताती है। प्राकृतिक दृश्यों में विज्ञानसम्मत बातों का पर्याप्त सन्निवेश है। यक्ष तथा उनकी प्रेयसी की विरहावस्था का वर्णन कर कवि ने मानवहृदय का मार्मिक मनोहर चित्र उपस्थित किया है। मेघदूत वस्तुतः विरह-पीड़ित उत्कण्ठित हृदय की मर्मभरी वेदना है, जिसके प्रत्येक पद्य में प्रेम की विह्वलता, विवशता तथा

विकलता अपने को अभिव्यक्त कर रही है। पूर्वमेघ बाह्यप्रकृति का मनोरम चित्र है, तो उत्तरमेघ अन्तःप्रकृति का अनुभव पर प्रतिष्ठित अभिराम वर्णन है। वियोगिनी यक्षपत्नी का यह अभिराम रूप किस सहृदय के हृदय में सहानुभूति उत्पन्न नहीं करता—

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद् भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति॥

सन्देश-काव्य—

कालिदास ने मेघदूत में जिस शैली को जन्म दिया वह हमारे कवियों को बहुत ही प्रिय प्रतीत हुई और उन्होंने पचीसों काव्य इसके अनुकरण में बनाये। इस प्रकार संस्कृत में 'सन्देश-काव्यों' की एक अलग धारा ही है। कुछ जैन कवियों ने मेघदूत के प्रत्येक श्लोक के चरणों को लेकर समस्यापूर्ति के ढंग पर नये दूत-काव्यों की रचना की। जैन कवि 'जिनसेन' ने 'पार्श्वाभ्युदय' में मेघदूत के समस्त पद्यों के चरणों की एक प्रकार से समस्यापूर्ति कर दी है। विक्रम कवि ने नेमिदूत में केवल चतुर्थ चरणों की ही पूर्ति की है। सन्देश काव्यों में धोयी का पवनदूत मुख्य है। ये कवि जयदेव के समकालीन थे और राजा लक्ष्मणसेन (१२ शताब्दी) के सभा-पण्डितों में अन्यतम थे। हंसदूत अनेक कवियों की लेखनी से प्रस्तुत हुआ है जिनमें वेदान्त-देशिक, वामन भट्टबाण (१५ शतक) तथा रूपगोस्वामी (१६ शतक) के हंसदूत नितान्त प्रसिद्ध हैं। वेदान्त देशिक ने अपने दूतकाव्य में भगवती जनकनन्दिनी के पास राम का सन्देश भेजा है। रूपगोस्वामी ने पूरे एक सौ शिखरिणी पद्यों में राधा की ओर से कृष्ण को प्रेम सन्देश भेजवाया है। केरल तथा बङ्गाल के कवियों ने अपनी रचनाओं

से साहित्य के इस अङ्ग को खूब पुष्ट किया है। चातकदूत, कोकिलदूत आदि अनेक दूतकाव्य हमारे साहित्य में विद्यमान हैं।

संदेश काव्यों के विकाश की एक दिशा नवीन भावों तथा विषयों के वर्णन की ओर है। वैष्णव कवियों तथा जैन कवियों ने अपने दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों की अभिव्यंजना के लिये दूत काव्य का आश्रय लिया है। प्रेस-संदेश के स्थान पर पिछले दूतकाव्य विज्ञप्ति-पत्र का काम करते हैं जिसमें शिष्य अपनी आध्यात्मिक उन्नति के विपय में अपने गुरु को सूचना भेजता है। यह बात जैन कवियों के द्वारा लिखित दूतकाव्यों में विशेष रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। विक्रम कवि के द्वारा निर्मित नेमिदूत (१३ शतक) में जैन दर्शन के अनुसार आध्यात्मिक तत्त्वका भी निरूपण काव्य की सरस भाषा में किया गया है। वैष्णव कवियों ने भी भक्तिमयी भावना के प्रचार के लिये दूतकाव्यो का निर्माण किया। जैसे रूप गोस्वामी ने अपने 'उद्धवशतक' में कृष्ण की विरहिणी गोपिकाओं के द्वारा भक्ति-तत्त्व का बड़ा ही सरस तथा रुचिर विवरण प्रस्तुत किया है। कहीं २ तो अत्यन्त गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों के प्रतिपादन के लिये भी दूतकाव्य का माध्यम स्वीकार किया गया है। जैसे 'हंस संदेश' में मन को हंस की कल्पना कर भक्तिरूपा नायिका के पास भेजा गया है कि वह उड़कर शिवलोक में शाश्वत आनन्द का सुख उठावें।

भर्तृहरि

महाकवि भर्तृहरि की कविता जितनी प्रसिद्ध है. उनका व्यक्तित्व उतना ही अज्ञात है। हम उनकी स्थिति तथा जीवन-चरित से एकदम अपरिचित हैं। दन्तकथा के आधार पर कुछ लोग उन्हें राजा मानते हैं और वह भी विक्रमादित्य का जेठा भाई, परन्तु उनके ग्रन्थ से राजसी भाव तो नहीं टपकता। अतः यह भी घटना निरी दन्तकथा के सिवाय विशेष महत्त्व नहीं रखती। अधिकांश विद्वान् उन्हें महावैयाकरण भर्तृ-

हरि से अभिन्न मानते हैं। परन्तु इसके लिये भी पोषक प्रमाण प्रस्तुत नहीं हैं। पश्चिमी शोधक लोग चीनी यात्री इत्सिंग के कथन में आस्था रखते हुये भर्तृहरि को बौद्ध मानते हैं जो गृहस्थी और संन्यासी जीवन के बीच सात बार इधर से उधर डोलते रहे। पर उनके शतकों के अनुशीलन डंके की चोट बतलाता है कि इनका लेखक वैदिक धर्मावलम्बी ही नहीं बल्कि पूरा अद्वैतवादी था। वैदिक धर्म के आचार, विचार, पद्धति तथा प्रक्रिया पर उन्हें पूरा विश्वास तथा आग्रह था। उनका समय लगभग सप्तम शताब्दी में पड़ता है।

भर्तृहरि के तीन शतक हैं—(१) नीतिशतक (२) शृंगारशतक (३) वैराग्यशतक। भर्तृहरि ने संसार का खूब ही अनुभव किया था और उस अनुभव के मार्मिक-पक्ष के ग्रहण करने में वे सर्वथा कृतकार्य हुये हैं। जो कवि संसार के बीच रहता हुआ अपने अनुभव के बलपर उसके हृदय को समझने तथा कविता में सुचारु रूप देने में समर्थ होता है वही सच्चा लोकप्रिय कवि है। इस दृष्टि से भर्तृहरि सचमुच जनता के कवि हैं जिनकी सूक्ष्म दृष्टि संसार की छोटी से छोटी वस्तु को निरख उससे उदात्त शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ होती है। नीतिशतक में वे उन उदात्त गुणों के ग्रहण करने के लिये आग्रह दिखलाते हैं जिनका अनुशीलन समग्र-मानव समाज का परम मंगल साधक है। वे मनुष्य जीवन को सद्गुणों के उपार्जन से सफल बनाने के पक्ष में हैं। जो व्यक्ति सुन्दर नर-देह पाकर भी सद्गुणों का उपार्जन नहीं करता वह उस व्यक्ति के समान उपहास्यास्पद है जो वैदूर्यमणि के बने हुए पात्र में चन्दन की लकड़ी से लहसुन पकाता है अथवा जो सोने के हल से अर्क की जड़ पाने के लिए जमीन जोतता है।

भर्तृहरि की दृष्टिमें वही वास्तव में सज्जन है जो दूसरों के परमाणु के समान छोटे गुण को पर्वत के समान बनाकर अपने चित्त में परम संतोष का अनुभव करता है।

परगुण-परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम् ।
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥

श्रृंगार-शतक हमारा कवि श्रृंगार के चटकीला चित्रण करने में नहीं चूकता । वह नारी-हृदय की सच्ची परख रखता है । प्रेम से प्रभावित कामी और कामकों के चित्र में जो वृत्तियां अपना ललित खेल दिखलाया करती हैं उसे यह कवि सूक्ष्म दृष्टि से देखता है परन्तु वह इन रंगीली लीलाओं के विषम परिणाम से भी भलीभाँति परिचित है ।

वैराग्य-शतक भर्तृहरि का सर्वस्व प्रतीत होता है । वे सन्तोष को परम सुख तथा वैराग्य को इसका एकमात्र साधन मानते हैं । सांसारिक विषयों में आसक्त व्यक्ति की यह उक्ति कितनी सजीव और चमत्कारजनक है :—

धन्यानां गिरिकन्दरेषु वसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुकणान् पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः ।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते ॥

वे लोग सचमुच धन्य हैं जो पर्वत की कन्दराओं में निवास करते हुए परम ज्योति का ध्यान करते हैं । और जिन की गोदी में बैठे हुए पक्षी नेत्रों से बहनेवाले आनन्द के आँसुओं के कणों को पिया करते हैं । परन्तु मनोरथ से बनाये गये महल, बावली और उपवन में विहार करने से हमारी आयु दिन प्रति दिन क्षीण होती जाती है । सांसारिक पुरुष रात दिन गृहस्थी की चिन्ता में डूबा रहता है ।

भर्तृहरि की दृष्टि में तपस्वी जीवन ही नितान्त श्रेयस्कर है । मुनि के लिये पृथ्वी ही रमणीय शय्या है । भुजायें ही तकिया हैं । आकाश ही चँदवा है । अनुकूल वायु ही पंखा है । शरत् का चन्द्रमा दीपक है । विरति उसकी प्रिया है । शान्तमुनि नितान्त सुख का अनुभव ऐश्वर्यशाली सम्राट् के समान करता हुआ आनन्द पाता है :—

मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।
शरच्चन्द्रो दीपो विरतिवनितासङ्गमुदितः
सुखी शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥

अमरुक

अमरुक कवि की कविता जितनी विख्यात है उतना ही उनका व्यक्तित्व अप्रसिद्ध है उनके देश और कालका ठीक ठीक निर्णय अभीतक न हो पाया है । उनके समय के विषय में हम इतना ही जानते हैं कि ये नवम शताब्दी से पूर्व विद्यमान थे, क्योंकि आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उनके मुक्तकों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है :—

मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते । तथा ह्यमरुकस्य कवेः मुक्तकाः शृंगारस्यन्दिनः प्रबन्धायमाणाः प्रसिद्धा एव ।

यह प्रशंसा किसी साधारणकोटि के आलोचकों की न होकर एक आलंकारिक शिरोमणि की है । उनकी सम्मति में अमरुक के मुक्तक इतने रस और भाव से भरे हुए हैं कि अल्पकाय होने पर भी प्रबन्ध से समता रखते हैं । यह प्रशंसा तो बहुत बड़ी है परन्तु है सच्ची । हजार वर्ष से अधिक होते आये इन पद्यों की साहित्य-सुषमा पर विदग्ध समाज आज भी उसी प्रकार रीझता है जिस प्रकार वह पहले रीझता था ।

अमरुक की कविता बड़ी मनोहारिणी है । शार्दूलविक्रीडित जैसे बड़े छन्दों का उपयोग करने पर भी इनकी कविता में लम्बे-लम्बे समास नहीं आये हैं । अमरुक शब्द-कवि नहीं हैं ; रस-कवि हैं । इनकी कविताएँ मनोरम शृंगार से लबालब भरी हैं । अर्जुनवर्मदेव ने बड़ी मार्मिकता से इस काव्य की आलोचना करते समय दिखलाया है कि कहीं-कहीं पददोष होने पर भी इनमें कोई रस की क्षति नहीं है । भला

रसकवि कभी पदविन्यास के झमेले में पड़ा रहता है? उसके लिए पदविह्वलता तो वाञ्छनीय होती है।

अमरुक के शृंगार वचनों के सामने अन्य कवियों के सरस वचन नहीं टिक सकते। आनन्दवर्धन का कथन यथार्थ है कि इनके एक-एक पद्य पूरे प्रबन्ध के समान हैं। जितने भाव एक छोटे प्रबन्ध में दिखाए जा सकते हैं अमरुक ने उतने भाव एक छोटे से पद्य में दिखलाया है। वास्तव में इन्होंने गागर में सागर भरने की लोकोक्ति चरितार्थ की है। इन्होंने प्रेम का जीता जागता चित्र खींचा है। कामी तथा कामिनियों की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न मनोवृत्तियों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया है। कहीं पर पति को परदेश जाने के लिए तैयार देखकर कामिनी की हृदय-विह्वलता का चित्र है, तो कहीं पति के शुभागमन के समाचार सुनकर अंग प्रत्यंग से हर्ष की अभिव्यक्ति करने वाली सुन्दरी का कमनीय वर्णन है। ये पद्य क्या हैं? संस्कृत-साहित्य के चमकते हीरे हैं।

आलोचकों ने इन पद्यों को साहित्य की कसौटी पर कसा है और उन्हें चमकता खरा सोना पाया है। ये ध्वनि के नमूने हैं। इनके कारण अमरुक के प्रतिभासम्पन्न महाकवि होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहता। हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों ने अमरुक के भावों को अपनाया है। विहारी के दोहों में कहीं कहीं इनकी छाया ही दीख पड़ती है परन्तु पद्माकर ने तो अपने जगद्विनोद में इनका सुन्दर अनुवाद कर इन्हें बिल्कुल अपना लिया है।

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते॥

भावी प्रोषित-पतिका अपने जीवन से कह रही है—जब मेरे प्रियतम ने जाने का निश्चय किया तब दुर्बलता के मारे हाथ के कंकण

गिर गये, प्रिय मित्र अश्रु भी जाने लगे। केवल जाने की खबर सुनकर नेत्रों से सतत धारा बहने लगी। सन्तोष एक क्षण भी न रहा, मन तो पहले ही जाने के लिये तैयार हो गया—ये सब एक साथ ही चलने के लिए उद्यत हो गये। हे प्राण! तुम्हें भी तो एक दिन जाना ही है तो अपने मित्रों का साथ क्यों छोड़ रहे हो? मेरे प्राण, प्यारे के जाने की खबर सुन तुम भी चल बसो।

गोवर्धनाचार्य

ये बंगाल के अन्तिम राजा लक्ष्मणसेन (१११६ ई०) की सभा के मान्य कवि थे। इनकी एकमात्र रचना 'आर्या-सप्तशती' है। 'हाल' की सप्तशती तत्कालीन प्राकृत कवियों की विशाल कविताओं का चुना हुआ संग्रह है, पर आर्या सप्तशती एक ही कवि की रचना है। भाव तथा अर्थ में अनेक स्थानों पर आश्चर्यजनक साम्य है। गोवर्धन श्रृंगार रस के आराधनीय आचार्य हैं, इसकी पुष्टि स्वयं जयदेव ने की है—

श्रृंगारोत्तर-सत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन—
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः।

गोवर्धन आर्या की रचना में नितान्त विख्यात हैं। इनसे पहले किसी कवि ने इस छन्द को इतने सुचारु तथा सुन्दर रूप में नहीं लिखा था। श्रृंगार की नाना अवस्थाओं का वर्णन भी मार्मिकता से किया गया है। नागरिक स्त्रियों की श्रृंगारिक चेष्टाओं का चित्रण जितना चटकदार है उतना ही ग्रामीण महिलाओं की रसभरी स्वाभाविक उक्तियाँ मनोहर हैं। कवि मानव-हृदय की प्रवृत्तियों का सच्चा पारखी है। संयोग तथा वियोग के समय कामनियों के हृदय में जो कल्पनायें ललित खेल किया करती हैं उनकी परख गोवर्धन कवि को खूब है। तथ्य बात यह है कि हमारे कवि ने छोटे से छन्द में विशाल विविध भावों को भरकर गागर में सागर भरने की लोकोक्ति चरितार्थ की है।

सा सर्वथैव रक्ता रागं गुञ्जेव न तु मुखे वहति ।
बचनपटोस्तव रागः केवलमास्ये शुकस्येव ॥

नायिका नायक के प्रति पूर्णतया अनुरक्त है पर अपने अनुराग को वह मुख से प्रकट नहीं करती । अतः वह उस लाल गुंजाफल के समान है जो मुख को छोड़ सर्वाङ्ग में रक्तवर्ण है । दूसरी ओर वचनचातुरी में दक्ष-नायक है जो मुखमात्र ही से अपने प्रेम का ख्यापन करता है । अतः वह उस हरे शुक के समान है जिसका केवल मुख ही लाल होता है ।

विरह से संतप्त नायिका का यह वर्णन कितना चमत्कार-जनक है:—

न सवर्णो न च रूपं न संस्क्रिया कापि नैव सा प्रकृतिः ।
बाला त्वद्विरहादपि जातापभ्रंशभाषेव ॥

अपभ्रंश भाषा के साथ विरहणी की समता सचमुच अनूठी है ।

गोवर्धन ने 'गाथा सप्तशती' के आदर्श पर अपने काव्य का निर्माण किया । प्राकृत भाषा में गीतिकाव्य का उदय अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ । 'गाथा सप्तशती' में सरस श्रृंगारिक गाथाओं का नितान्त अभिराम संग्रह सातवाहन-वंशी राजा हाल ने किया है । इस ग्रंथ की रचना महाराष्ट्रीय प्राकृत में प्रथम शताब्दी में की गई । 'हाल' ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने एक करोड़ गाथाओं में से चुनकर सात सौ गाथाएँ एकत्र संग्रहीत की हैं । ये गीतियाँ श्रृगार रस से लबालब भरी हैं । इन गाथाओं में प्राकृत कवियों की ऊँची कल्पना तथा नई सूझ के मंजुल दृष्टान्त प्रचुर-मात्रा में उपलब्ध होते हैं । सप्तशती में लोक-जीवन के विविध पटलों का सजीव चित्रण किया गया है । ग्राम्य जीवन अपनी सरलता तथा स्वाभाविकता के साथ इन सुन्दर गाथाओं में झांक रहा है ।

रन्धनकर्मनिपुणिके मा क्रुध्यस्व रक्तपाटलसुगन्धम् ।
मुखमारुतं पिबन् धूमायते शिखी न प्रज्वलति ॥

हे भोजन-कर्म में निपुण सुन्दरी, आग के न जलने पर क्रोध मत करो। तुम्हारे लाल सुन्दर मुँह से जो हवा निकलती है उसे पीकर आग धुँआ दे रहा है, जलता नहीं। यदि वह जल उठेगा तो तुम्हारे मुँह की सुगन्धित हवा उसे कहाँ मिलेगी ?

जयदेव

राजा लक्ष्मणसेन की सभा में वे भी महाकवि रहते थे जिनकी लेखनी ने 'गीतगोविन्द' जैसे अमर काव्य की सृष्टि की है। ये महाकवि जयदेव हैं जो बंगाल के केन्दुबिल्व नामक स्थान के निवासी थे। आज 'केन्दुली' में हजारों वैष्णव साधुजन एकत्र होकर इस महाकवि के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। भक्तों ने इनकी लोकातीत जीवनी का संरक्षण -चरितों में बड़ी तत्परता के साथ किया है। इनका जीवन आनन्दकन्द ब्रजचन्द की दिव्य भक्ति में पगे हुए भक्त का जीवन था। इनका जीवन एक ही रस से बाहर-भीतर ओत-प्रोत था और वह रस था भक्तिरस।

इनके 'गीतगोविन्द' में १२ सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग गीतों से ही समन्वित है। सर्गों को परस्पर मिलाने के लिए तथा कथा के सूत्र को बतलाने के लिए कतिपय वर्णनात्मक पद्य भी हैं। 'गीतगोविन्द' भगवती संस्कृतभारती के सौन्दर्य तथा माधुर्य की पराकाष्ठा है। महाकवि कालिदास की कविता में भी इस रसपेशल मधुर भाव का हमें दर्शन नहीं मिलता। इस काव्य में कोमलकान्त पदावली का सरस प्रवाह है तथा मधुर भावों का मधुमय सन्निवेश है। आनन्दकन्द व्रजचन्द तथा भगवती राधिका की ललित लीलाओं का जितना ललाम वर्णन यहाँ मिलता है, वह अन्यत्र कहाँ देखने को मिलता है। शब्दमाधुर्य के लिए 'ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे' वाली अष्टपदी का पठन-मात्र पर्याप्त होगा।

भावों को सौष्ठव भी उतना ही हृदयावर्जक है। विरहिणी राधिका के वर्णन में कवि की यह उक्ति कितनी अनूठी है। राधा के दोनों नेत्रों से आँसुओं की धारा झर रही है। जान पड़ता है विकट राहु के दाँतों के गड़ जाने से चन्द्रमा से अमृत की धारा बह रही है :—

वहति च वलित-विलोचन-जलभर-मानन-कमलमुदारम्।
विधुमिव विकट विधुन्तुद-दन्त-दलन-गलितामृतधारम्॥

उपमा की कल्पना तथा उत्प्रेक्षा की उड़ान में यह काव्य अनूठा तो है ही, परन्तु इसकी सबसे बड़ी विशिष्टता है प्रेम की उदात्त भावना। राधाकृष्ण के प्रेम की निर्मलता तथा आध्यात्मिकता सुन्दर शब्दों में यहाँ अभिव्यक्त की गई है। शृंगार-शिरोमणि कृष्ण भगवत्तत्व के प्रतिनिधि हैं और उनकी प्रेमी गोपिकायें जीव की प्रतीक हैं। राधा-कृष्ण का मिलन जीव-ब्रह्म का मिलन है। साधनामार्ग के अनेक तथ्यों का रहस्य यहाँ सुलझाया गया है। अर्थ की माधुरी के लिए इस पद्य का पर्यालोचन पर्याप्त होगा—

दृशौ तव मदालसे वदनमिन्दुसदीपकं
गतिर्जनमनोरमा विजितरम्भमूरुद्वयम्।
रतिस्तव कलावती रुचिर-चित्रलेखे भ्रुवा—
वहो विबुधयौवतं वहसि तन्वि! पृथ्वीगता॥

३

स्तोत्र साहित्य

संस्कृत का स्तोत्रसाहित्य बड़ा ही विशाल, सरस तथा हृदयस्पर्शी है। प्रत्येक धर्म में भक्त अपने हृदय की बातें भगवान् के सामने प्रकट करने तथा उनकी महिमा के वर्णन में अपने कोमल तथा भक्ति-पूरित

हृदय को अभिव्यक्त करता है परन्तु हमारे भक्तों ने अपने हृदय की जितनी दीनता, कोमलता, भगवान् की उदारता का परिचय दिया है वह सचमुच उपमाहीन है। हमारे भक्त-कवि कभी भगवान् की दिव्य विभूतियों के दर्शन से चकित हो उठता है तो कभी भगवान् के विशाल-हृदय असीम अनुकम्पा और दीनजनों पर अकारण स्नेह की कथा गाता हुआ आत्मविस्मृत हो उठता है। अपने पूर्व कर्मों की ओर जब वह दृष्टि डालता है तब उसकी क्षुद्रता उसे बेचैन बना डालती है। बच्चा जिस प्रकार अपनी माता के पास मन-चाही प्यारी वस्तु के न मिलने पर कभी रोता है, कभी हँसता है, आत्म-विश्वास की मस्ती में वह कभी नाच उठता है। ठीक यही दशा हमारे भक्त-कवियों की है। वे अपने इष्ट देवता के सामने अपने हृदय के खोलने में किसी प्रकार की आनाकानी नहीं करते। वे अपने हृदय की दीनता तथा दयनीयता कोमल शब्दों में प्रकट कर सच्ची भावुकता का परिचय देते हैं। इन्हीं गुणों के कारण इन भक्तों के द्वारा विरचित स्तोत्रों में बड़ी मोहकता है, चित्त को पिघला देने की भारी शक्ति है। संगीत का पुट मिल जाने पर इनका प्रभाव बहुत ही अधिक बढ़ जाता है।

इस विशाल स्तोत्र साहित्य के यथार्थ वर्णन के लिए स्वतंत्र ग्रन्थ की आवश्यकता है। यहाँ कतिपय प्रसिद्ध स्तोत्रों का ही परिचय प्रदान किया जायेगा।

शिवमहिम्नः स्तोत्र

'शिव महिम्न' भगवान् शंकर के स्तोत्रों में इस स्तोत्र का प्रमुख स्थान है। इसके रचयिता कोई पुष्पदन्त आचार्य हैं। परन्तु उनके व्यक्तित्व से हम परिचित नहीं हैं। राजशेखर ने इसका एक पद्य अपनी काव्यमीमांसा में उद्धृत किया है जिससे इसका समय दशम शतक से पूर्व होना सिद्ध है। यह स्तोत्र सुन्दर शिखरिणी वृत्तों में लिखा गया

है और सचमुच बड़ा भावपूर्ण है। इसके अनेक पद्यों में दार्शनिक भाव भरे हुए हैं। साहित्यिक दृष्टि से इस स्तोत्र की सुन्दरता नितान्त मनोरंजक है। भगवान् शंकर की स्तुति में कवि कह रहा है :—

असितगिरि समं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम्
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥

नीलगिरि के समान यदि काली स्याही हो, समुद्र दावात हो, कल्पवृक्ष की डाल लेखनी हो, यह विशाल पृथ्वी कागज हो—इन उपकरणों से युक्त होकर यदि भगवती सरस्वती सदा आपके गुणों को लिखे, तो भी हे भगवान्! वह आपके गुणों के अन्त तक नहीं पहुँच सकती।

मयूरभट्ट

ये काशी के पूरब के ही कवि थे। गोरखपुर जिले के कुछ प्रतिष्ठित ब्राह्मण लोग अपने को मयूरभट्ट की सन्तान मानते हैं। महाकवि वाणभट्ट के ये सगे सम्बन्धी थे। वाण के समान ही मयूरभट्ट की प्रतिष्ठा श्रीहर्ष के दरबार में थी। सुनते हैं कि किसी कारणवश इन्हें कुष्ठरोग हो गया था जिसके निवारणार्थ उन्होंने सूर्य भगवान् की सुन्दर स्तुति लिखी मयूर का 'सूर्य-शतक' स्रग्धरा वृत्त में लिखा गया नितान्त प्रौढ़ काव्य है। स्रग्धरा वृत्त में लिखे गये काव्यों में यही प्रथम काव्य है संस्कृत भाषा के ऊपर कवि की प्रभुता बहुत ही अधिक है। झनझनाते हुए अनुप्रासों की मधुर ध्वनि सहृदयों के हृदय का आवर्जन करती है। कवि सूर्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों और साधनों (जैसे रथ, घोड़े इत्यादि) के वर्णन में पूर्णरूप से सफल है। मयूर मुख्यतया 'शब्द कवि' हैं। नोंकझोंक के शब्दों के रखने में ये बेजोड़ हैं।

बाणभट्ट

बाणभट्ट मयूरभट्ट के समकालीन ही न थे, प्रत्युत उनके सगे-सम्बन्धी भी थे। उनकी कीर्त्ति गद्य-काव्य के रचयिता के रूप में ही विशाल है। गीति-काव्य के निर्माता के रूप में वे कम प्रसिद्ध हैं। उनका 'चण्डीशतक' भगवती दुर्गा की स्रग्धरा वृत्त में बड़ी ही प्रशस्त स्तुति हैं। यदि बाण महाकाव्य के लिखने के लिए उद्यत होते, तो इस क्षेत्र में भी उन्हें कम सफलता प्राप्त नहीं हुई होती। पर इधर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। चण्डीशतक में बाण की उस परिचित शैली का चमत्कार हम पाते हैं—लम्बे-लम्बे समास, नोंकझोंक के शब्द, कानों में झनकार करने वाले अनुप्रास, ऊँची उत्प्रेक्षा। भोजराज ने सरस्वती कण्ठाभरण में चण्डीशतक का यह प्रशस्त दृष्टान्त के रूप में दिया है :—

निद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी ॥

शङ्कराचार्य

बाण-मयूर के लगभग पचास वर्ष के भीतर ही धार्मिक क्षेत्र को उद्भासित करने वाले एक महान् पुरुष का जन्म हुआ। इनका नाम था आचार्य शङ्कर। ये भगवान् की एक दिव्य विभूति थे जिनकी कीर्त्ति-कौमुदी आज भी उसी प्रशान्तरूप से समस्त जगत् को प्रद्योतित कर रही है। दार्शनिक जगत् में उन्होंने अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा की। परमार्थ-दृष्टि से वे अद्वैत के तथा मायावाद के परम प्रतिष्ठापक हैं। परन्तु व्यवहार-जगत् में नाना देवताओं की उपासना उन्हें अभीष्ट है। सगुण

ब्रह्म की उपासना हमें निर्गुण ब्रह्म तक पहुँचाने के लिए आवश्यक साधन है। इसीलिए शङ्कराचार्य ने उपास्य ब्रह्म के प्रतिनिधिभूत विष्णु, शिव, गणपति, शक्ति, हनुमान् आदि नाना देवी-देवताओं की परम रमणीय स्तुतियाँ लिखी हैं। इन स्तोत्रों की संख्या बहुत ही अधिक है। इन सब को आदिशङ्कराचार्य की रचना मानना उचित नहीं है, परन्तु इनमें से अनेक प्रसिद्ध स्तोत्र आचार्य की ललित लेखनी के प्रसाद हैं।

शङ्कराचार्य की काव्यकला बड़े ही ऊँचे दर्जे की है। उसे हम अन्तः-प्रेरणा का, प्रशस्त प्रतिभा का, मधुमय फल समझते हैं। शङ्कर की कविता निःसन्देह रसभाव-निरन्तरा है, आनन्द का अक्षय स्रोत है, उज्ज्वल अर्थ रत्नों की मनोरम पेटिका है, कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान है। उनके स्तोत्र हमारे स्तोत्रसाहित्य के शृङ्गार हैं। उनमें संगीत की इतनी माधुरी है कि श्रोताओं का हृदय उनकी ओर हठात् आकृष्ट हो जाता है। 'भज गोविन्दम्'— केवल इसी स्तोत्र का पाठ इस कथन को प्रमाणित सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है—

भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते।
प्राप्ते सन्निहिते तव मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ्करणे॥
बालस्तावत् क्रीडासक्तः, तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः, पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते।

—की स्वरलहरी जब हमारे कर्णकुहरों में अमृतरस बरसाने लगती है तब जान पड़ता है हम इस क्लेशबहुल जगत् से ऊँचे उठकर किसी आनन्दमय दिव्य लोक में जा विराजते हैं। आचार्य की कविता का परम सौन्दर्य एकत्र देखने के लिए 'सौन्दर्य-लहरी' का अध्ययन पर्याप्त होगा। भगवती त्रिपुर-सुन्दरी के दिव्य सौन्दर्य की छटा इस लहरी में जितनी प्रस्फुटित हुई है उतनी अन्यत्र शायद ही हो। भाषा तथा भाव, रस

तथा अलंकार, साहित्य तथा तन्त्र—किसी भी दृष्टि से इस लहरी का अनुशीलन किया गया, इसकी अलौकिकता पद पद पर प्रमाणित होती है। इसमें सिर से लेकर पैर तक भगवती के अंग-प्रत्यंग की शोभा का सुचारु वर्णन हम पाते हैं। आरम्भ के चालीस पद्यों में हम तन्त्रशास्त्र के गम्भीर रहस्यों का परिचय पाते हैं। साहित्य सौन्दर्य तथा तान्त्रिक गूढ़ता—उभयरूप में यह स्तोत्र अपनी समता नहीं रखता। भगवती कामाक्षी के सीमन्त तथा सिन्दूर रेखा का यह वर्णन साहित्य संसार के लिए वस्तुतः एक नई वस्तु है, कल्पना की कमनीयता का एक अभिराम उदाहरण है:—

तनोतु क्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्यलहरी—
परीवाहः स्रोतः सरणिरिव सीमन्तसरणी।
वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकवरीभारतिमिर—
द्विषां वृन्दैर्बन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम्॥

कुलशेखर

कुलशेखर का मुकुन्दमाला स्तोत्र तथा यामुनाचार्य का आलबन्दार स्तोत्र श्रीवैष्णव मत के स्तोत्रों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। कुलशेखर त्रिवांकुर राज्य के प्राचीन राजा माने जाते हैं जिनका आविर्भाव दशम शतक में हुआ। ये वैष्णवधर्म के सुप्रसिद्ध आलवारों में अन्यतम माने जाते हैं। इनका मुकुन्दमाला स्तोत्र वैष्णव स्तोत्र का मुकुट-मणि हैं। कवि कभी अपनी दीन-हीन दशा का वर्णन करते आत्मविस्मृत हो जाता है, तो कभी वह भगवान् विराट् रूप के दर्शन से चमत्कृत हो उठता है। इनके श्लोक संख्या में केवल ३४ ही हैं, परन्तु इनमें हृदय को आवर्जन करने की विचित्र शक्ति है।

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरित-शारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

"मेरा निवास इस भूतल पर हो, या स्वर्ग में हो। हे नरक को दूर भगाने वाले भगवन्! चाहे मेरी स्थिति नरक में ही क्यों न हो? आप के शरद् ऋतु में खिले कमलों की शोभा को तिरस्कृत करने वाले चरणों को मैं मरण में भी सदा स्मरण किया करता हूँ।"

यामुनाचार्य

श्रीवैष्णवमत के प्रतिष्ठापक रामानुजाचार्य के परमगुरु थे। इनका समय ईसा की दसवीं शताब्दी है। दक्षिण भारत ही इनके धार्मिक उपदेशों का प्रधान क्षेत्र था। इनका तामिल नाम 'आल-वन्दार' था और इसी कारण इनका परमरम्य स्तोत्र 'आलवन्दार स्तोत्र' के नाम से विख्यात है, यद्यपि आन्तरिक सुषमा के कारण भक्तजन इसे 'स्तोत्ररत्न' नाम से पुकारते आते हैं। कवि ने अपना भक्तिभावित हृदय भगवान् के सामने इतनी दीनता-भरे शब्दों में प्रकट किया है कि पाठकों का चित्त इसे पढ़ गद्गद हो जाता है। प्रपत्ति का भाव इसमें बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया गया है।

तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति ।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते ॥

हे भगवन्, मेरा चित्त आपके अमृतरस चुलाने वाले पद-पद्मों में रम गया है, भला अब वह किसी दूसरी चीज को क्योंकर चाहेगा? पुष्परस से भरे हुए कमल के विद्यमान रहने पर क्या भौंरा ईख के रस को कभी देखता है? उसे चखने की तनिक भी अभिलाषा क्या उसके हृदय में उठती है?

लीलाशुक

लीलाशुक का 'कृष्णकर्णामृत' चैतन्य महाप्रभु का परम प्रिय स्तोत्र बतलाया जाता है। प्रसिद्धि है कि महाप्रभु दक्षिण देश से यह स्तोत्र लाये थे। यह स्तोत्र सचमुच भक्तों के कान में अमृतरस डालता है।

भाव जितने सुन्दर तथा चमत्कारी हैं भाषा उतनी रसपेशल तथा मधुर है:—

मुग्धं स्निग्धं मधुरमुरलीमाधुरीधीरनादैः
कारं कारं करणविवशं गोकुल-व्याकुलत्वम् ।
श्यामं कामं युवजनमनोमोहनं मोहनाङ्गं
चित्ते नित्यं निवसतु महो वल्लवीवल्लभं नः ॥

वेंकटाध्वरि

वेंकटाध्वरि मद्रास प्रान्त के निवासी श्रीवैष्णव थे। इन्होंने अपने 'विश्वगुणा-दर्श चम्पू'में मद्रासमें अंग्रेजों के रहने तथा उनके दुराचार का वर्णन किया है जिससे इनका स्थितिकाल १७ वीं शताब्दी का मध्यभाग निश्चित होता है। इनका कीर्ति-स्तम्भ 'लक्ष्मी-सहस्र' है जिसे कवि ने एक ही रातभर में बनाकर अपनी अद्भुत रचना-चातुरी का परिचय दिया है। इन स्तोत्ररत्न में भगवती लक्ष्मी की स्तुति पूरे एक हजार पद्यों में की गई। सैकड़ों श्लोक तो लक्ष्मी के ललित अंग के वर्णन में लिखे गये हैं। इस काव्य में अलंकारों की छटा सुतरां अवलोकनीय है। वेंकटाध्वरि मुख्यतः शब्द-कवि हैं। श्लेष लिखने में ये बेजोड़ हैं। इनका हृदय भक्तिभावना से नितान्त आप्यायित है, परन्तु उनके पण्डित्य का प्रकर्ष कम नहीं है। कभी वे भगवती से दया की भिक्षा माँगते हैं, तो कभी वे उनकी विरुदावलि गाने में व्यस्त हो जाते हैं। कभी उनकी दृष्टि लक्ष्मी जी के अंगों के सौन्दर्य पर गड़ जाती है, तो कभी उनके श्रवण भगवती के गुणों के सुनने में लग जाते हैं। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसमें अलौकिक प्रतिभा, नित्यनूतन उत्प्रेक्षा, कमनीय रचना-चातुरी का परिचय दिया है। संस्कृतभाषा में यह रसपेशल तथा उत्प्रेक्षामण्डित काव्य लिखकर वेंकटाध्वरि सचमुच अमर हो गये हैं। भगवती लक्ष्मी की कटि का यह वर्णन कल्पना में एकदम बेजोड़ है:—

परमादिषु मातरादिमं यदिमं कोषकृताह मध्यमम् ।
अमरः किल पामरस्ततः स बभूव स्वयमेव मध्यमः ॥

हे मातः, आप जगत् की जननी हैं। आपकी कटि इस सृष्टि के आदि में विद्यमान व्यक्तियों में आदिम है—प्रथम है। भगवती सृष्टि की विधायिका ठहरीं। उनकी कटि सबसे आदि वस्तु है। ऐसे उत्तम वस्तु को अमर नामक कोप रचयिता ने मध्यम (नीच) बतलाया है। 'कटि' का पर्याय 'मध्य' या मध्यम है। 'मध्यमं चावलग्नं च मध्योऽस्त्री' इत्यमरः। इस अनुचित कथन की सजा उसे खूब मिली। वह तो ठहरा अमर-श्रेष्ठ देवता, पर इसी अपराध के कारण वह बन गया पामर, नीच तथा मध्यम, मध्यलोक का निवासी मनुष्य। देवता का मर्त्यलोक में जन्मना महान् दण्ड है। अब इसके श्लिष्ट अर्थ पर विचार कीजिए। 'परम' का अर्थ है—पर है मकार जिनमें अर्थात् मकारान्त शब्द। 'आदि-म' का अर्थ है—आदि में 'म' वाले शब्द तथा इसी रीति से 'मध्य-म' से तात्पर्य मध्य में मकार वाले शब्दों से है। लक्ष्मी जी का मध्यम अन्तिम मकार वाले शब्दों में आदि मकारवाला है, परन्तु फिर भी कोपकार उसे मध्य मकार वाला बतलाता है। इस उल्टी बात का फल यह हुआ कि वह स्वयं मध्यम-मध्य मकार वाला—बन गया। 'अमर' के बीच में मकार है। अतः बुरे कथन का फल उसे ही मिला। वह स्वयं मध्यम बन गया। यहाँ प्रसन्न श्लेप की छटा सुतरां विलोकनीय है। प्रतिभा के साथ पाण्डित्य का मेल नितान्त सुन्दर है।

वैष्णव स्तोत्र

भगवान विष्णु के रूप-वर्णन में अनेक कवियों ने अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया है। 'विष्णु-पादादि केशान्त वर्णन स्तोत्र'[१]

[१-२] १-२, काव्यमाला गुच्छक २ में प्रकाशित।

५१ स्रग्धरा पद्योंमें बड़ी ही कमनीय भाषा में विष्णु के पैर से लेकर केश तक समग्र अंगों का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत करता है। कविता नितान्त प्रौढ़ तथा कल्पना-मंडित है। इसके कर्ता शंकराचार्य माने जाते हैं; परन्तु ये आद्य शंकराचार्य हैं या अन्य कोई पीठाध्यक्ष ? इसका यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। मधुसूदन सरस्वती (१६ शतक) के 'आनन्दमन्दाकिनी' नामक स्तोत्र का भी यही विषय है—विष्णु के स्वरूप का नितान्त स्निग्ध वर्णन। मधुसूदन सरस्वती प्रसिद्ध अद्वैतवादी होने पर भी बड़े भारी भावुक कवि थे। उन्होंने भक्ति के स्वरूप विवेचन के निमित्त 'भक्ति रसायन' जैसे शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन किया है उसी प्रकार कृष्ण की स्तुति में भी विशेप कविता लिखी है। आनन्दमन्दाकिनी (१०२ पद्य) की कविता बड़ी कोमल, रससे स्निग्ध तथा माधुर्य से मंडित है जिसमें भक्ति-रस से पेशल कवि-हृदय की पूर्ण अभिव्यक्ति हो रही है। माधव भट्ट का दानलीला[1] काव्य कृष्ण और गोपियों के एक विशेष लीला के आधार पर लिखा गया लघु काव्य है। माधव भट्ट कर्णाटक देश के निवासी थे। ४८ पद्यों में कृष्ण की दानलीला का विशेष वर्णन रोचक भाषा में यहाँ किया गया है। रचना काल १६२८ संवत् (१५७१ ई०) है। इससे एक शतक पीछे अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ का समय आता है।

शैवदर्शन के महनीय आचार्य अप्पयदीक्षित की रचना होने पर भी काञ्ची के भगवान् वरदराज की यह स्तुति 'वरदराजस्तव' अपनी मञ्जुल भावना तथा उदात्त दार्शनिक विचारों के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। श्री वेदान्त देशिक ने भी वरदराज की स्तुति लिखी है और इसी स्तुति से अप्पय दीक्षित की कृति प्रभावित तथा उत्साहित प्रतीत होती है। १०६ सुन्दर श्लोकों में भगवान् के रूप का वर्णन बड़ी ही कमनीय

---

[1] काव्यमाला गुच्छक ३ में प्रकाशित।

भाषा में किया गया है। इससे स्पष्ट है कि दीक्षित जी नितान्त उदात्त भक्त तथा दार्शनिक थे[1]।

पण्डितराज जगन्नाथ

अपने समय के बड़े ही उच्चकोटि के विद्वान तथा सरस कवि थे। काशी-निवासी पेद्द भट्ट के पुत्र थे तथा जात्या आंध्र ब्राह्मण थे। तत्कालीन दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ के निमंत्रण पर उनके ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाने के लिये दिल्ली गये। उनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर शाहजहाँ ने इन्हें पण्डितराज की उपाधि से विभूषित किया। इन्होंने अपना परिचय देते हुए दिल्लीपति के द्वारा आश्रय पाने की घटना का स्पष्ट उल्लेख किया है। युवावस्था में दिल्ली के बादशाह के आश्रय में अपना जीवन बिताया और वृद्धावस्था में मथुरा में निवास किया[2]।

पण्डितराज परम वैष्णव थे। इसका परिचय वृद्धावस्था में मथुरा-निवास के अतिरिक्त उनकी भक्तिमयी कविताओं से भी विशेष रूप से मिलता है। अपने चंचल चित्त को उपदेश देते समय पण्डितराज की यह उक्ति उनके वैष्णवत्व का पर्याप्त सूचक है।

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया।

---

[1] ग्रन्थकार की टीका के साथ प्रकाशित श्रीरंगम, १९२७

[2] भामिनी विलास—

शास्त्राण्याकलितानि नित्यविधयः सर्वेऽपि संभाविताः
दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः ॥
सम्प्रत्युज्झितमासनं, मधुपुरी-मध्ये हरिः सेव्यते,
सर्वं पण्डितराजराजितिलकेनाकारि लोकाधिकम् ॥

सौन्दर्यद्भुतमुद्गिरद्भिरभितः संमोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभाँश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति ॥

(भामिनीविलास, ४ था उ०)

अर्थात् रे चित्त, मैं तेरे हित की बात कहता हूँ, ज़रा ध्यान देना, कभी भूल कर भी वृन्दावन में गायों को चराने वाले नवनील मेघ के समान शरीर वाले से मित्रता न करना ; नहीं तो बड़ी हानि होगी, वह बड़ा चालाक मनुष्य है। अपनी मधुर मुसुकराहट से तुम्हें मुग्ध कर तुम्हारे प्यारे विषयों का क्षण भर में नाश कर देगा। ज़रा सँभल कर रहना। कितना भक्तिरस पूर्ण मार्मिक उपदेश है।

पण्डितराज स्वयं अच्छे आलोचक थे। प्राचीन शास्त्रकारों के विषय में बड़ी श्रद्धा रखते थे। काव्यप्रकाशकार मम्मट के अनेक सिद्धान्तों का उन्होंने खण्डन किया है परन्तु शिष्टभाषा में, स्थान स्थान पर उन्हें 'सहृदयशिरोमणि' कहा है। परन्तु समकालीन अनेक विद्वानों के साथ आपकी अनबन थी, खासकर भट्टोजि दीक्षित और अप्पय दीक्षित से। सिद्धान्त कौमुदी, मनोरमा आदि ग्रन्थों के कर्ता भट्टोजि दीक्षित से अनबन का कारण यह था कि दीक्षितजी ने इनके गुरु वीरेश्वर रचित प्रक्रिया-कौमुदी की टीका, 'प्रक्रिया-प्रकाश' का खण्डन अपनी मनोरमा में किया है। अतएव जगन्नाथ ने गुरुभक्ति का अगाध परिचय देते हुए 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक ग्रन्थ में दीक्षित की 'मनोरमा' का खण्डन किया है। इसके आरम्भ में आपने लिखा है—

नामं नामं घनश्यामं धाम तामरसेक्षणम्
पण्डितेन्द्रो जगन्नाथः स्यति गर्वं गुरुद्रुहाम् ।

कमल-नयन तथा नील मेघ के समान तेज को प्रणाम कर पण्डितराज जगन्नाथ गुरुद्रोहियों का अभिमान चूर्ण करते हैं। इस ग्रन्थ से आपका व्याकरण में अगाध पाण्डित्य प्रदर्शित होता है।

अप्पय दीक्षित से भी बड़ी अनबन थी। कारण कुछ जातिगत वैमनस्य कहा जाता है। दीक्षितजी कांची के अलौकिक दार्शनिक तथा प्रतिभाशाली कवि थे। आपने 'कुवलयानन्द' तथा 'चित्रमीमांसा नामक अलंकार ग्रन्थों की रचना की है। इनका खण्डन रसगंगाधर में खूब किया गया है। 'चित्रमीमांसा' के खण्डन में 'चित्रमीमांसा खण्डम' नामक पुस्तक जगन्नाथ ने बनाई है।

संस्कृत साहित्य में पण्डितराज अपनी अभिमान भरी गर्वोक्तियों के लिये भी खूब प्रसिद्ध हैं। भवभूति तथा श्रीहर्ष के समान इनमें आत्माभिमान की मात्रा अधिक थी। एक पद्य में इनकी साभिमान घोषणा है कि साक्षात् सरस्वती वीणा बजाने में आदर कम करके जिसके वचनों के अमृतमय रस को पीती है उसी पण्डितराज के श्रवण-सुभग वचन को सुनकर दो ही सिर नहीं हिलाते—एक नरपशु (पशु तुल्य मनुष्य) और दूसरा साक्षात् पशुपति (शिव)। मनुष्यत्वयुक्त किसको वह वाणी नहीं भाती ?

पण्डितराज जगन्नाथ रसमयी पद्धति के अन्तिम कवि प्रतीत होते हैं। काव्य लिखने में इनकी प्रतिभा अलौकिक थी। इसकी शैली प्रसादमयी तथा कल्पना की उड़ान नितान्त ऊँची थी। भगवान की स्तुति में इन्होंने अपने कोमल भावपूर्ण हृदय का परिचय दिया है। भाव बड़े कोमल तथा रुचिर हैं। मुगल दरबार में आदरपूर्वक रहने पर भी इनकी कविता दरबारी नहीं है। 'जगदाभरण' काव्य में दाराशिकोह का, 'आशफ विलास' (गद्य काव्य) में नवाब आसफ खाँ का तथा 'प्राणाभरण' काव्य में कामरूप के राजा प्राणनारायण का वर्णन अवश्य इन्होंने किया है। परन्तु देव-विषयक प्रशस्तियों के लिखने के विषय में इनका हृदय विशेष रमता था। कवित्व के साथ पाण्डित्य का मंजुल संमिलन इनके काव्यों में विशेष मिलता है। कविता लिखने की विशेष शक्ति इतनी थी कि इन्होंने रसगंगाधर में अलंकारों तथा रसों के

उदाहरण के लिये अपने नये श्लोक बनाये हैं, किसी प्राचीन उदाहरण को उच्छिष्ट समझकर छूना भी इन्होंने उचित नहीं समझा।

इनके काव्यग्रन्थों में पाँच लहरियों का स्थान मुख्य है। इन लहरियों के नाम ये हैं—(१) करुणा लहरी, जिसमें भगवान् की दया की प्रार्थना की गई है। (२) गंगा लहरी या पियूष लहरी (गंगा की स्तुति) (३) अमृत लहरी (यमुना की स्तुति)। (४) लक्ष्मी लहरी (लक्ष्मीजी की स्तुति)। (५) सुधा लहरी (सूर्यस्तुति)। इनके स्फुट पद्यों का संग्रह 'भामिनी विलास' में किया गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ की कविता में स्वाभाविक प्रवाह है, पदों की मनोरम शय्या है तथा कल्पना का अभिराम चमत्कार है। भगवान् कृष्ण के चरणारविन्द में उनकी गाढ़ भक्ति थी। इसी कारण उनके काव्य भक्तिरस से नितान्त स्निग्ध हैं। हम उनके काव्य को 'द्राक्षापाक' का सुन्दर उदाहरण मानते हैं। कालिन्दी के किनारे गोपियों के संग में विहार करने वाले व्रजचन्द्र श्रीकृष्ण की सुषमा बड़े ही सुन्दर शब्दों में चित्रित की गई है—

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा–
भभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम्।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमति-चुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी॥

अयि गर्तमुखे गतः शिशुः
पथिकेनापि निवार्यते जवात्।
जनकेन पतन्भवार्णवे
न निवार्यो भवता कथं विभो॥

यदि बालक गड्ढे के मुख में गिरने जा रहा हो, तो उदासीन पथिक भी उसे वेग से रोक देता है, परन्तु हे जगत्पिता परमेश्वर, मेरे आप

जनक हैं। मैं इस संसाररूपी अगाध पारावार में गिर रहा हूँ, भला आप मुझे क्यों न बचावेंगे ? पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध का विषयतारतम्य कितना समुचित है।

विहाय संसारमहामरुस्थली-
मलीकदेहादिमिलन्मरीचिकाम्
मनोमृगो मे करुणामृताम्बुधे !
विगाढुमीश त्वयि गाढमीहते।

हे करुणासुधासागर ! मेरा मनरूपी मृग असत्य देहादि मरीचिका वाले संसाररूपी मरुस्थली को छोड़ कर तुझ में स्नान करना चाहता है। मेरा मन अच्छी तरह समझ गया कि संसारमरीचिका से इसकी गाढ तृष्णा नहीं बुझ सकती। रूपकालंकार की सुन्दर छटा, करुण रस का स्वाद तथा प्रसादगुण की विशालता सर्वथा अवलोकनीय है।

शैव स्तोत्र

उत्पलदेव—भगवान शंकर की स्तुति अनेक कवियों ने बड़ी मार्मिकता से लिखी है। काश्मीर शैव दर्शन का अपना विशिष्ट क्षेत्र है। अतः जिस प्रकार वहाँ के कवियों ने शिवचरित्र का आलम्बन कर विशिष्ट प्रबन्ध काव्यों का निर्माण किया है उसी प्रकार सुन्दर शैव स्तोत्रों की रचना कर उन्होंने अपने प्रौढ़ भक्तिभाव का परिचय दिया है। ऐसे स्तोत्रों में उत्पलदेव की 'शिव स्तोत्रावली'[1] तथा जगद्धरभट्ट की स्तुति 'कुसुमाञ्जलि' नितान्त प्रसिद्ध है। काश्मीरी शैवों में इन स्तोत्रों की वही प्रतिष्ठा है, वही आदर है जो वैष्णव में पूर्वोक्त स्तोत्रों को प्राप्त है। उत्पलदेव त्रिकदर्शन के आचार्यों में अन्यतम हैं। त्रिक-दर्शन की इन्होंने अपने ग्रन्थों से पर्याप्त प्रतिष्ठा की। इनका समय नवम शताब्दी है। इनकी शिवस्तोत्रावली में २१ विभिन्न स्तोत्रों का

---

[1] चौखम्भा सं० सीरीज काशी से प्रकाशित। संवत् १९५९

संग्रह है। इन सबका एक ही विषय है—भगवान् शङ्कर के अनन्त गुणों का वर्णन,तथा उनके कमनीय रूप की मधुर झाँकी। इन पद्यों के भाव बड़े ही उच्च कोटि के हैं। भगवान् शंकर से सम्पर्क रखने वाली छोटी से छोटी चीज़ हमारे भक्तकवि को प्यारी है, परन्तु उनके सम्बन्ध से रहित प्रशस्त वस्तु भी उन्हें रुचिर नहीं लगती :—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते॥

हे भगवन्, आपके कण्ठ के कोने में रखा गया कालकूट भी मेरे लिए महान् अमृत के समान पोषक तथा संजीवक है। परन्तु यदि आपके शरीर से पृथक् होकर रहने वाला अमृत भी हो, तो वह मुझे नहीं रुचता। भक्तकवि की भावुकता कितने स्पष्ट अक्षरों में अभिव्यक्त हुई है।

जगद्धर भट्ट—

जगद्धर भट्ट ने ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय दिया है। उससे पता चलता है कि इनके पितामह का नाम गौरधर था जो तत्कालीन विद्वन्मंडली में अग्रणी तथा यजुर्वेद के 'वेदविलास' नामक भाष्य के रचयिता थे। इनके पिता रत्नधर कवि तथा शिवभक्त थे। इन्होंने अपने पुत्र यशोधर के लिये बालबोधिनी नामक कातंत्र व्याकरण की एक वृत्ति लिखी थी जिसके ऊपर राजानक शितिकण्ठ ने संस्कृत में टीका लिखी है। ये भी काश्मीर के अन्तर्गत पद्मपुर के निवासी थे तथा जगद्धर के दौहित्र की दौहित्री के पुत्र थे। इस व्याख्या की रचना शितिकण्ठ ने काश्मीर के बादशाह हसनशाह (१४७२–८४ई०) के राज्यकाल में लिखी थी। इस प्रकार जगद्धर शितिकण्ठ से पूर्व छठी पीढ़ी में वर्तमान थे। अतः जगद्धर का समय सौ-सवा वर्ष पूर्व १३५० ई० के आसपास मानना अनुमान सिद्ध है।

स्तुति -कुसुमांजलि[1] में ३८ स्तोत्र हैं तथा श्लोकों की संख्या १४२५ है। जगद्धर भगवान शंकर के अनन्य उपासक थे। इनका अन्तःकरण बाल्यावस्था से ही सदाशिव की आराधना की ओर झुका हुआ था। इस कारण सुधासहोदर शम्भुस्तवन को छोड़कर अन्य कोई ग्रन्थ लिखने की ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं हुई। इसलिये वेणीसंहार और मालतीमाधव के टीकाकार जगद्धर इनसे नितान्त भिन्न ही हैं। स्तुतिकुसुमांजलि में कवि ने ऐसे प्रभावोत्पादक और हृदयद्रावक ढंग से शंकर को आत्मनिवेदन किया है कि कठिन-हृदय व्यक्तियों का भी चित्त भक्तिभाव से आर्द्र हो जाता है। विशेषकर सप्तम, अष्टम तथा नवम स्तोत्रों में कवि ने करुण रस का परिपाक बड़े सुन्दर ढंग से किया है। इस काव्य में हृदयपक्ष के साथ कलापक्ष का भी पूर्ण सामञ्जस्य है। श्लेष तथा यमक लिखने में जगद्धर विशेष चतुर तथा सिद्धहस्त कवि हैं। पण्डित जनों को लक्ष्य कर लिखी गई कविता में अलंकारों की सजावट नितान्त आवश्यक मानी जाती थी। फलतः इस काव्य में भी अलंकारों की छटा विशेष हृदयावर्जक है। जगद्धर ने त्रिकदर्शन के सिद्धान्तों का प्रसंगतः वर्णन बड़ी मार्मिकता से किया है परन्तु 'शिवस्तोत्रावली' की वह इस विषयों में समता नहीं पा सकता। त्रिकदर्शन के मान्य आचार्य की कृति होने से स्तोत्रावली दार्शनिकता से ओतप्रोत है तथा त्रिकसिद्धान्तों का भाण्डार है।

चारु चन्द्रकलयोपशोभितं भोगिभिःसह गृहीतसौहृदम्।
अभ्युपेतधनकालशात्रवं, नीलकण्ठमतिकौतुकं स्तुमः ॥

यहाँ शब्दश्लेष के द्वारा कवि ने शिवरूप मयूर की लौकिक मयूरों से विलक्षणता दिखाई है। लौकिक मयूर चारुचन्द्रक (मनोहर पंख) के लय हो जाने से उपशोभित नहीं होता, परन्तु शिवरूपमयूर मनोहर

१—काव्यमाला में राजानक रत्नकण्ठ की टीका के साथ प्रकाशित ।
हिन्दी अनुवाद के साथ काशी से प्रकाशित, सम्वत १९५९

चन्द्रकला से (चारुचन्द्रकलया) उपशोभित होता है। लौकिक मयूर भोगियों (सर्पों) से मित्रता ग्रहण नहीं करता परन्तु शिव सर्पों से अत्यधिक प्रीति रखते हैं। लौकिक मयूर घनकाल (वर्षाकाल) के साथ शत्रुता नहीं रखता किन्तु शिवरूपमयूर घनकाल (कठोर काल यमराज) के साथ शत्रुता रखता है। अतः शिव अतिकौतुक नीलकण्ठ हैं। यहाँ सभंगश्लेष की शोभा विशेष रूप से दर्शनीय है।

स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यै-
स्तत्रापि नाथ तव नास्म्यवलेप पात्रम्।
दृप्तः पशुः पतति यः स्वयमन्धकूपे
नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः॥ ११।३८॥

यद्यपि मैं अपने ही कुकृत्यों से इस अधोगति को प्राप्त हुआ हूँ तथापि मैं आप जैसे करुणसागर के तिरस्कार का पात्र नहीं हूँ। यदि कोई उद्धत पशु अपनी ही उदण्डता के वश किसी अन्धकूप में गिर जाता है, तो दयालु लोग उसकी उपेक्षाकर क्या उसे वहीं छोड़ देते हैं? स्तुति कुसुमांजलि ऐसे ही भाव-सुमनों के गुच्छकों से बहुशः परिपूर्ण हैं।

नारायण पण्डिताचार्य की 'शिवस्तुति' केवल १३ पद्यों में निबद्ध एक लघु स्तुति है, परन्तु गोकुलनाथ कृत 'शिवशतक' परिमाण में तथा काव्य-सौन्दर्य में इससे कहीं अधिक बढ़कर है। गोकुलनाथ मिथिला के निवासी थे तथा आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व वहाँ विद्यमान थे। शिवशतक कविता की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर तथा रुचिर काव्य है। भाव बड़े ही कोमल तथा हृदयावर्जक हैं।

जैनस्तोत्र

ब्राह्मणों के समान जैन मतानुयायियों तथा बौद्धों ने भी सुन्दर स्तोत्रों का निर्माण किया है। इन स्तोत्रों की संख्या कम नहीं है। जैन स्तोत्र मात्रा में अधिक हैं। केवल काव्यमाला के सप्तम गुच्छक

में तेईस जन स्तोत्रों का एकत्र संकलन है जिनमें मानतुङ्गाचार्य का 'भक्तामर स्तोत्र' तथा सिद्धसेन दिवाकर का 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' भाषा के सौष्ठव तथा भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति के कारण जैनियों में नितान्त विख्यात हैं। मानतुङ्ग बाण-मयूर के समकालीन बतलाये जाते हैं और सिद्धसेन का समय उनसे भी दो शताब्दी पूर्व माना जाता है। ये दोनों स्तोत्र स्तोत्र-साहित्य के रत्न हैं और भक्त हृदय के सच्चे उद्गार हैं। कवि अपनी नम्रता दिखलाता हुआ कह रहा है कि हे जिनवर! कम पढ़े-लिखे तथा विद्वानों की हँसी के पात्र होने पर तुम्हारी भक्ति ही मुझे मुखर बनाती'है। वसन्त में कोकिल स्वयं नहीं बोलना चाहता, प्रत्युत आमकी मंजरी उसे बलात् कूजने का निमंत्रण देती है—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत् कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति तच्चारुचूतकलिका-निकरैकहेतु।

कल्याणमन्दिर स्तोत्र में केवल ४४ पद्य हैं, परन्तु काव्यदृष्टि से यह नितान्त अभिनन्दनीय है। कविता बड़ी प्रासादिक तथा नैसर्गिक है। कवि की उक्तियोंमें बड़ा चमत्कार है। कवि का कहना है कि हे जिन! आपका अलौकिक महिमा से युक्त परिचय की बात तो दूर रहे। आप का नाम ही जगत् की रक्षा करता है। निदाघ के दिनों में कमल से युक्त तालाब का सरस वायु भी तीव्र आतप से सन्तप्त बटोहियों की गर्मी दूर कर देता है। जलाशय की बात तो दूर ठहरी –

आस्तामचिन्त्य-महिमा जिन! संस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहतपान्थ-जनान् निदाघे
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि॥

श्रीवादिराज का 'एकीभाव स्तोत्र', सोमप्रभाचार्य की सूक्तिमुक्तावलि' (६९ पद्य), श्री जम्बूगुरु का 'जिनशतक' (पूरा एक शत स्रग्धरा वृत्त-

में पद्य)—आदि अनेक स्तोत्रों की रचना जैन कवियों ने की है। आचार्य 'हेमचन्द्र' ने भी भगवान् महावीरकी स्तुति में प्रौढ़ दार्शनिक स्तोत्र लिखा है जिसमें ब्राह्मण तथा बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों की संक्षिप्त मार्मिक आलोचना की गई है। इस प्रसिद्ध स्तोत्र का नाम है—अन्ययोगव्यच्छेदिका द्वात्रिंशिका काव्य। मूलग्रन्थ से भी बढ़कर प्रसिद्ध है इसकी पाण्डित्यपूर्ण टीका मल्लिषेणसूरि की 'स्याद्वादमञ्जरी।

बौद्ध स्तोत्र

बौद्धस्तोत्र

बौद्धों के महायान सम्प्रदाय में स्तोत्रों की संख्या पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। महायान 'सम्प्रदाय में शुष्क ज्ञान के स्थान पर भक्ति की प्रधानता है। भक्ति से बुद्ध के सामने फल फूल के अर्पण करने से ही निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है, यही मान्यता इस सम्प्रदाय की है। भक्ति की प्रधानता होने के कारण महायानी भिक्षुओं ने संस्कृत भाषा में सुन्दर स्तोत्रों की रचना की। शून्यवाद के प्रधान प्रतिष्ठापक आचार्य नागार्जुन के भक्तिपूरित स्तोत्र हाल में ही प्राप्त हुए हैं। उन्होंने चार स्तोत्रों का निर्माण किया था जो 'चतुःस्तव' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके अनुवाद तिब्बती भाषा में उपलब्ध हैं। सौभाग्यवश इनके दो स्तोत्र मूल संस्कृत में उपलब्ध हुए हैं जिनमें एक का नाम है—'निरौपम्यस्तवः' और दूसरे का 'अचिन्त्यस्तवः'। दोनों स्तोत्रों की भाषा सरस, चुस्त तथा भक्ति-संवलित है। जो लोग शून्य को बिल्कुल अभावात्मक मानते हैं उन्हें यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि नागार्जुन के ये स्तोत्र आस्तिकवाद के परम रमणीय उदाहरण हैं। इन पर कालिदास की छाया स्पष्ट है। उदाहरण के लिए इन श्लोकों को देखिए :—

नामयो नाशुचिः काये क्षुत्तृष्णा सम्भवो न च।
त्वया लोकानुवृत्त्यर्थं दर्शिता लौकिकी क्रिया॥
नित्यो ध्रुवः शिवः कायस्तव धर्ममयो जिनः।
विनेयजनहेतोश्च दर्शिता निर्वृत्तिस्त्वया॥

४

उपदेश काव्य

काव्य के मान्य तथा महनीय प्रयोजनों में 'कान्ता-सम्मित उपदेश' भी अन्यतम है। मनोरंजन के साथ शिक्षण, हृदयावर्जन के साथ तत्त्व का उपदेश यदि काव्य नहीं करता, तो पाठकों का वास्तव आकर्षण नहीं हो सकता। संस्कृत के कवियों ने इस काव्यतत्त्व के मर्म को खूब ही पहिचाना है और इसलिए उन्होंने उपदेशपरक अथवा नीतिविषयक काव्यों का प्रचुर प्रणयन किया है। उपदेश की भी दो शैली होती है—एक तो साक्षात् रूप से और दूसरी परोक्षरूप से। प्रथम प्रकार में हम उन नीतिग्रन्थों की चर्चा नहीं करते जिनका उद्देश्य साक्षात् रूप से शिक्षा-दान होने पर भी रमणीयार्थ प्रतिपादक न होने से जो काव्य के कोमल अभिधान से ही वञ्चित है। उपदेश-परक काव्यों का ही यहाँ समावेश हो सकता है जो पाठकों के हृदय का अनुरञ्जन अपनी कमनीयता के कारण करते हैं तथा उनके मस्तिष्क की पुष्टि अपनी सुन्दर शिक्षा के द्वारा करते हैं। द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत उन काव्यों का अन्तर्भाव होता है जिनका उद्देश्य किसी चारित्र्यगत त्रुटि अथवा दोष की मार्जना होता है, परन्तु जो अपने कार्य की सिद्धि के लिए हास्यरस का आश्रय लेते हैं अर्थात् किसी त्रुटि का, अथवा सामाजिक दोष का, वर्णन ऐसे गम्भीर हास्य के साथ करते हैं कि बात पाठकों के हृदय में चुभ जाती है, घर कर लेती है और उसके दूर करने के लिए बद्धपरिकर हुए

बिना नहीं रह सकता। ऐसे काव्य-प्रकार को अंग्रेजी में 'सेटायर' कहते हैं।

प्रथम प्रकार की बहुलता देख कर हमारी धारणा उन्हीं के अस्तित्व के प्रति बद्धमूल हो जाती है, परन्तु द्वितीय प्रकार के 'हास्यापदेशक काव्यों' का भी सर्वथा संस्कृत साहित्य में अभाव नहीं है। यह तो हम क्षेमेन्द्र के काव्यों के अनुशीलन से भली भाँति कह सकते हैं। महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपनी तीव्र निरीक्षणशक्ति के द्वारा कश्मीर के तत्कालीन समाज तथा धर्म का खूब ही गहरा अनुशीलन किया था। महाराज अनन्तदेव (११ शतक) से पूर्व का काश्मीर कायस्थों तथा नियोगियों के मिथ्याचार तथा कूटाचार का पात्र था। देश के उच्चाधिकारी के नाते कायस्थों ने जनता को कुशासन से पीस डाला था। जनता कराहने लगी थी तथा रोटी रोटी के लिए मुहताज बनी हुई अपना सच्चा रक्षक खोज रही थी। क्षेमेन्द्र ने अपनी ही खुली आँखों से जनता की दुरवस्था देखी थी और अपने ही खुले कानों से उन्होंने उनका करुणक्रन्दन सुना था। फलतः उनका सहानुभूतिमय हृदय इनसे पिघल उठा और उन्होंने जनता के सच्चे दुःखों की रामकहानी बड़ी ही मार्मिकता से अपने काव्यों में लिखी है। क्षेमेन्द्र के कलम में जोर है, अनुभव में सचाई है, लेखन शैली में तीव्रता है, कथन में ओजस्विता है और हृदय में दुःखों के बोझ से कराहनेवाली जनता के लिए सच्ची सहानुभूति है। इसीलिए क्षेमेन्द्र में इन काव्य में तीव्र हास्य के साथ साथ व्यंग्य से संपुटित अतीव मार्मिक उपदेश है।

क्षेमेन्द्र के कलम की चोट से पाठक दहल उठता है। इन्होंने दोनों प्रकार के काव्यों की रचना कर अपनी उपदेशप्रियता का परिचय दिया है। 'सेव्य सेवकोपदेश' में आदर्श स्वामी तथा आदर्श सेवक के गुणों का वर्णन किया गया है। 'चारुचर्या' में सोदाहरण उपदेशों का बड़ा ही सुन्दर संग्रह है। किसी विशिष्ट उपदेश की पुष्टि

में तत्सम्बद्ध प्रख्यात पौराणिक आख्यान का दृष्टान्त देकर उसे रोचक तथा प्रामाणिक बनाया गया है। 'चतुर्वर्ग संग्रह' में कवि पुरुषार्थ-चतुष्टय के रूप का सुन्दर विवरण प्रस्तुत करता है। 'समय मातृ क'[1] (वेश्याओं के सिद्धान्तों का प्रतिपादक मौलिक ग्रन्थ) धनी मानी जनों को वेश्याओं के जाल से वचने की शिक्षा देने के महनीय उद्देश्य से प्रेरित होकर लिखा गया है। इसके लिए दामोदर गुप्त का 'कुट्टनीमत' क्षेमेन्द्र के लिए आदर्श था। इस ग्रन्थ की रचना २५ लौकिक संवत्सर (१०५० ईस्वी) में अनन्तदेव के राज्यकाल में हुई, इसका निर्देश ग्रन्थ के अन्त में किया गया है। इस ग्रन्थ में आठ 'समय' (परिच्छेद) है जिनमें काश्मीर के 'प्रवरपुर' नगर की कलावती नाम्नी वेश्या को उसके नापितजातीय गुरु ने वेश्याओं के सिद्धान्तों का—कुट्टिनी का उपयोग, कामुक जनों को वश में करने की कला तथा उनसे पैसा ऐंठने की विद्या आदि विषयों का वर्णन बड़ी रोचकता के साथ किया है।

देशोपदेश

'देशोपदेश' तथा 'नर्ममाला' क्षेमेन्द्र के हास्यापदेशक काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं[2] जिनमें कवि ने अपनी अनुभूति के आधार पर काश्मीर के शासक वर्ग तथा समाज का बड़ा ही रँगीला, प्रभावोत्पादक व्यंग्य चित्र खींचा है। 'देशोपदेश' के आठ उपदेशों में से प्रथम उपदेश में दुर्जन के विचित्र चरित का वर्णन है, तो द्वितीय उपदेश में कवि 'कदर्य' (कृपण) का बड़ा ही तथ्यपूर्ण विवरण है। क्षेमेन्द्र के 'कदर्य' में वर्तमानकालीनता का पुट देखकर आलोचक को आश्चर्य हुए विना नहीं रहता। कदर्य घर में अकस्मात् किसी सगे-सम्बन्धी के आ

---

[1] काव्यमाला सं० १० ; बम्बई, १८८८

[2] काश्मीर संस्कृत सीरीज (नं० ४०) में प्रकाशित, श्रीनगर, १९२४।

जाने पर अपनी स्त्री से बनावटी कलह कर लेता है और उपवास रख लेता है जिससे अभ्यागतजी टापते ही रह जाँय (२।१८)। वह साठ साल के पुराने धान की बिक्री नहीं करता और अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि के आने पर दुर्भिक्ष का अभिलाषी यह कृपण आनन्द के मारे नाच उठता है (२।३३)। तृतीय परिच्छेद में वेश्या के दिव्य चरित्र का यथार्थ वर्णन है। चतुर्थ में कुट्टिनी की काली करतूतों का खासा चित्र कवि ने अपनी तीव्र लेखनी से खींचा है। पाँचवें में इसी से सम्बद्ध विट का वर्णन कम मनोरञ्जक नहीं है। छठे में उन गौडदेशीय छात्रों का कच्चा चिट्ठा है जो विद्याध्ययन करने के लिए तो उत्तर भारत के विभिन्न प्रान्तों से काश्मीर में आते थे, परन्तु जिन्हें 'पढ़ना लिखना साढ़े बाइस' था और जो भोजनभट्ट बनकर पुंश्चली-भक्त बनने में ही अपनी अध्ययन वृत्ति को चरितार्थ मानते थे। गौड छात्र का चित्र बड़ा ही सजीला, सच्चा तथा मार्मिक है। गौड छात्र काश्मीर की लिपि के अक्षर को भी नहीं पहचानता, परन्तु महाभाष्य, न्याय तथा मीमांसा के ग्रन्थों का अध्ययन शुरू कर देता है[1]। वह दम्भी इतना भारी है कि अपने को सबके स्पर्श से बचाता है, अपनी चादर अपने बगल में दबाये रहता है तथा मानो दम्भ के बोझ से दबे रहने के कारण, वह अपने बगल को सिकोड़ कर ही रास्ते में चलता है[2] !! (६।९) फिर तो वह काश्मीरी चावल के खाने से तुन्दिल शरीर होकर नाना प्रकार के जघन्य कामों में अपना दिन बिताता है। इस वर्णन की यथार्थता पाठकों के हृदय पर तत्कालीन गर्हणीय छात्रजीवन की एक झाँकी

---

[1] अलिपिज्ञोऽ हंकार-स्तब्धो विप्रतिपत्तये ।
गौडः करोति प्रारम्भं भाष्ये तर्के प्रभाकरे ॥ (५'८)

[2] स्पर्शं परिहरन् याति गौडः कक्षाकृताञ्चलः ।
कुञ्चितेनैव पाश्वेन दम्भभारभरादिव ॥

सी दिखलाती है। सप्तम उपदेश किसी वृद्ध करोड़पति सेठ की नई ब्याही स्त्री को लक्ष्यकर बड़ा ही मनोरञ्जन विवरण प्रस्तुत करता है। वृद्ध दामाद का परिचय देते समय पिता अपनी अश्रुवर्षिणी दुहिता को कोमल शब्दों में समझाता है। लोगों में अरुचि उत्पन्न करने वाला, जोर से खाँसने वाला, धुँधली दृष्टि वाला बुड्ढा कन्यावरण के समय ज्वर की जीती जागती मूर्ति सा प्रतीत होता है[1] (७।४)। वृद्ध के जीवितकाल में वृद्धपत्नी की केलिलीला का वर्णन क्षेमेन्द्र ने बड़ी सजीवभाषा में किया है। अन्तिम उपदेश में वैद्य, भट्ट, कवि, बनिया, गुरु, कायस्थ आदि विविध पात्रों का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत कर क्षेमेन्द्र ने यह ग्रन्थ समाप्त किया है। 'हासव्यपदेशयुक्ति' के द्वारा निर्मित इस काव्य का प्रधान लक्ष्य यह है कि हास से लज्जित होकर कोई भी पुरुष दोषों में प्रवृत्त नहीं होवे—इसी उपकार के लिए ग्रन्थकार का यह प्रयास निःसन्देह श्लाघनीय है—

हासेन लज्जितोऽत्यन्तं न दोषेषु प्रवर्तते
जनस्तदुपकाराय ममायं स्वयमुद्यमः ॥ (१।४)

नर्ममाला

'नर्ममाला' के तीन परिच्छेद ('परिहास') हैं जिनमें कायस्थ तथा नियोगी आदि अधिकारियों की कुत्सित लीलाओं का वर्णन बड़ी ही पैनी दृष्टि से किया गया है। ग्रन्थ में कवि के तत्कालीन समाज तथा धर्म के गहरे अवलोकन तथा अनुशीलन का पूरा परिचय मिलता है, परन्तु अनेक स्थलों पर कवि का वर्णन ग्राम्य, भौंडा तथा उद्वेगजनक है।

---

१ कृतारुचिः पृथुश्वास-तमोदृष्टिर्विरागवान्।
कन्याया वरणे वृद्धो मूर्तो ज्वर इवागतः ॥

चित्र को पूरा रंगीन बनाने की उत्कण्ठा ही इस विषय में विशेष दोषी सिद्ध होती है। नाना उपायों से कूटलेख (ठगने के लिए लिखे गये झूठे लेख[1]) का प्रयोग वर्णन में तथा भावना में बिल्कुल नवीन तथा आधुनिक प्रतीत होता है। कायस्थों के काले कारनामे—दूसरे को नाना प्रकारों से ठगना, रिश्वत लेना (उत्कोच), जालसाजी करना (कूट-लेख) आदि—का वर्णन बड़ा ही रोचक, तथ्यपूर्ण तथा तत्कालीन समाज का प्रतिबोधक चित्र है। शैव गुरु के नितान्त गर्हनीय कृत्यों तथा वञ्चनाप्रकारों का वर्णन कुछ अतिरंजित सा अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु वैष्णव क्षेमेन्द्र के कथन की पुष्टि शैव कल्हण द्वारा निर्दिष्ट 'राजतरंगिणी' के द्वारा पर्याप्त मात्रा में होती है। गृह-कृत्याधिपति (गृहमन्त्री), परिपालक (गवर्नर), चाक्रिक (खोफिया पुलिस), लेखकोपाध्याय (हिसाब किताब करने वाला), गञ्जदिविर (अर्थ-मन्त्री), ग्रामदिविर (पटवारी), गुरु, वैद्य तथा अन्य पात्रों का चित्रण इतना स्वाभाविक तथा रोचक है कि क्षेमेन्द्र की इस कला की प्रशस्त स्तुति बिना किये आलोचक रह नहीं सकता।

स्याही तथा कलम के प्रभाव से कायस्थ देवता समाज का कितना अहित करता है तथा अपने स्वार्थ की कितनी पूर्ति करता है, यह पद्य इस विषय का चमत्कारी निर्देशक है—

अहो भगवती कार्य-सर्वसिद्धिप्रदा मसी
अहो प्रबलवान् कोऽपि कलमः कमलाश्रयः ।

(१।१४६)

---

[1] कृत्ताङ्गुष्ठः स वामेन पाणिना दिविरो रहः ।
खलस्तस्य गृहं गत्वा विदधे भूर्जयोजनम् ॥

—१।१३०

क्षेमेन्द्र की प्रतिभा इस प्रकार के 'हास्यापदेशक[1] काव्य' के निर्माण में विशेष रूप से प्रसृत होती थी। संस्कृत साहित्य में एक विशिष्ट काव्य-प्रकार के उद्भावक होने के कारण क्षेमेन्द्र की मौलिक सूझ तथा अलौकिक कल्पना के लिए आलोचक-समाज उनका सदा ऋणी रहेगा।

---

[1] अपि सुजन विनोदायोम्भिता हास्यसिद्धयै।
कथयति फलभूतं सर्वलोकोपदेशम्॥
—नर्ममाला ३।११४

अष्टम परिच्छेद

संस्कृत गद्य

संस्कृत भाषा का गद्यसाहित्य कुछ अपनी विशिष्टता लिए हुए है। आर्य जाति के साहित्य में गद्य का प्रथम अवतार हमारी देववाणी में ही हुआ। वैदिक संहिताओं में ही हमें गद्‌य का प्रथम दर्शन मिलता है। गद्‌य से मिश्रित होने के कारण ही कृष्णयजुर्वेद का कृष्णत्व है। प्राचीनतम गद्य का उदाहरण हमें इस वेद की तैत्तिरीय संहिता में उपलब्ध होता है। इस संहिता में गद्य भाग पद्य की अपेक्षा मात्रा में कथमपि न्यून नहीं है। इस वेद की अन्य संहिताओं—जैसे काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता आदि–में भी गद्य की सत्ता उसी मात्रा में है। कालक्रम में कुछ उतर कर अथर्ववेद का गद्य है। अथर्व का छठा भाग गद्‌यात्मक ही है। समग्र ब्राह्मणों की रचना गद्‌य रूप में ही है। यज्ञों के वर्णनात्मक होने से इसका प्रयोग उचित ही है। आरण्यकों में भी गद्‌य की ही प्रचुरता है। उपनिषदों में प्राचीन उपनिषद् गद्‌यात्मक ही हैं। इस प्रकार वैदिक साहित्य में गद्‌य का प्रयोग बहुत ही व्यापक, उदार तथा उदात्त रूप से हुआ है। लौकिक संस्कृत के ग्रन्थों में तदपेक्षया गद्‌य का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है।

दर्शन के ग्रन्थों में जहाँ किसी सिद्धान्त का विवेचन ही मुख्य विषय है गद्‌य का व्यापक प्रयोग मिलता है, परन्तु ज्यौतिष तथा वैद्‌यक आदि वैज्ञानिक विषयों के ग्रन्थों में जहाँ इसका प्रयोग औचित्य प्राप्त है हमें गद्‌य का दर्शन भी दुर्लभ है। चरक संहिता में प्राचीन गद्‌य के नमूने अवश्य मिलते हैं, परन्तु अन्य वैद्‌यक ग्रन्थों की रचना छन्दोबद्ध ही है।

ज्यौतिप की भी यही दशा है। विशुद्ध साहित्य ग्रन्थों की दशा इससे कुछ अच्छी नहीं है। पद्य के प्रति लेखकों के पक्षपात का कारण यह है कि पद्य-बद्ध ग्रन्थ शीघ्रता से याद किये जा सकते हैं। छन्द का माध्यम उन्हें संगीतमय तथा लघुकाय बना देता है जिससे वे स्मृतिपट पर अमिट रूप से अंकित हो जाते हैं। लेखक को छन्द का आश्रय लेने पर थोड़े में ही अपनी युक्तियों के प्रदर्शन का अवसर मिल जाता है। इन्हीं कारणों से लौकिक संस्कृत में गद्य का उतना विकास, प्रचलन तथा प्रसार न हुआ जितना उनमें स्वभाविक रीति से होने की आशा की जा सकती थी।

संस्कृत गद्य की विशेषता

संस्कृत गद्य की पहली विशिष्टता है—लाघव, लघुता। जो विचार अन्य भाषा में पूरे लम्बे वाक्य में प्रकट किये जा सकते हैं वे संस्कृत गद्य के एक ही पद में अभिव्यक्त किये जा सकते हैं जिसका कारण समास की सत्ता है। समास संस्कृत भाषा का जीवन है। उसने अधिक से अधिक अर्थ को कम से कम शब्दों में अभिव्यक्त करने की योग्यता उसे प्रदान की है। ओज गुण के कारण संस्कृत गद्य में विचित्र प्रकार की भावग्राहिता तथा गाढ़बन्धता का संचार होता है जिससे गद्य का सौन्दर्य पूरे रूप में खिल उठता है। ओज का प्रधान लक्षण है—समास की बहुलता (समास-भूयस्त्व) और यही ओज गद्य का प्राण है। ओजः समासभूयसस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्—यह उक्ति अवश्य ही आलंकारिक दण्डी की है जिनका आविर्भाव गद्य साहित्य के सुवर्णयुग में हुआ था, परन्तु संस्कृत गद्य की यह विशिष्टता बड़े प्राचीन काल से चली आती है। इसका सद्भाव प्रथम तथा द्वितीय शतक के शिलालेखों में प्रचुरता से है। पश्चिमी भारत के प्रसिद्ध क्षत्रप रुद्रदामन् के शिलालेख को पढ़ने पर यही जान पड़ता है कि हम बाण की शैली से प्रभावित गद्य पढ़ रहे हैं, परन्तु यह गद्य बाण से लगभग पाँच सौ वर्ष

पहले उट्टङ्कित किया गया था। हरिषेण की प्रयागप्रशस्ति का गद्य भी इसी प्रकार प्रौढ़, समासबहुल तथा उदात्त है। विजयस्तम्भ के वर्णन में कवि की यह उक्ति सदा विदग्धों को चमत्कृत करती रहेगी—

> सर्वपृथिवीविजयजनितोदयव्याप्तनिखिलावनितलां कीर्तिमितस्त्रि—
> दशपतिभवनगमनावाप्तललितसुखविचरणामाचक्षाण इव
> भुवो वाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः।

इस शैली का प्रयोग गद्य काव्य के लिखने में किया जाता था, परन्तु कथानकों के वर्णन में सीधी-सादी भाषा का ही प्रयोग होता था।

शास्त्रीय ग्रन्थों में गद्य का ही साम्राज्य है। विचारविनिमय का तथा शास्त्र के सिद्धान्तों के वर्णन का उचित माध्यम गद्य ही है। शास्त्रार्थ के समय तो बोलचाल की शैली का प्रयोग हम पातेहैं, परन्तु युक्तियों तथा तर्कों के प्रदर्शन में हमें प्रौढ़ गद्य का प्रयोग उपलब्ध होता है। हमारे दार्शनिकों ने अपने विचारों को सुचारु रूप से अभिव्यक्त करने के लिए 'विचार-मापक' नवीन पारिभाषिक शब्दों की उद्भावना कर रखी है। गद्य तो विचारों को प्रकट करने का मुख्य माध्यम है। उसे बिना युक्तियुक्त तथा प्रौढ़ बनाये हम अपने दार्शनिक विचारों को यथार्थ रूप से प्रकट ही नहीं कर सकते। इसी दृष्टि से हमारे दार्शनिकों ने अपनी शैली पर दार्शनिक गद्य की सृष्टि की है। तथ्य तो यह है कि कोमल भावों को प्रकट करने की जितनी शक्ति संस्कृत गद्य में है उतनी ही या उससे अधिक दर्शनशास्त्र के दुरूह तथ्यों के अभिव्यक्त करने की भी शक्ति उसमें विद्यमान है। लैटिन भाषा का गद्य बड़ा ही प्रौढ़, सुन्दर तथा ओजस्वी बतलाया जाता है, परन्तु संस्कृत भाषा के गद्य में ये गुण उससे कहीं अधिक मात्रा में विद्यमान हैं। दर्शन के पेचीदे, गूढ़ तथा सूक्ष्म तत्त्वों का प्रतिपादन संस्कृत भाषा के ही द्वारा हो सकता है, यह जानकारों की माननीय सम्मति है। अतः देववाणी का गद्य प्राचीनता तथा प्रौढ़ता, उपादेयता तथा भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से

हमारे साहित्य का एक गौरवपूर्ण अंग है । इस कथन में तनिक भी संदेह नहीं ।

गद्य का विकास

गद्य के वैदिक काल से आरम्भ कर मध्यकाल तक विकसित होने का इतिहास बड़ा ही मनोरम है । गद्य के दो प्रकार के रूप मिलते हैं—वैदिक काल का सीधा-सादा, बोलचाल का गद्य तथा लौकिक संस्कृत का प्रौढ़, समासबहुल गाढ़बन्ध-वाला गद्य । दोनों प्रकार के गद्यों में अपना विशिष्ट सौन्दर्य तथा मोहकता है । वैदिक गद्य में सीधे-सादे, छोटे-छोटे शब्दों का हम प्रयोग पाते हैं । 'ह' 'वै' 'उ' आदि अव्यय वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त हैं । इनके प्रयोग से वाक्य में रोचकता तथा सुन्दरता का समावेश हो जाता है । समास की विशेष कमी है । उदाहरणों का बहुल प्रयोग है । उपमा तथा रूपक का कमनीय सन्निवेश वैदिक गद्य को विदग्धों की दृष्टि में हृदयावर्जक बनाये हुए है । इस कथन की पुष्टि में कालक्रम से गद्य का निरीक्षण आवश्यक होगा ।

> व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् । स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत्। तदेकमभवत्, तल्ललाममभवत्, तन्महदभवत्, तज्जेष्ठमभवत्, तद्ब्रह्माभवत् तत् तपोऽभवत् तत्सत्यमभवत् तेन प्राजायत (अथर्व १५ काण्ड १ सूक्त)

ब्राह्मणग्रन्थों के गद्य का एक नमूना देखिए—

> अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता । आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालं सर्वाभ्य एवैनं तद्देवताभ्योऽनन्तरायं निर्वपन्ति ।
>
> (ऐतरेय ब्राह्मण १।१)

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति तद् भूमा । अथ यत्रान्यत् पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद् विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ॥

(छान्दोग्य ७।२४)

वैदिक गद्य तथा लौकिक संस्कृत के गद्य को साथ मिलाने का काम पौराणिक गद्य करता है । यह गद्य नितान्त आलङ्कारिक तथा प्रासादिक है । श्रीमद्भागवत तथा विष्णुराण का गद्य इसका स्पष्ट उदाहरण है। इसमें साहित्यिक गद्य का समग्र सौन्दर्य विद्यमान है । उसमें विशेष गाढबन्धता की कमी अवश्य है,परन्तु भागवत का गद्य नितान्त प्रौढ़, अलंकृत तथा भावाभिव्यञ्जक है—

यथैव व्योम्नि वह्निपिण्डोपमं त्वामहमपश्यं तथैवाद्याग्रतो गतमप्यत्र भगवता किञ्चिन्न प्रसादीकृतं विशेषमुपलक्षयामीत्युक्ते भगवता सूर्येण निज-कण्ठादुन्मुच्य स्यमन्तकं नाम महामणिवरमवतार्य एकान्ते न्यस्तम् ।

(विष्णु ४।१३।१४)

शिलालेखों में उपलब्ध गद्य भी नितान्त प्रौढ़, आलंकारिक तथा हृदयावर्जक है :—

प्रमाणमानोन्मान-स्वरगतिवर्ण-सारसत्त्वादिभिः परमलक्षणव्यञ्जनैरुपेत-कान्तमूर्तिना स्वयमधिगत-महाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्यास्वयम्वरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना सेतुं सुदर्शनतरं कागितम् ।

(रुद्रादामन् का गिरनार लेख, १५० ई०)

शास्त्रीय गद्य

हमने ऊपर इस गद्य की विशिष्टता का प्रदर्शन किया है । हमारे समग्र दर्शन-ग्रन्थ गद्य में ही लिखे गये हैं और उनमें अपने अर्थ-प्रकटन की योग्यता सुचारु रूप से विद्यमान है, परन्तु अर्थों की अभिव्यक्ति के चरम लक्ष्य होने के कारण इन ग्रन्थकारों का ध्यान शब्द-सौन्दर्य रखने

की ओर कम गया है। शब्द रूखे-सूखे भले हों, मनोगत भावों को प्रकट करना उन्हें चाहिए। परन्तु इन दार्शनिकों के बीच कतिपय ऐसे भी ग्रन्थकार हैं जिनका गद्य विशुद्ध साहित्यिक गद्य के समान रस-पेशल तथा सुन्दर है। इन दार्शनिकों की अपनी विशिष्ट शैली है जिसका प्रयोग उन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है। ऐसे शास्त्रकारों में हम चार को चुन लेते हैं—(१) पतञ्जलि, (२) शबर स्वामी, (३) शंकराचार्य, (४) जयन्त भट्ट। ये विद्वान् अपने शास्त्र के महनीय आचार्य हैं पर साथ ही साथ इनका गद्य नितान्त उदात्त तथा विशेष प्राञ्जल है। इसे पढ़ते समय हमें तनिक भी ज्ञात नहीं होता कि इसमें किसी दुरूह विषय का प्रतिपादन किया जा रहा है। महर्षि पतञ्जलि की महाभाष्य लिखने की शैली विलक्षण है। यह व्याकरण का आकर-ग्रन्थ तो है ही, साथ ही साथ समस्त शास्त्रों का पिण्डीभूत सिद्धान्त है।

पतञ्जलि परिचित विषयों पर भी नई बात बतलाने से नहीं चूकते। उनकी है बोलचाल की भाषा और शैली है कथनोपकथन की रीति। जान पड़ता है कि छात्र उनके सामने बैठे हैं और वे उन्हें अपना सिद्धान्त समझा रहे हैं। उनके गद्य की रमणीयता देखिए—

ये पुनः कार्या भावा निर्वृतौ तावत् तेषां यत्नः क्रियते। तद् यथा घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति। न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति। तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते। (पस्पशाह्निक)

शबरस्वामी प्रौढ़ मीमांसक हैं जिन्होंने कर्ममीमांसा के सूत्रों पर अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा है। उनकी शैली भी सीधी सादी तथा रोचक है—

इच्छयात्मानमुपलभामहे। कथमिति? उपलब्धपूर्वे ह्यभिप्रेते भवतीच्छा। यथा मेरुमुत्तरेण यान्यस्मज्जातीयैरनुलब्धपूर्वाणि स्वादूनि वृक्षफलानि न तानि प्रत्यस्माकमिच्छा भवति। (१।१।५)

शंकराचार्य के गद्य की सुषमा निराली है। उनके वाक्य सारगर्भित, प्रौढ़ तथा प्राञ्जल हैं। वाचस्पति मिश्र जैसे विद्वान् ने उसे यथार्थतः प्रसन्न-गम्भीर कहा है। उनके गद्य में वीणा की मधुर झंकार सुनाई पड़ती है। साहित्यिक माधुर्य तथा प्रसाद से पेशल यह गद्य संस्कृत भारती का सौन्दर्य है। उनके एक एक वाक्य पर गद्य के पोथे निछावर किये जा सकते हैं। एक सारगर्भित वाक्य है—

नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हति।

अर्थात् पैरों से भागने में समर्थ व्यक्ति के लिए घुटनों से रेंगना शोभा नहीं देता। आचार्य का गद्य मात्रा में भी अधिक है। ब्रह्मसूत्र गीता तथा उपनिषदों का भाष्य लिखना विशेष रचना-चातुर्य का द्योतक है। आचार्य के गद्य की असामान्य सुषमा नितरां अवलोकनीय है—

सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यवस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि। उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्-प्रत्ययविषयत्वात्। न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यवसितव्यमिति। अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यवस्यन्ति।

जयन्तभट्ट न्यायशास्त्र के विख्यात आचार्य हैं। इनकी 'न्याय मंजरी' न्यायदर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ है। इनका गद्य बड़ा ही सुन्दर, सरस तथा प्राञ्जल है। न्याय तो स्वभाव से ही कठिन ठहरा। परन्तु इन्होंने उसे अपनी रोचकशैली से अत्यन्त हृदयंगम बना दिया है। इनके गद्य में व्यङ्ग उक्तियों की काफी भरमार है। इनकी शैली का परिचय इस उद्धरण से भलीभाँति लग सकता है :—

आः क्षुद्रतार्किक सर्वत्रानभिज्ञोऽसि, ब्रह्मैव जीवात्मानो नहि ततोऽन्ये। न हि दहनपिण्डाद् भेदेनापि भान्तः स्फुलिंगा अग्निस्वरूपा भवन्ति। तत् किं ब्रह्मण एवाविद्या ? न च ब्रह्मणोऽविद्या।

पाली गद्य

पाली बोलचाल की भाषा थी जिसका प्रयोग भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों में किया। जनता के हृदय तक अपने उपदेशों को पहुँचाना उनका उद्देश्य था और इसीलिए उन्होंने देववाणी का आश्रय छोड़कर लोकवाणी का अवलम्बन ग्रहण किया। इनके गद्यात्मक उपदेश विषय को हृदयंगम कराने के लिए पर्याप्त हैं। त्रिपिटिकों का पाली गद्य बड़ा ही सरल तथा सुबोध है। पुनरुक्ति की उसमें बहुलता है। पाली गद्य के दो रूप हैं—एक तो वह जो जातकों में मिलता है। यह स्वभाव से ही सीधा-सादा होने पर भी कथा के वर्णन में सर्वथा समर्थ है। दूसरा गद्य नितान्त प्रौढ़ है जो शास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। मिलिन्द पन्हो (मिलिन्द प्रश्न) का गद्य इसी श्रेणी का है। इसकी प्रौढता के कारण अनेक विद्वानों को इसे मौलिक होने में सन्देह है। वे तो पूरे ग्रंथ को संस्कृत में विरचित होने और पीछे पाली में अनुवाद किये जाने की कल्पना करते हैं। जातकों की भाषा में बोलचाल के विशिष्ट शब्द और मुहावरों का प्रयोग दीख पड़ता है। जातक के शब्द उस युग की कल्पना है जिसमें वाल्मीकि-रामायण रचित हुआ। उदाहरण के लिए पाली के 'गोचर' तथा 'अनिय्यानिक' शब्दों को लीजिए। गोचर का अर्थ है—शिकार की खोज में जाना। यह प्रयोग 'शशजातक' में है (अत्तनो अत्तनो गोचरट्ठाने गोचरं गहेत्वा) साथ ही साथ वाल्मीकि में भी उपलब्ध है—गोचरं गतयोर्भ्रात्रोरपनीता त्वयाऽधम (सुन्दर काण्ड) 'अनिय्जानिक' का अर्थ है असुखकर, दुःख देनेवाला। वाल्मीकि ने 'निर्याण' का प्रयोग सुख के अर्थ में किया है। निर्याणमिति मे मतिः (सुन्दर काण्ड)। पाली के सरल गद्य का अवतरण देखिये—

अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते बोधिसत्तो ससयोनियं निब्बत्तित्वा अरञ्ञे वसति। तस्स ;पन अरञ्ञस्स एकतो पब्बतपादो, एकतो नदी एकतो पच्चन्तगामको। अपरे पिस्स तयो सहाया अहेसुं मक्कटो, सिगालो उद्दो ति।

प्रौढ पाली गद्य का सुन्दर नमूना देखिए—

बुद्धानं विञ्ञनं वधानेन समन्मागतानं सन्दस्सेन्तो नवङ्गजिन-सासन-रतनं उपदिसन्तो धम्ममग्गं, धारेन्तो धम्मपज्जोतं उस्सापेन्तो धम्मयूपं यजन्तो धम्मयागं, पग्गण्हन्त धम्मद्धजं उस्सापेन्तो धम्मकेतुं धमेन्तो धम्मसंखं, आहनन्तो धम्मभेरि, नदन्तो सीहनादं सागल नगरं अनुप्पतो होति। मिलिन्द पञ्हो पृ० २३ बाहिर कथा।

गद्य का अभ्युदय

संस्कृत में गद्यात्मक कथाओं का उदय विक्रम से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हुआ था। कात्यायन ने ४।२।६० सूत्र के अपने वार्तिक (आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च) में आख्यान और आख्यायिका का उल्लेख अलग-अलग किया है। पतञ्जलि ने 'यवक्रीत', 'प्रियङ्गव' तथा 'ययाति' का आख्यान के उदाहरण में तथा 'वासवदत्ता' और 'सुमनोत्तरा' का आख्यायिका के उदाहरण में नामनिर्देश किया है। काशिका में भी इन्हीं नामों का उल्लेख मिलता है, परन्तु उनकी सत्ता का पता अभी तक नहीं चलता।

(१)

सुबन्धु

सुबन्धुः बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्ग-निपुणाः चतुर्थो विद्यते न वा॥

गद्यकाव्यों के लेखकों में सुबन्धु ही सर्व-प्रथम है। इनके व्यक्तित्व का पता हमें नहीं चलता। इनकी एकमात्र रचना है—वासवदत्ता। प्राचीन काल में वासवदत्ता की प्रेम कहानी बड़ी प्रसिद्ध थी, परन्तु इस

गद्य काव्य में नाम के अतिरिक्त उससे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यह पूरा कथानक कवि के मस्तिष्क की उपज है। केवल नायिका का नाम प्राचीन है। वासवदत्ता के रचना-काल का निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। बाणभट्ट ने सुबन्धु की वासवदत्ता को महावीर कर्ण की शक्ति के समान बतलाकर उसके महनीय प्रभाव की प्रशस्त प्रशंसा की है। अतः इनका बाण से प्राचीन होना स्वाभाविक है। कवि ने अपने ग्रन्थ के उपोद्घात में किसी विक्रमादित्य के कीर्तिशेष होने का उल्लेख बड़ी सौन्दर्यमयी भाषा में किया है—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कङ्कः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

परन्तु इस विक्रमादित्य के ठीक परिचय न होने से उनका समय अनिश्चित रहता है। सुबन्धु न्यायवार्तिक के रचयिता उद्योतकर की कीर्ति से परिचय रखते हैं (न्यायस्थितिमिव उद्योतकरस्वरूपाम्)। उद्योतकर का समय षष्ठ शताब्दी का अन्त माना जाता है। इसलिए हम सुबन्ध को सप्तम शतक के आरम्भ में रखने के पक्षपाती हैं।

गुण-दोष

वासवदत्ता उन गद्यकाव्यों का प्रतिनिधित्व करती है जिनमें कथानक नितान्त स्वल्प रहता है तथा वर्णन प्रचुर मात्रा में रहता है। स्वल्प कथावृत्त को कवि ने अपने कविकौशल से खूब अलंकृत और चमत्कृत बनाया है। सुजनैकबन्धु सुबन्धु ने सरस्वती की कृपा से वर प्राप्त किया था और तभी वे 'प्रत्यक्षर-श्लेषमय-प्रपञ्चविन्यास वैदग्ध-निधिं प्रबन्धं' के बनाने में समर्थ हुए थे। उनकी इस प्रतिज्ञा के अनुसार उनका काव्य सचमुच प्रत्यक्षर में श्लेष-मण्डित है। यहाँ सभङ्ग और अभङ्ग—उभय प्रकार के श्लेषों की मानो बाढ़ सी आ गई है। विरोधाभास, उपमा तथा उत्प्रेक्षा की कमी नहीं है, पर श्लेष का विन्यास ही सुबन्धु की निजी विशिष्टता है। महाराज चिन्तामणि का यह वर्णन बड़ा सुचारु तथा रुचिर है—"नन्दगोप इव यशो-

दयान्वितः, जरासन्ध इव घटित-सन्धि-विग्रहः, भार्गव इव सदा न भोगाः, दशरथ इव सुमित्रोपेतः सुमन्त्राधिष्ठितश्च, दिलीप इव सुदक्षिणयान्वितः रक्षितगुश्च ।

आशय है कि यशोदा अन्वित नन्द गोप के समान वह यश और दया से अन्वित था ; जरा के द्वारा संगठित अंगवाले राजा जरासन्ध के समान वह सन्धि और विग्रह (युद्ध) का सम्पादक था । सदा नभ (आकाश) में गमन करने वाले (सदा + नभो + गः) शुक्र के सदृश वह सदा दान तथा भोग से सम्पन्न था ।

सुबन्धु का श्लेषप्रेम मात्रा को पार कर गया है । अनेक स्थलों पर श्लेष की प्रसन्नता तिरोहित हो गई है । श्लेष चाहिए साफ-सुथरा, सरल, विशेष क्लिष्ट नहीं । परन्तु दुर्भाग्यवश श्लेषानुरक्ति ने कवि को इस आदर्श से वञ्चित रखा है । इतने अप्रसिद्ध तथा कठिन श्लेषों का प्रयोग किया गया है कि विद्वानों के भी दिमाग चक्कर काटने लगते हैं, अर्थ समझने के लिए पाठकों पर 'कोषं पश्यन् पदे पदे' की उक्ति चरितार्थ होती है ।

२

बाणभट्ट

बाणभट्ट के पूर्वज सोन नद पर प्रीतिकूट नामक नगर में निवास करते थे । यह स्थान सम्भवतः बिहार प्रान्त के पश्चिमी भाग में था । बाण का कुल प्राचीन काल से ही धर्म तथा विद्या के लिये प्रख्यात था । इनका जन्म वात्स्यायन गोत्र में हुआ था । बाण के एक प्राचीन पूर्वज का नाम 'कुबेर' था । इनके घर घर वेदाध्ययन के लिये विद्यार्थियों का

जमघट लग रहा था। बाण ने तो यहाँ तक लिखा[1] है कि उनके घर पर ब्रह्मचारी लोग शंकित होकर यजुर्वेद तथा सामवेद गाया करते थे, क्योंकि सब वेदों का अभ्यास करनेवाले, मैनाओं के साथ साथ पिंजड़ों में बैठे हुये, तोते उनको पद पद पर टोका करते थे। कुबेर के चार पुत्रों में पाशुपत सबसे छोटे थे। उनके पुत्र अर्थपति हुए। अर्थपति से चित्रभानु उत्पन्न हुए। यह भी सकल शास्त्र में पण्डित थे। उन्होंने यज्ञ धूम से उत्पन्न हुई कीर्ति को सकल दिगन्तों में फैलाया। इन्हीं चित्रभानु से बाणभट्ट का जन्म हुआ। थोड़ी ही उम्र में बाण के माता तथा पिता उन्हें अनाथ बनाकर इस असार संसार से चल बसे।

बाणभट्ट के पास पैतृक सम्पत्ति खूब थी। किसी सुयोग्य अभिभावक के न होने से बाण एक अवारा लड़का निकला। बुरे बुरे साथियों के साथ वह आखेट आदि दुर्व्यसनों में लिप्त रहा। उसे देशाटन का बड़ा शौक था। कुछ साथियों के साथ वह देशाटन को निकला। बुद्धि विकाश, सांसारिक अनुभय तथा उदार विचार के साथ वह घर लौटा। लोग उसका उपहास करने लगे। अचानक एक दिन हर्ष के चचेरे भाई कृष्ण के एक दूत ने आकर बाण को एक पत्र दिया। पत्र में लिखा था कि श्रीहर्ष से कितने लोगों ने तुम्हारी चुगली खाई है, राजा तुमसे नाराज हो गये हैं। अतएव शीघ्र यहाँ चले आओ! बाण श्रीहर्ष के पास गये। राजा ने पहले तो बाण की अवहेलना की, परन्तु पीछे उनकी विद्वत्ता पर प्रसन्न होकर बाण को आश्रय दान दिया। बाण ने बहुत दिनों तक हर्ष की सभा को सुशोभित किया। अनन्तर अपने घर लौट

---

[1] जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः ससारिकैः पञ्जरवर्तिभिः शुकैः।
निगृह्यमाणाः बटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यस्य शङ्किताः॥
—कादम्बरी

आये और लोगों के हर्ष के चरित पूछने पर बाण ने हर्षचरित की रचना की।

इससे स्पष्ट है कि बाण लड़कपन में बुरी संगत के कारण कुछ अव्यवस्थित से थे, परन्तु विद्वत्ता के प्रभाव से श्रीहर्ष के अत्यन्त प्रियपात्र बन गये। बस, बाण की आत्मकथा इतनी ही है। संक्षेप में बाण का जीवन दरिद्रता में नहीं बीता, बल्कि उनके पास पैतृक सम्पत्ति खूब थी। हर्ष के आश्रय पाने से उनकी सम्पति और भी बढ़ी। उन्होंने अपना जीवन एक सम्पन्न व्यक्ति के समान बिताया। बाण का यह जीवन साधारणतया निर्धनता में समय बिताने वाले संस्कृत कवियों के जीवन से अनेक अंशों में विशिष्टता रखता है।

बाणतनय

बाणभट्ट ने हर्ष चरित में अपने पुत्रों के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। सम्भवतः उस समय तक कोई लड़का नहीं हुआ होगा। परन्तु उनके पुत्र के अस्तित्व के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता क्योंकि बाणभट्ट ने कादम्बरी पूरी नहीं बना पाई थी कि उनका देहान्त हो गया। पीछे उनके पुत्र ने इसकी पूर्ति की। यही कादम्बरी का उत्तरार्ध है। ऐसा निःस्पृह तथा पितृभक्त पुत्र साहित्य संसार में शायद ही कोई दूसरा मिल सके। उत्तरार्ध के आरंभ में बाणतनय ने लिखा है—

याते दिवं पितरि तद्वचसैव सार्धं
विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथाप्रबन्धः।
दुःखं सतां तदसमाप्तिकृतं विलोक्य
प्रारब्ध एष च मया न कवित्वदर्पात्॥

पिता जी के स्वर्गवासी होने पर यह कथा-प्रबन्ध भी उनके वचन के साथ ही संसार में विच्छिन्न हो गया। इसके समाप्त न होने से

सज्जनों के दुःख को देखकर ही मैंने इसे आरंभ किया है. कवित्व के घमंड से नहीं। यह तो पिता जी का ही प्रभाव है कि उनके गद्य की भाँति मैं लिख सका हूँ, नहीं तो कादम्बरी (शराब) का स्वाद लेकर मैं बिल्कुल मतवाला सा हो गया हूँ ; मुझे कुछ आगे पीछे नहीं सूझता—

गद्ये कृतेऽपि गुरुणा तु तथाक्षराणि
यन्निर्गतानि पितुरेव स मेऽनुभावः ॥

× × ×

कादम्बरीरसभरेण समस्त एव
मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम् ।
भीतोऽस्मि यन्न रसवर्णविवर्जितेन
तच्छेषमात्मवचसाप्यनुसंदधानः ।

ऐसे निःस्पृह पुत्र का साहित्य संसार नाम तक नहीं जानता। डाक्टर ब्यूलर ने इनका नाम भूषण भट्ट बतलाया था ; परन्तु इधर की खोज से इनका नाम 'पुलिन' या 'पुलिन्द्भट्ट' सिद्ध होता है। कादम्बरी की शारदा लिपि में लिखित किसी प्रति की पुष्पिका में यही नाम मिलता है। इसकी प्रामाणिकता मुंज के समय (१० वीं सदी के अन्त) में लिखित धनपाल की तिलकमंजरी से सिद्ध होती है:—

केवलोऽपि स्फुरन् बाणः करोति विमदान् कवीन् ।
किं पुनः क्लृप्तसन्धानः पुलिन्ध्रकृतसन्निधिः ।

इस पद्य में श्लेषालंकार के द्वारा बाणके पुत्र का नाम 'पुलिन्ध्र' बतलाया गया है।

ज्ञात नहीं कि बाणभट्ट के कितने बेटे थे। उत्तरार्द्ध कादम्बरी के रचयिता पुलिनभट्ट के विषय में हमारा ज्ञान बिल्कुल सच्चा है परन्तु अन्य किसी पुत्र के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। एक प्रसिद्ध

किम्वदन्ती के आधार पर बाणभट्ट के कई पुत्रों का होना सिद्ध होता है। किम्वदन्ती है कि जब बाण मृत्यु-शय्या पर पड़े हुये थे, तब कादम्बरी को समाप्त करने की चिन्ता उन्हें सतत सताया करती थी। उन्होंने अपने पुत्रों को बुलाया और उनके साहित्यिक ज्ञान तथा प्रतिभा की परीक्षा करनी चाही। उन्होंने पुत्रों से 'आगे सूखा काठ पड़ा हुआ है' इस वाक्य का संस्कृत में अनुवाद करने को कहा। उनके ज्योतिषी पुत्र ने इस वाक्य का 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' यह कटुतापूर्ण नीरस अनुवाद किया परन्तु उनके योग्य साहित्यज्ञ रसिक पुत्र ने-'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' सरस तथा मधुर अनुवाद कर अपनी मनोहर रचना शैली का प्रमाण पिता को दिया। पिता दूसरे पुत्र की कवि-प्रतिभा देखकर बड़े प्रसन्न हुये और उन्होंने उसे ही कादम्बरी को समाप्त करने का भार सौंपा।

किम्बदन्ती

बाण के जीवन वृत्तान्त के विषय में इतना ही ज्ञात है, परन्तु पण्डितों में एक किम्वदन्ती प्रचलित है जो बाण का सम्बन्ध तत्कालीन एक महाकवि से स्थापित करती है। किम्वदन्ती यह है कि बाणभट्ट का विवाह महाकवि मयूर की कन्या से हुआ था। एक समय की बात है कि शीतांशुमाली अस्ताचल चूडावलम्बी हो रहे थे, प्रभात की बेला थी, शीतल समीर वह रही थी; बाण की पत्नी अभी तक 'मान' किये बैठी थी। प्रभात हो रहा था, तो भी उसके 'मान' का अन्त नहीं हुआ था। बिचारे बाण अपनी दयिता को किसी प्रकार मनाया चाहते थे—प्रसन्न करना चाहते थे। प्रातःकाल के शीघ्र होने तथा मान न छोड़ने की बात बाण ने एक पद्य में निबद्ध की। प्रियतमा को प्रसन्न करने की अभिलाषा से कवि ने तत्काल रचित अपना पद्य सुनाना आरम्भ किया—

गतप्राया रात्रिः कृशतनु शशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो

अभी ये तीन ही चरण बनाकर सुना पाये थे कि इतने में मयूर भी बाण से भेंट करने को आ पहुँचे। मयूर के कर्णकुहरों में पद्य के ये तीन चरण पड़े। उन्होंने झट अन्तिम चरण यों बनाकर पद्य सुनाया :—

कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि! कठिनम्।

(मुझे तो जान पड़ता है कि कठिन स्तनों के समीप रहने से तुम्हारा हृदय कठिन हो गया है)

बाण को यह चरण सुनकर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने मयूर को कुष्ठी हो जाने का शाप दिया। बिचारे मयूर पर विपत्ति आ पड़ी। उन्होंने सूर्य की स्तुति में १०० पद्यों को बनाकर इस महारोग से छुटकारा पाया। यह ग्रन्थ आजकल 'सूर्यशतक' के नाम से प्रसिद्ध है। क्रुद्ध होकर मयूर ने भी बाण को शाप दिया। बाण ने भगवती दुर्गा की स्तुति 'चण्डीशतक' बनाकर इस शाप से छुटकारा पाया।

पूर्वोक्त किम्वदन्ती की सत्यता पर कुछ लोगों को कम विश्वास है। उनका कहना है कि यदि बाण का सम्बन्ध मयूर से होता, तो हर्षचरित में आत्मकथा लिखते समय वे इसका उल्लेख अवश्य करते। परन्तु हर्ष के आश्रित होने से इन दोनों महाकवियों में घनिष्ठ सम्बन्ध बहुत दिनों तक रहा होगा। यदि इनमें वैवाहिक सम्बन्ध भी रहा हो तो क्या आश्चर्य है? इस किम्वदन्ती का उल्लेख जैनग्रन्थों में भी मिलता है। अतः इसमें कुछ न कुछ सत्यता अवश्य प्रतीत होती है।

समकालीन कवि और पण्डित

बाण का समय संस्कृत साहित्य के लिये बड़े महत्त्व का है। उस समय विद्वानों तथा कवियों का अच्छा जमघट था। 'सूर्य शतक' के कर्ता मयूर कवि का आविर्भाव इसी समय में हुआ था। 'मानतुङ्ग' नामक भक्त जैनाचार्य भी इसी समय में हुये थे। इनका 'भक्तामर-स्तोत्र' जैनियों में अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये दोनों महाकवि श्रीहर्ष के आश्रय में ही रहते थे। परन्तु थानेश्वर से दूर, गुजरात की राजधानी वलभी में श्रीधरसेन के राज्यकाल में भट्टिकाव्य के कर्ता, भट्टिस्वामी का आविर्भाव भी इसी शताब्दी में हुआ था। कुछ विद्वानों की सम्मति में गौतम न्यायसूत्रों पर वार्तिक लिखने वाले प्रसिद्ध विद्वान् उद्योतकर का जन्म भी इसी शताब्दी में हुआ था। दण्डी ने भी बाण के कुछ ही पीछे 'दशकुमार चरित' तथा 'काव्यादर्श' की रचना की। अतः स्पष्ट है कि बाण का समय संस्कृत साहित्य में महत्त्वपूर्ण तथा आदरणीय है।

आविर्भाव-काल

हर्षवर्धन के सभापण्डित होने से बाणभट्ट क समय ईसा की ७वीं सदी में सिद्ध होता है। बाण का समय संस्कृत-कवियों की ऐतिहासिक क्रम-व्यवस्था के लिये बड़ा उपयोगी है। यही एक ऐसा निश्चित समय है जिससे पूर्व तथा उत्तरवर्ती कवियों का समय ठीक तरह नियत किया जा सकता है। यदि बाण के हर्ष के समकालिक सिद्ध होने की बात न भी ज्ञात होती, तथापि उन का सातवीं सदी में आविर्भाव होना परवर्ती कवियों के उद्धरणों से अवश्यमेव सिद्ध हो जाता है। सबसे पहिले वामन (७७९-८१३ ई०) ने 'काव्यालंकारसूत्र' में कादम्बरी के एक लम्बे समास वाले गद्य को उद्धृत किया है जिससे

स्पष्ट ही बाणभट्ट की प्राचीनता सिद्ध होती है। अतएव बाण का काल निश्चित रूप से सातवीं सदी है।

ग्रन्थ

बाणभट्ट की लेखनी से अनेक ग्रन्थ-रत्नों की उत्पत्ति हुई जिनमें से कतिपय रत्न ही साहित्य के जौहरी को देखने को मिले। सम्भवतः इनकी बहुत सी अमूल्य रचना नष्ट हो गई हैं। सूक्तिसंग्रहों तथा अलंकार-ग्रन्थों में इनके नाम से कितने ही सुन्दर पद्य मिलते हैं। क्षेमेन्द्र ने औचित्य-विचारचर्चा में बाण का एक पद्य उद्धृत किया है जो कादम्बरी की विरहावस्था के वर्णन में लिखा गया है। इससे यह अनुमान निकालना स्वाभाविक है कि बाण ने पद्य में भी कादम्बरी की कथा लिखी थी। परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त सूक्तिसंग्रहों में बाण के नाम से उद्धृत बहुत से पद्य इनके ज्ञात ग्रन्थों में नहीं मिलते जिससे इनकी अन्य रचनाओं की सत्ता के विषय में अनुमान किया जा सकता है।

अब इनकी प्रसिद्ध रचनाओं का संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया जायगाः—

(१) चण्डी शतक—इसमें भगवती की स्तुति सौ श्लोकों में की गई है।

(२) हर्ष-चरित—संस्कृत साहित्य में यह सबसे पुरानी उपलब्ध आख्यायिका है। इसमें आठ अच्छ्वास हैं। पहले दो उच्छ्वासों में बाणभट्ट ने अपना विस्तृत परिचय दिया है। अनन्तर शेष उच्छ्वासों में महाराज हर्षवर्धन का चरित दिया गया है। "ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्"—उस काल में गद्य का जीवन समास-बहुलता मानी जाती थी। इसी साहित्यिक नियम के अनुसार इस गद्य काव्य

की रचना की गई है। यह बाण का पहला गद्य-ग्रंथ है। इसमें उनकी कविता-शैली उतनी मँजी, साफ-सुथरी नहीं है।

(३) कादम्बरी—यह बाणभट्ट की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसके दो खण्ड हैं—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध पूरे ग्रन्थ का दो तिहाई भाग है और यह बाण की रचना है। उत्तरार्द्ध पूरी कादम्बरी का केवल तृतीयांश है और पिता के मर जाने पर इस अंश की रचना कर पुलिन्द-भट्ट ने कादम्बरी की पूर्ति की। कादम्बरी संस्कृत गद्य-साहित्य का समुज्वल हीरक है। भाषा और भाव-शब्द और अर्थ—दोनों का उचित सम्मिलन इस गद्य-काव्य में लक्षित होता है। वर्णनों की सुन्दरता की बात क्या पूछी जाय ? कहीं विन्ध्याचल की विकट अटवी तथा साहस-प्रेमी शबर-सैन्य का रोमाञ्चकारी वर्णन है, तो कहीं धर्म की साक्षात् मूर्ति, सदयता के परम अवतार, आध्यात्मिकता के ज्वलन्त निदर्शन, जाबालि मुनि तथा उनके परम पावन मनभावन आश्रम की सुभग शोभा दर्शकों का हृदय लुभा रही है। कहीं बाल्यकाल में गन्धर्वों के अंक में विहार करनेवाली कलभाषिणी वीणा की तरह मञ्जुवादिनी स्निग्धहृदया महाश्वेता की विरहविधुरा मूर्ति का दर्शन मिलता है, तो कहीं अलोक-सामान्य सौख्यों का अनुभव करनेवाली गन्धर्वराज-कन्या सरस-हृदया कमनीय-कलेवरा कादम्बरी की प्रेममयी कथा श्रोताओं के चित्त-चंचरीक को अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। सर्वत्र ही अलंकारों का मधुर झङ्कार कानों को सुख दे रहा है—रागात्मिका वृत्ति की सुभग व्यंजना हृदय को खिला रही है। सच तो यह है अलंकार तथा रस के मधुर-मिलन में—भाषा तथा भाव के परस्पर सम्पर्क में—कल्पना तथा वर्णना के अनुरूप संघटन में—कादम्बरी संस्कृत-साहित्य में अनुपम है—अद्वितीय है। कादम्बरी रसिक हृदयों को मत्त कर देनेवाली कादम्बरी है—मीठी मदिरा है। पुलिन्दभट्ट का यह कथन प्रत्येक सहृदय के विषय में चरितार्थ हो रहा है—

कादम्बरीरसभरेण समस्त एव
मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम् ।

(४) पार्वती-परिणय—यह एक सुन्दर नाटक है जिसमें शिव-पार्वती के विवाह की पवित्र कथा का वर्णन है। इस नाटक के ऊपर कालिदास के कुमारसम्भव की अधिक छाया जान पड़ती है। बहुत से विद्वान् इसे बाण की रचना नहीं मानते, प्रत्युत सत्रहवीं शताब्दी में वर्तमान बाणभट्ट नामधारी किसी दाक्षिणात्य कवि की।

(५) मुकुट ताडितक—नलचम्पू की टीका में जैन विद्वान् चन्द्रपाल तथा गुणविजयगणि ने इस नाटक-ग्रन्थ को बाण की रचना बतलाया है तथा उसमें से एक पद्य भी उद्धृत किया। परन्तु इसके अतिरिक्त मुकुटताडितक नाटक का कहीं अन्यत्र नाम नहीं सुना जाता। अभी तक यह उपलब्ध भी नहीं हुआ है।

बाणभट्ट सरस्वती देवी के वरद पुत्र थे। इनका गद्य-काव्य-कादम्बरी-अपने विषय में अद्वितीय माना जाता है। प्राचीनकाल में ही समालोचकों की दृष्टि बाणभट्ट की मधुर कविता पर पड़ी थी। गोवर्धनाचार्य बाणभट्ट को वाणी का साक्षात् अवतार मानते हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार अधिक प्रगल्भता प्राप्त करने के लिए शिखण्डिनी शिखण्डी बन गई थी, उसी भाँति पुरुषरूप में अतिशय चमत्कार पाने की इच्छा से वाणी (सरस्वती) ने बाण का रूप-धारण किया :—

जाता शिखण्डिनी प्राग् यथा शिखण्डी तथाऽवगच्छामि ।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति ॥

बाणभट्ट की काव्य-शैली को पांचाली रीति कहना चाहिए। पांचाली में अर्थ के अनुरूप ही शब्दों की गुम्फना होती है। जैसे सरस अर्थ, तत्समान ही सुकुमार वर्ण-विन्यास। बाण की कविता में ललित पद-विन्यास है, रचनाशैली सुन्दर है तथा नये-नये अर्थों का मनोहर विनिवेश है—

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पञ्चाली रीतिरुच्यते ।
शिलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि ॥

पात्र

बाणभट्टमें पात्रों के चरित-चित्रण की अद्भुत कला है। उनके पात्र इतनी सजीवता के साथ चित्रित किये गये हैं कि उनकी मंजुल मूर्ति हमारे नेत्रपटल के सामने आकर उपस्थित हो जाती है। प्रजा-पालक तथा पराक्रमी महाराज शूद्रक की वीर मूर्ति किसके हृदय में उत्साह का संचार नहीं करती? सौम्य तापस हारीत, ज्ञानवृद्ध जावालि वदान्य नरपति तारापीड़, शास्त्र तथा व्यवहार कुशल अमात्य शुकनास, शुभ्रवसना तपस्विनी महाश्वेता, कमनीय-कलेवरा कादम्बरी—ये कवि की तूलिका से चित्रित पात्र पाठकों के चित्त पर अपना अमिट प्रभाव डालते हैं। सच्चा कवि वही होता है जो संसार का विविध अनुभव प्राप्त कर उसके मार्मिक पक्ष के ग्रहण में समर्थ होता है। इसी कसौटी पर कसने से बाणभट्ट की कविता खरे सोने के समान खरी उतरती है। कवि का लोकवृत्त-ज्ञान नानात्मक तो था ही, पर उसकी यथार्थता और भी चमत्कारिणी है। बाणभट्ट कभी तो सुख-समृद्धि तथा भोग-विलास के जीवन चित्रित करने में अनुरक्त दीख पड़ते हैं, तो कभी वे तपस्वी-जीवन की मार्मिक अभिव्यञ्जना में निरत दिखाई पड़ते हैं। तथ्य यह है कि बाणभट्ट का अनुभव बड़ा ही विशाल, विविध तथा यथार्थ था। उसी के बल पर उन्होंने अपना सुन्दर गद्य-काव्य रचा है।

प्रकृति-निरीक्षण

कादम्बरी का प्रकृतिवर्णन बड़ा ही सुन्दर तथा सजीव हुआ है। संस्कृत के कुछ महाकवि प्रकृति के मंजुल रूप के चित्रण में ही चतुर दीख पड़ते हैं, तो कुछ कवि प्रकृति के भयावह तथा रोमांचकारी स्वरूप के वर्णन में कृतकार्य प्रतीत होते हैं। परन्तु बाणभट्ट की यह भूयसी

विशेषता है कि उनकी लेखनी ने समभाव से प्रकृति के उभय प्रकार के मधुर तथा भयावह दृश्यों के वर्णन में सफलता प्राप्त की है। इन दृश्यों के स्वरूप को हृदयङ्गम कराने के लिए कवि ने नाना अलङ्कारों की सहायता ली है। उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास तथा परिसंख्या का स्तूप खड़ा कर कवि ने पाठकों के सामने अपने वर्ण्य विषय की मञ्जुल अभिव्यञ्जना की है। विन्ध्याटवी के भयङ्कर रूप का चित्रण बाण ने जितनी सफलता के साथ किया है वह सचमुच आश्चर्यजनक है। विन्ध्याटवी गिरितनया पार्वती के समान स्थाणु (शङ्कर तथा वृक्ष) युक्त तथा मृगपति से सेवित है। जानकी के समान कुश लव (कुश लव नामक लड़के तथा कुश के छोटे-छोटे टुकड़े) को उत्पन्न करने वाली तथा निशाचर से आश्रित है। कभी वह कामिनी के समान चन्दन, मृगमद के सुगन्ध को धारण करने वाली तथा सुन्दर अगरू और तिलक (पेड़) से विभूषित है, तो कभी वह उस कामपरायणा उत्कण्ठिता नायिका के समान प्रतीत होती है जिसे पल्लवों से पंखा कर आराम पहुँचाया जा रहा हो। महर्षि जाबालि के आश्रम का सात्विक मनोरम वर्णन पढ़ किस पुरुष का चित्त तपोवन की भव्यमूर्ति से प्रभावित नहीं होता? तपोवन के वर्णन में जितनी प्रभावोत्पादक बातों की आवश्यकता है उन सब का एकत्र वर्णन कर कवि ने सचमुच हमारे सामने बड़ा ही अनुपम दृश्य प्रस्तुत किया है। हम इस दृश्य को कभी नहीं भूल सकते जिसमें बाणभट्ट ने आश्रम के वृद्ध अन्ध तापसों को परिचित वानरों के द्वारा छड़ी पकड़कर भीतर आने और बाहर जाने का वर्णन किया है— परिचितशाखामृग-कराकृष्टयष्टि-निष्काश्यमान-प्रवेश्यमान-जरदन्धतापसम्। ऋतुओं का चित्रण भी बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। प्रभात तथा सन्ध्या, अन्धकार तथा चन्द्रोदय आदि प्रकृति के नाना दृश्यों के वर्णन बड़ी ही सहृदयता तथा यथार्थता के साथ अङ्कित किये गये हैं।

कादम्बरी का कलापक्ष

बाण की कादम्बरी में प्रकृति के सौम्य तथा उग्र रूप का वर्णन जितना रोचक है, उतना ही रोचक है उसके नाना वस्तुओं के वर्णन है। वर्णनों को संश्लिष्ट तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए, भावों में तीव्रता प्रदान करने के हेतु बाण ने उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष, विरोधाभास आदि अलंकारों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है, परंतु 'परिसंख्या' अलंकार के तो वे सम्राट् प्रतीत होते हैं। बाण के समान किसी अन्य कवि ने 'श्लिष्ट परिसंख्या' का इतना चमत्कारी प्रयोग नहीं किया है। इन अलंकारों के प्रयोग ने बाण के गद्य में अपूर्व जीवनी शक्ति डाल दी है। आदर्श गद्य के जिन गुणों का उल्लेख बाण ने हर्षचरित में किया है वे उनके गद्य में विशदतया वर्तमान हैं—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषः स्पष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभः॥

अर्थ की नवीनता, स्वाभावोक्ति की नागरिकता, श्लेष की स्पष्टता, रसकी स्फुटता, अक्षर की विकटबन्धता का एकत्र दुर्लभ सन्निवेश कादम्बरी को मञ्जुल रसपेशल बनाये हुए है। उनके श्लेप-प्रयोग जूही की माला में पिरोये गये चम्पक पुष्पों के समान मनोमोहक होते हैं— निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पक-कुड्मलैरिव। 'रसनोपमा' का यह उदाहरण कितना मनोरम है—

क्रमेण च कृतं मे वपुषि, वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नव पल्लवेन, नव पल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकरण इव मदेन नवयौवनेन पदम्।

'परिसंख्या' का यह रोचक प्रयोग विदग्धों का नितान्त हृदयावर्जक है जहाँ बाणभट्ट राजा चन्द्रापीड का वर्णन कर रहे हैं—

> यत्र च महाभारते शकुनिवधः, पुराणे वायुप्रलपितं, वयःपरिणामे द्विजपतनम्, उपवन-चन्दनेषु जाड्यम् अग्नीनां भूतिमत्त्वम् एणकानां गीतव्यसनं, शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातः, भुजङ्गमानां भोगः, कपीनां श्रीफलाभिलाषः, मूलानामधोगतिः ।

वहाँ महाभारत में शकुनि का वध था (अन्यत्र कहीं चिड़ियों का वध नहीं होता था), वायु-जन्य प्रलाप पुराण (वायुपुराण) में था (वायु के झोंके में कोई बक-झक नहीं करता था), द्विजों-दाँतों-का गिरना बुढ़ापे में होता था, (द्विज लोग जातिच्युत नहीं थे क्योंकि वे सदा सदाचारी होते थे)। जड़ता उपवन के चन्दनों में थी, अन्यत्र नहीं। भूतिमत्ता (भस्मधारण) अग्नियों में थी, अन्यत्र नहीं। गीत सुनने का व्यसन मृगों को था (यह बुरा व्यसन और किसी को न था)। नाचने के समय मयूरों को पंख गिरते थे (और किसी को नृत्य के लिये विशेष अनुराग न था)। भोग (फण) साँपों को था, मनुष्यों के भोग नहीं था। वानरगण श्रीफल के अभिलाषी थे। अन्य जन लक्ष्मी के फलों (श्रीफल) के इच्छुक न थे। अधोगति (नीचे जाना) वृक्षों की जड़ों में थीं, मनुष्यों में नहीं।

कादम्बरी का हृदयपक्ष

कादम्बरी में हृदय-पक्ष का प्राधान्य है। कवि अपने पात्रों के अन्तस्तल में प्रवेश करता है, अवस्था विशेष में होने वाली उनकी मानस वृत्तियों का विश्लेषण करता है तथा उचित पदन्यास के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति करता है। पुण्डरीक के वियोग में महाश्वेता के हार्दिक भावों की रम्य अभिव्यक्ति बाण की ललित लेखनी का चमत्कार है। चन्द्रापीड के जन्म के अवसर राजा तथा रानी के हृदयगत कोमल भावनाओं का चित्रण बड़ा ही रमणीय तथा तथ्यपूर्ण हुआ है। चन्द्रापीड के प्रथम दर्शन के अनन्तर स्वदेश लौट आने पर कादम्बरी के भावों का चित्रण कवि के मनोवैज्ञा-

निक विश्लेषण का सुन्दर निदर्शन है। बाण की दृष्टि में प्रेम भौतिक सम्बन्ध का नामान्तर नहीं है, प्रत्युत वह जननान्तर में समुद्भूत आध्यात्मिक सम्बन्ध का परिचायक है। कादम्बरी 'जननान्तर सौहृदं' का सजीव चित्रण है। विस्मृत अतीत तथा जीवित वर्तमान को स्मृति के द्वारा एक सूत्र में बाँधने वाली यह प्रणय कथा है। बाणभट्ट ने दिखलाया है कि सच्चा प्रेम कुल और समाज की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। वह संयत तथा निष्काम होता है। काल की कराल छाया न उसे आक्रान्त कर सकती है, न काल का प्रवाह उसकी स्मृति को मलिन और धुँधला बना सकता है। महाश्वेता तथा पुण्डरीक का, कादम्बरी तथा चन्द्रापीड़ का अनेक जन्मों में अपनी चरितार्थता तथा सिद्धि प्राप्त करने वाला प्रेम इस आदर्श प्रणयका सच्चा निदर्शन है। बाणकी लेखन शैली विषय-वर्णन के नितान्त अनुरूप, उचित तथा सरस हैं। जहाँ हृदय के भावों की अभिव्यञ्जना है वहाँ न तो समासों का प्रयोग है और न वाक्यों की दीर्घता है। छोटे छोटे वाक्यों में ही वहाँ उचित वर्णन है। कपिञ्जल ब्रह्मचारी पुण्डरीक की मदनव्यथा से संतप्त होने के अवसर पर भर्त्सना कर रहा है—

सखे पुण्डरीक, नैतदनुरूपं भवतः। क्षुद्र-जनक्षुण्ण एष मार्गः। धैर्यधना हि साधवः। किं यः कश्चित् प्राकृत इव विक्लीभवन्तमात्मानं न रुणत्सि। क्व ते तद् धैर्यम्। क्वासौ इन्द्रिय जयः।

उपदेश देने के समय विषय को हृदयंगम तथा प्रभावशाली बनाने के विचार से इसी शैली का प्रयोग है। मन्त्री शुकनास युवराज चन्द्रापीड को लक्ष्मी के दोषों को दिखलाते समय लघु वाक्यों का प्रयोग कर रहा है—

लब्धापि दुःखेन पाल्यते। न परिचयं रक्षति। नाभिजनमभीक्षते। न रूपमालोकयते। न कुलक्रममनुवर्तते। न शीलं पश्यति। न वैदग्ध्यं गणयति।

परन्तु राजवैभव, नारी रूप छटा, प्रकृति-रमणीयता के चित्रण के अवसर पर कवि दीर्घ समास तथा अलंकारों से मण्डित वाक्यों का प्रयोग करता है जिससे पाठकों के हृदय पर वर्णन अपने संश्लिष्ट तथा संघटित रूप में अपने अंग-प्रत्यंग से परिपूर्ण भाव में अपना प्रभाव जमावे तथा उनके नेत्रों के सामने वस्तु का पूर्ण चित्र झलक उठे। शूद्रक, जाबालिका आश्रम, विन्ध्याटवी, महाश्वेता तथा कादम्बरी का वर्णन इसी शैली में प्रयुक्त होने से इतने सुन्दर तथा प्रभावशाली हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बाण की गद्य शैली तथा वर्ण्य विषय में अद्भुत सामञ्जस्य है।

कवि ने जिस प्रणय की यह मनोरम कहानी प्रस्तुत की है वह प्रणय भी बाहर चाकचिक्य से उत्पन्न रूप-छटा पर केवल अनुरक्तिमात्र नहीं है, प्रत्युत वह दो सहृदय व्यक्तियों के अन्तःस्तल को परस्पर बाँधने वाला, अनेक जन्मों तक अपनी अभिव्यक्ति करने वाला अलौकिक आनन्दोत्पादक विकार है। कादम्बरी की प्रणयलीला केवल एक ही जन्म से सम्बन्ध नहीं रखती, बल्कि वह तीन जन्मों के परिवर्तन होने पर भी अपने माधुर्य में किसी प्रकार के ह्रास का अनुभव नहीं करती। शरीर का परिवर्तन भले हो जाय, कर्मवश प्राणी नाना योनियों में भले ही भ्रमण करता रहे, परन्तु उसका दृढ़ प्रेम सदा ही उसका अनुगमन किया करता है। कादम्बरी की कथा हमें इस महान् तथ्य की सत्यता भली भाँति प्रतिपादित करती है।

शैली

बाणभट्ट की शैली गद्य कवियों के लिए आदर्शभूत है। वह प्रभावशाली गद्य के लिखने में नितान्त प्रवीण हैं। जो आलोचक बाण के गद्य को भारतीय जङ्गलों के समान भयावह तथा हिंस्र पशुओं के सदृश अप्रसिद्ध तथा कठिन शब्दों से मण्डित बतलाते हैं, वे सचमुच यथार्थता

से कोसों दूर हैं। चित्रण की सजीवता तथा प्रभावशालिता उत्पन्न करने के लिए बाणभट्ट ने समासबहुल ओजो-गुणमण्डिता शैली का स्थान-स्थान पर अवश्य आश्रय लिया है, परन्तु अन्यत्र छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग कर उन्होंने अपनी शैली को सशक्त तथा प्रभावोत्पादक बनाया है। कवि किसी एक शैली का क्रीत दास नहीं होता। वह तो विषय के अनुसार अपनी शैली को परिवर्तित किया करता है। जिन बाणभट्ट ने अटवी तथा सन्ध्या के वर्णन में दीर्घ समासों की छटा दिखलाई है, वे ही विरह-वर्णन के अवसर पर लघु-कलेवर प्रासादिक वाक्यों की शोभा प्रस्तुत करते हैं।

कपिञ्जल के द्वारा की गई पुण्डरीक की भर्त्सना कितनी प्रभावशालिनी है! सच तो यह है कि बाण के गद्य में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, चमत्कृत वर्णन-प्रणाली, अक्षय शब्द राशि तथा कल्पना-प्रसूत मौलिक अर्थों की उद्भावना विशेष रूप से पाई जाती है। उनके गद्य में इतना प्रभाव तथा प्रवाह है कि अनुकरण करने वाले कवियों के लाख प्रयत्न करने पर भी उनके गद्य में इतना चमत्कार उत्पन्न नहीं हो पाता। इसीलिए तो त्रिलोचन कवि की दृष्टि में बाण की रसभाववती कविता के सामने अन्य कवियों की रचना केवल चपलतामात्र है:—

हृदि लग्नेन बाणेन यन्मदोऽपि पदक्रमः।
भवेत् कविकुराङ्गाणां चापलं तत्र कारणम्॥

बाण की संस्कृत भाषा के सम्राट् हैं। शब्दों पर उनकी अद्भुत प्रभुता है, गद्य में अद्भुत प्रवाह है। कहीं उनका गद्य घोर रोर करने वाली बरसाती नदियों की भाँति बड़े वेग से बहता है, तो कहीं वह शरत्कालीन शान्त सरिता के समान मन्दगति से चलकर अपूर्व सौन्दर्य दिखलाता है। वाक्यों के नवीकरण की विलक्षण योग्यता बाणभट्ट में है। 'कथितपदता' तो ढूँढने पर भी नहीं मिलती।

सर्वत्र नव पदविन्यास, नूतन अर्थाभिव्यक्ति, मञ्जुल भावभंगी आलोचकों के लिए विस्मयावह आनन्द का साधन बनती है। संस्कृत गद्य में कितनी ओजस्विता आ सकती है, कितना मञ्जुल प्रवाह हो सकता है, कितनी भावाभिव्यंजना हो सकती है इसका पूर्ण परिचायक बाणभट्ट की कादम्बरी है। इसीलिए प्राचीन आलोचक धर्मदास मुग्ध होकर बाण की स्तुति में कह रहे हैं—

> रुचिर-स्वर-वर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
> सा किं तरुणी? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य॥

३

दण्डी

दण्डी

'अवन्ति सुन्दरी कथा' के आधार पर दण्डी का थोड़ा चरित्र प्राप्त होता है। कविवर भारवि के तीन लड़के हुए जिनमें 'मनोरथ' मध्यम पुत्र था। मनोरथ के भी चारों वेदों की भाँति चार पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें 'वीरदत्त' सब से छोटा होने पर भी एक सुयोग्य दार्शनिक था। 'वीरदत्त' की स्त्री का नाम 'गौरी' था। इन्हीं से कविवर दण्डी का जन्म हुआ था। बचपन में ही इनके माता पिता मर गये थे। ये काञ्ची में निराश्रय ही रहते थे। एक बार जब काञ्ची में विप्लव उपस्थित हुआ, तब ये काञ्ची छोड़कर जंगलों में इधर उधर भटकते फिरते थे। अनन्तर शहर में शान्ति होने पर ये फिर पल्लव-नरेश की सभा में आ गए और वहीं रहने लगे[१]।

---

[१] भारवि और दण्डी के इस सम्बन्ध के विषय में अब सन्देह होने लगा है। जिस श्लोक के आधार पर भारवि के साथ दण्डी के प्रपितामह

इस वर्णन से दण्डी के अन्धकारमय जीवन पर प्रकाश की एक गाढ़ी किरण पड़ती है। भारवि का सम्बन्ध उत्तरीय भारत से न होकर दक्षिण भारत से है। हिंदुओं की पवित्र नगरी काञ्ची (आधुनिक कांजीवरम्) इनकी जन्मभूमि थी। इनका जन्म एक अत्यन्त शिक्षित ब्राह्मण कुल में हुआ था। भारवि की चौथी पीढ़ी में इनका जन्म होना ऊपर के वर्णन से बिल्कुल निश्चित है। काञ्ची के पल्लव-नरेशों की छत्रछाया में इन्होंने अपने दिन सुखपूर्वक बिताए थे।

इस ग्रन्थ से दक्षिण भारत की एक किम्वदन्ती की भी यथेष्ट पुष्टि होती है। एम० रंगाचार्य ने एक किम्वदन्ती का उल्लेख किया है कि पल्लव राजा के पुत्र को शिक्षा देने के लिये ही दण्डी ने 'काव्यादर्श' की रचना की थी। काव्यादर्श के प्राचीन टीकाकार तरुणवाचस्पति की सम्मति में दण्डी ने निम्नलिखित प्रहेलिका में काञ्ची के पल्लव नरेशों की ओर इङ्गित किया है—

नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता।
अस्ति काचित्पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वया नृपाः॥
(पृ० ३०, श्लोक ११४)

दामोदर की एकता मानी जाती थी उस श्लोक में नये पाठ भेद मिलने से इस मत को बदलना पड़ा है। नया पाठ नीचे दिया जाता है—

स मेधावी कविर्विद्वान् भारविं प्रभवं गिराम्।
अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने॥

पहला पाठ प्रथमान्त 'भारविः' था, अब उसकी स्थान पर द्वितीयान्त 'भारविं' मिला है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि भारवि की सहायता से दामोदर की मित्रता विष्णुवर्धन के साथ हो सकी। अतः दामोदर दण्डी से प्रपितामह थे, भारवि नहीं। इस नये पाठ-भेद से दोनों के समय निरूपण के विषय में किसी तरह का परिवर्तन आवश्यक नहीं है।

अतएव दण्डी को काञ्ची के पल्लव-नरेश के आश्रय में मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं जान पड़ती।

स्थिति-काल

नवम शताब्दी के ग्रन्थों में दण्डी का नामोल्लेख पाये जाने से निश्चित है कि उनका समय उक्त शताब्दी से पीछे कदापि नहीं हो सकता। सिंघाली भाषा के अलंकार-ग्रन्थ 'सिय-बस-लकर' (स्व-भाषालंकार) की रचना काव्यादर्श के आधार पर की गई है[1]। इसका रचयिता, राजा सेन प्रथम, महावंश के अनुसार ८४६-६६ तक राज्य करता था। इससे भी पहले के कन्नड़ी भाषा के अलंकार ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' में काव्यादर्श की यथेष्ट छाया देखी गई है। इसके उदाहरण या तो काव्यादर्श से पूर्णतः लिये गए हैं या कहीं कहीं कुछ परिवर्तित रूप में रखे गए हैं। हेतु, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के लक्षण दण्डी से अक्षरशः मिलते हैं। ग्रन्थ के लेखक अमोघवर्ष का समय ८१५ ई० के आसपास माना जाता है। अतएव काव्यादर्श की रचना नवीं शताब्दी के अनन्तर कदापि स्वीकृत नहीं की जा सकती।

यह तो दंडी के काल की अन्तिम सीमा है। अब पूर्व की सीमा की ओर ध्यान देना चाहिये। यह निर्विवाद है कि काव्यादर्श के समग्र पद्य दण्डी की ही मौलिक रचना नहीं हैं। उनमें प्राचीनों के पद्य भी सन्निविष्ट हैं। 'लक्ष्म लक्ष्मी तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः' में दंडी के साफ तौर पर—'इति' शब्द के प्रयोग से यहाँ जाना जाता है कालिदास के प्रसिद्ध पद्यांश 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति' से उद्धरण दिया गया है। अतः इनके कालिदास अनन्तर होने में तो सन्देह का

---

[1] डाक्टर बारनेट—जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, १९०५।

स्थान ही नहीं है; परन्तु अन्य भाव-साम्यसे ये बाणभट्ट के अनन्तर के भी प्रतीत होते हैं।

अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः।

काव्यादर्श के इस पद्य में कादम्बरी में चन्द्रापीड़ को शुकनास द्वारा दिए गए उपदेश की छाया दीख पड़ती है। दण्डी को बाणभट्ट (७ वीं सदी का पूर्वार्द्ध) के अनन्तर मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं जान पड़ती है। प्रो० पाठक की सम्मति में काव्यादर्श में निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य हेतु का विभाग वाक्यपदीय के कर्ता भर्तृहरि (६५० ई०) के अनुसार किया गया है *।

अतः इनके सभा कवि दण्डी का समय सप्तम अन्त तथा अष्टम के आरम्भ में मानना उचित प्रतीत होता है। काव्यादर्श में उल्लिखित राजवर्मा (रातवर्मा) को यदि हम नरसिंहवर्मा द्वितीय (जिसका विरुद अथवा उपनाम राजवर्मा था) मान लें, तो किसी प्रकार की अनुपपत्ति उपस्थित नहीं होती। प्रो० आर० नरसिंहाचार्य† तथा डाक्टर बेलवल्कर‡ ने भी इन दोनों की एकता मानकर दंडी का समय सातवीं सदी का उत्तरार्द्ध बतलाया है। शैव धर्म के उत्तेजक पल्लवराज नरसिंह वर्मा का समय ६९०–७१५ माना जाता है।

ग्रन्थ

दण्डी के तीन ग्रन्थों की रचना परम्परया प्रसिद्ध हैं जिनमें 'काव्यादर्श' तो उनकी निःसन्दिग्ध रचना है। 'दशकुमार चरित'

---

* पाठक—इंडियन ऐंटिक्वेरी १९१२ ई०।

† Indian Antiquary. 1912 p.90.

‡ Notes on काव्यादर्श II chapter pp. 176–77

सुप्रसिद्ध गद्यकाव्य है जिसमें दश कुमारों का विचित्र रोमहर्षण चरित्त सरस गद्य में निबद्ध किया गया है। कुछ लोग काव्यादर्श में उल्लिखित 'छन्दोविचिति' को इनकी तीसरी रचना मानते हैं, परन्तु विद्यारूप से निर्दिष्ट होने के कारण यह ग्रन्थ सिद्ध नहीं होता (सा विद्या नौर्विवक्षणाम्—काव्यादर्श १।१०)। इसीलिए 'अवन्ती सुन्दरी कथा' दण्डी की तृतीय रचना मानी गई है।

दशकुमार चरित तीन भागों में विभक्त हैं। (१) पूर्व पीठिका (पाँच उच्छ्वास)। (२) दशकुमार चरित—(आठ उच्छ्वास)। तथा (३) उत्तर पीठिका। इनमें दशकुमार चरित ही दण्डी की वास्तविक रचना है। पूर्व पीठिका तथा उत्तर पीठिका दशकुमार चरित के पूरक मात्र हैं। प्रतीत होता है कि 'अवन्ति सुन्दरी' ही दशकुमार चरित की पूर्व पीठिका के समान थी क्योंकि दोनों कथाओं में नितान्त एकता है। काल-क्रम से अवन्ति सुन्दरी कथा के किसी कारण से लुप्तप्राय हो जाने के कारण किसी लेखक ने पूर्व पीठिका की रचना स्वयं कर मूल ग्रन्थ में जोड़ दिया। दशकुमार चरित में दश राजकुमार अपने अपने पर्यटनों का, विचित्र अनुभवों तथा प्रशंसनीय पराक्रमों का मनोरंजक वर्णन करते हैं। छल-कपट, मार-काट, तथा साँच-झूठ से ओतप्रोत होने के कारण यह एक सजीव रचना है। दण्डी ने तत्कालीन समाज को पैनी दृष्टि से देखा था। और इसलिये तत्कालीन समाज का व्यंग और विनोद से युक्त बड़ा ही सुन्दर तथा यथार्थ चित्रण अपने ग्रन्थ में किया है। समाज के शोभन पक्ष की अपेक्षा अशोभन पक्ष का भी चित्र प्रस्तुत कर दण्डी ने अपने चित्रण में जान फूँक दी है। दंभी तपस्वी, कपटी ब्राह्मण तथा छली वेश्याओं का वर्णन बड़ी जागरुकता के साथ किया गया है। तत्कालीन समाज की विचित्र प्रथाओं का भी चमत्कारी संकेत स्थान स्थान पर किया गया है।

दण्डी के पात्र

दण्डी के पात्र जीते जागते जगत के प्राणी हैं। इसलिये इन पात्रों के चरित्र बड़ी ही सुन्दर शैली में शिष्ट हास्य और मधुर व्यंग्य का आश्रय लेकर प्रस्तुत किये गये हैं। कथाओं में परस्पर सामंजस्य तथा क्रम-बद्धता है। वर्णन की दीर्घता न तो कथानक के प्रवाह को रोकती है और न अवान्तर कथाएँ मुख्य कथा में किसी प्रकार का अवरोध खड़ा करती हैं। भाषा शैली की दृष्टि से भी दशकुमार चरित एक श्लाघनीय रचना है। ये अपनी भाषा को अलंकारों के आडम्बर से चित्र विचित्र बनाने का प्रयास नहीं करते। इसीलिये भाषा में प्रवाह-पूर्ण, सजी हुई और मुहावरेदार है। सुबन्धु के गद्य के समान न तो यह 'प्रत्यक्षर श्लेषमय' है और न बाण के गद्य के 'समान सरस स्वर वर्ण पद' से सुशोभित है। अर्थ की स्पष्टता, रस की सुन्दर अभिव्यक्ति, शब्द का लालित्य, कल्पना की सजीवता—दण्डी की शैली के विशेष गुण हैं। प्राचीन आलोचकों ने दण्डी के पद लालित्य की इसीलिये प्रशंसा की है—दण्डिनः पद-लालित्यम्। इनका गद्य बड़ा ही चुस्त, व्यवहार-योग्य तथा रसमय है। जैसे 'अभवदीयं हि नैव किंचिन्मत्सं-बद्धम्। जीवितं हि नाम जन्मवतां चतुः पंचाप्यहानि।' इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्होंने अपने गद्य को अलंकारों से सुसज्जित नहीं किया। सुन्दर, सुभग तथा सुबोध संस्कृत गद्य लेखन की दृष्टि से दण्डी हमारे प्रशंसा के पात्र हैं।

दण्डी का स्थान गद्य के इतिहास में अपनी विशिष्टता लिए हुए है। कथानकों में कौतुक तथा विस्मयजनक घटनाओं के पुट देने से अद्भुत रस का प्रभूत संचार किया गया है। कथानक नितान्त सजीव हैं जिनके भीतर से तत्कालीन समाज पाठकों को अपनी मनोरम झाँकी दे रहा है। कथानकों के गुम्फन की भी कला बड़ी सुन्दर है। दण्डी

अनेक अप्रसिद्ध विद्याओं के पारंगत पण्डित प्रतीत होते हैं। राजनीति का प्रचुर वर्णन, कामशास्त्र के गूढ़ तथ्यों का प्रकटीकरण तथा चौरशास्त्र की अद्भुत विचित्र बातें किस पाठक को लेखक के विचित्र पाण्डित्य का परिचय नहीं देती? दण्डी जनता के कवि हैं और इसीलिए उनके काव्य में जनता के दुःख-सुख, वेदना और आनन्द का परिस्फुरण पर्याप्त मात्रा में हुआ है। उनकी सरल-सुबोध गद्य शैली ने उनके काव्य को और भी रुचिर बना डाला है। उनका गद्य श्लेष के बोझ से न तो दबा हुआ है और न समास के प्रहार से प्रताडित है। उनका गद्य दिन-प्रतिदिन के व्यवहारयोग्य, सजीव तथा चुस्त है। उसकी प्रासादिकता भी अनूठी है। इन्हीं कारणों से कतिपय आलोचक वाल्मीकि और व्यास के अनन्तर दण्डी को ही तीसरा कवि मानते हैं:—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यायिधाऽभवत् ।
कवि इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि ॥

इतर गद्य लेखक

महाकवि बाणभट्ट ने गद्य काव्य में लिखने में जो पद्धति चलाई उसका अनुकरण परवर्ती कवियों ने बड़े अभिनिवेश के साथ किया। धनपाल (१०वीं श०) की तिलकमञ्जरी ऐसे ही अनुकरण का श्लाघनीय प्रयास है। ये काश्यप गोत्रीय जैन थे और भोजराज के पितृव्य मुञ्जराज के सभासद् थे। इनकी तिलकमञ्जरी की भाषा बड़ी ओजस्विनी तथा प्रभावशालिनी है। वादीभ सिंह (१०वीं श०) का 'गद्य-चिन्तामणि' जैन पुराणों में उल्लिखित जीवन्धर की कथा का वर्णन सुन्दर शब्दों में करता है। वामनभट्ट बाण (१५वीं श०) का 'वेम भूपाल चरित' हर्षचरित के अनुकरण पर लिखा गया आख्यायिका ग्रन्थ है। इसके नायक राजा वेम या वीरनारायण हैं जो सुदूर दक्षिण के किसी प्रान्त के राजा थे। इस कवि का पदविन्यास मधुर है, अलंकार-योजना सरस है, अर्थों का स्फुटी-

करण गंभीर है। गद्य-कवि-सार्वभौम की उपाधि सर्वदा श्लाघनीय तथा स्तुत्य है। सोड्ढल (११वीं श०) की 'उदयसुन्दरी' कथा गद्य-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती है। लेखक गुजरात का रहने वाला शैव मतावलम्बी कायस्थ था। लाट देश के राजा वत्सराज (मृत्यु सं० १०५० ई०) के समय में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ। यह कथा गद्य-पद्यात्मिका है। इसके आठ उच्छ्वासों में प्रथम उच्छ्वास कविवंश का वर्णन करता है। नायिका नागलोगों के अधिपति शिखण्डतिलक की कन्या उदयसुन्दरी है और नायक प्रतिष्ठानपुर का राजा मलयवाहन है। कवि का रचनाकौशल चमत्कारजनक है।

चम्पू काव्य

उदात्तनायकोपेता गुणवद्वृत्तमुक्तका।
चम्पूश्च हारयष्टिश्च केन न क्रियते हृदि ॥

गद्य तथा पद्य के मिश्रण युक्त काव्य को 'चम्पू' कहते हैं—गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। चम्पू काव्य की उत्पत्ति संस्कृत साहित्य में बहुत पीछे हुई है। दशवीं शताब्दी से पहले का कोई भी चम्पू उपलब्ध नहीं होता। बौद्ध जातकों में गद्य-पद्य का मिश्रण है। संस्कृत में गद्य पद्यमयी वाणी के दृष्टान्त प्राचीन काल में मिलते हैं। जातकमाला तथा हरिषेण की प्रशस्ति में पद्य के साथ गद्य की रचना की गई है जिन्हें हम चम्पू का पूर्वरूप मान सकते हैं। परन्तु काव्य के सम्पूर्ण लक्षणों से समन्वित चम्पू की कल्पना बहुत ही पीछे की जान पड़ती है।

नलचम्पू

संस्कृत साहित्य का प्रथम चम्पू है—नलचम्पू। इसके रचयिता हैं—भट्ट त्रिविक्रम, जो शाण्डिल्यगोत्रीय श्रीधर के पौत्र तथा देवादित्य के पुत्र थे। इन्होंने बाणभट्ट के काव्य की प्रशंसा अपने ग्रन्थ में

की है तथा इनका एक श्लोक (पर्वतभेदि पवित्रं ६।२९) भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में उद्धृत किया है। ये राष्ट्रकूटवंशीय कृष्णद्वितीय के पौत्र, जगत्तुङ्ग के पुत्र इन्द्रराज के सभापण्डित थे। इनका समय दशवीं शताब्दी का आरम्भ है। नलचम्पू में नलदमयन्ती के कथा का मनोरम वर्णन है।

त्रिविक्रमभट्ट—की संस्कृत साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्धि है।इनके मनोरम पद्यों को अलंकारों के दृष्टान्त देने के लिए भोजराज तथा विश्वनाथ कविराज ने अपने अलंकार-ग्रन्थों में उद्धृत किया है। नलचम्पू में एक विचित्र विशिष्टता है। त्रिविक्रम संस्कृत साहित्य के सर्वप्रधान श्लेष-कवि हैं। नलचम्पू में जैसे सरस तथा प्रसन्न श्लेष पाये जाते हैं, उतने रमणीय तथा चमत्कार-जनक श्लेष इतनी अधिकता में अन्यत्र समुपलब्ध नहीं होते। त्रिविक्रम के लगभग चार सौ वर्ष पहले सुबन्धु ने प्रत्यक्षरश्लेषमयी वासवदत्ता का निर्माण किया, जिसने बाणभट्ट के कथनानुसार कवियों के गर्व को चूर्ण कर दिया (कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया)। परन्तु त्रिविक्रम के सामने सुबन्धु की कविता कुछ फीकी जँचती है। अपने प्रबन्ध को प्रत्यक्षरश्लेषमय बनाने की प्रतिज्ञा को निभाने के लिए कविबन्धु सुबन्धु ने खूब प्रयत्न किया है—कोई उपाय छोड़ा नहीं है और इस कार्य में उन्हें सफलता भी हुई है ; परन्तु इस कारण से इनका गद्य अत्यन्त कठिन हो गया है। नितान्त अप्रचलित तथा अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग इनके गद्य में अधिकता से किया गया मिलता है। सुबन्धु ने अभङ्ग श्लेप को ही विशेषतया अपनाया है परन्तु त्रिविक्रम भट्ट ने अप्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग से अपने काव्य को खूब बचाया है। इनकी कविता के पदविन्यास नितान्त मंजुल हैं—रचना इतनी मधुर है कि इसे बारम्बार पढ़ने पर भी चित्त को संतोष नहीं होता। 'शय्या' इतनी रमणीय है कि कोई भी पद अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता।

नलचम्पू की सब से अधिक विशिष्टता है—सभङ्ग श्लेष का प्रयोग। कवि को पता है कि सभङ्ग श्लेष के कारण कविता में कठिनता आ जाती है (वाचः काठिन्यमायान्ति भङ्गश्लेष विशेषतः) परन्तु सहृदय आलोचक एक स्वर से पुकारते हैं कि त्रिविक्रम की तरह सरल सभंग श्लेष संस्कृत में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। त्रिविक्रम ने छोटे-छोटे अनुष्टुपों में इतनी सुन्दरता के साथ सभंग श्लेष का प्रयोग किया है कि उसके समझने में पदों को विशेष तोड़ मरोड़ करने की जरूरत नहीं होती और अर्थ भी अनायास विशेष परिश्रम के बिना हृदयंगम हो जाते हैं। श्लेष के अतिरिक्त अन्य अलंकारों का भी प्रयोग कम चमत्कार-जनक नहीं है। इनकी 'परिसंख्या' भी कम मजेदार नहीं है। नलचम्पू में कालिदास की कविता की तरह न तो नैसर्गिक मंजुल पद-विन्यास है और न भवभूति की रचना की तरह शब्दार्थ का मनोरम सन्निवेश। फिर भी नलचम्पू में कविता की कुछ ऐसी विशेषता दीख पड़ती है जो कवि की अपनी सम्पत्ति कही जा सकती है।

त्रिविक्रम ने कितनी सुन्दरता के साथ कुकवियों की समता बालकों के साथ की है :—

अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः।
सन्त्येके बहुलालापाः कवयो बालका इव॥

नलचम्पू १।६

इस संसार में कुछ कविलोग बालकों के तरह हैं। जिस प्रकार बालक पदन्यास में—पैर रखने में—अप्रगल्भ होते हैं— अनिपुण हुआ करते हैं; उसी प्रकार ये कविजन भी कविता के पद जोड़ने में नितान्त असमर्थ हैं। बालक अपनी जननी (माता) के अनुराग का कारण हुआ करता है—बालक को देखकर माता का हृदय खिल जाता है;ये कविजन

भी पुरुषों के नीराग (राग के अभाव) के कारण होते हैं—इनकी कविता लोगों को पसन्द नहीं आती। बालक जिस प्रकार बहुलालाप (बहु + लाला + प) होते हैं—बहुत लाला (लार) पीने वाले होते हैं। उसी प्रकार ये कवि लोग भी बहुल आलाप वाले होते हैं। इनके काव्यों में कुछ चमत्कार तो होता नहीं, परन्तु वे लिखने से विरत नहीं होते—बहुत सी अनर्गल कविता श्रोताओं के गले मढ़ ही देते हैं। अतः कुकवियों तथा बालकों में कुछ भी अन्तर नहीं। सूक्ति चमत्कारिणी है तथा श्लेष प्रसन्न है !

भवन्ति फाल्गुने मासि वृक्षशाखा विपल्लवाः।
जायन्ते न तु लोकस्य कदापि च विपल्लवाः॥ (१।२७)

आर्यावर्त का वर्णन है। वहाँ फाल्गुन महीने में वृक्षों की शाखायें (वि + पल्लव) पल्लव रहित होती हैं; परन्तु वहाँ के रहने वालों को कदापि (विपद् + लवाः) छोटी सी विपत्तियाँ भी नहीं होतीं। 'विपल्लवाः' में श्लिष्टार्थ कितना विशद है।

इतर चम्पूकाव्य

त्रिविक्रमभट्ट के द्वारा प्रचारित चम्पू पिछली शताब्दियों में खूब ही लोकप्रिय हुआ। सोमदेवसूरि (१० वीं श०) का 'यशः तिलक' चम्पू कवि के परम गुरु यशोधर महाराज के चरित वर्णन के साथ जैनधर्म का व्यापक वर्णन करता है। भोजराज (११ वीं श०) का 'चम्पूरामायण' रामकथा का चम्पू-रूप है जिसमें कवि का शाब्दिक पाण्डित्य तथा अलंकारचातुर्य प्रचुर मात्रा में अभिव्यक्त है। कवि कर्णपूर (१६ वीं श०) का 'आनन्द वृन्दावन' चम्पू भगवान् श्रीकृष्ण की ललित लीलाओं का वर्णन सरस शब्दों में करता है। जीव गोस्वामी (१६ वीं श०) का 'गोपाल चम्पू' गौड़ीय वैष्णवों के समाज का गौरव रूप है जिसमें कृष्ण

की बाललीलाओं का बड़ा ही विस्तृत तथा प्रभावशाली वर्णन है। शेष श्रीकृष्ण (१६ वीं श०) का 'पारिजात-हरण' चम्पू एक सुप्रसिद्ध वैयाकरण की रचनामात्र है। नीलकण्ठ दीक्षित (१६३७ ई०) का 'नीलकण्ठ चम्पू' भगवान् शंकर की कथाओं का वर्णन करता है। वेङ्कटाध्वरि (१६४० ई०) का 'विश्वगुणादर्श' चम्पू एक नवीन शैली का ग्रन्थ है जिसमें भारत के प्रसिद्ध तीर्थों तथा नगरों के गुण-दोष का वर्णन बड़े ही सुंदर ढङ्ग से किया गया है। 'अनन्त-कवि' का 'चम्पू भारत' महाभारत कथा का बड़ा ही मञ्जुल तथा मनोरम चित्र प्रस्तुत करता है। चम्पू साहित्य में ये ही ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से नितान्त उपादेय तथा सुंदर हैं। उत्तर की प्रान्तीय भाषाओं ने चम्पू काव्य के रचना की ओर विशेष आग्रह नहीं दिखलाया, परन्तु आन्ध्र तथा मलयालम भाषा में चम्पुओं की लोकप्रियता आज भी बहुत अधिक है।

नवम परिच्छेद

कथा-साहित्य

व्यापक प्रभाव

पाश्चात्य-साहित्य में कथा को विशेष गौरव दिया जाने लगा है और इससे प्रभावित होकर पूर्वी साहित्य में भी इसकी महत्ता स्वीकृत होने लगी है—यह कथन आज कल के लिए सच्चा कहा जा सकता है परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि कथा साहित्य का उदय इसी भारतवर्ष में हुआ और इसने ही संसार के सामने इस साहित्यिक साधन की उपयोगिता सर्वप्रथम प्रदर्शित की। भारतीय साहित्य की विश्व-साहित्य के लिए जो देने हैं, उनमें इस साहित्यिक 'कथा' की देन विशेष महत्त्व रखती है। पाश्चात्य जगत् के प्राचीन कथासाहित्य से परिचित विद्वानों को इसे वताने की आवश्यकता नहीं कि यह भारतवर्ष ही कथा की उद्गम भूमि है। यहीं से इसने भ्रमण करना आरम्भ किया और वह समस्त सभ्य देशों के साहित्य में व्याप्त हो गई। षष्ठ शताब्दी में हम भारत में उन कथाओं की लोकप्रियता पाते हैं जिनका संग्रह 'पञ्चतंत्र; में हमें आज भी उपलब्ध हो रहा है। 'पञ्चतन्त्र' का भी अपना विशिष्ट इतिहास है जिसे जर्मन विद्वान् डाक्टर हर्टेल ने बड़े परिश्रम से खोज निकाला है। पञ्चतन्त्र की कहानियाँ बड़ी प्राचीन हैं। 'वृहत्कथा' (तीसरी शताब्दी) तथा 'तन्त्राख्यायिका' के रूप में उसका मौलिक रूप आज भी हमारे मनन के लिए विद्यमान है।

'पञ्चतन्त्र' विश्व साहित्य को भारतीय साहित्य की महनीय देन है। इन कहानियों के भ्रमण की कथा नितान्त रोचक तथा उपदेशप्रद है। उसका अनुशीलन हमें बताता है कि करटक तथा दमनक ('सियार पांडे') की चतुरता भारत के तथा अरब के निवासियों को समभाव से आनन्दित करती रही है। राजा शिवी के आत्मत्याग की कथा राजा भोज के सभासदों को उसी प्रकार उपदेश देती थी; जिस प्रकार फारस के बादशाह खुसरो नौशेरवाँ के दरबारियों को। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि जब षष्ठ शतक में भारत का तथा फारस का घनिष्ठ सम्बन्ध था, तब इन रोचक तथा उपदेशप्रद कथाओं की ओर इस न्यायी बादशाह (५३१ ई०—५७९ ई०) की दृष्टि आकृष्ट हुई। इसके दरबारियों में एक संस्कृत के ज्ञाता हकीम थे उनका नाम था 'बुरजोई'। इन्हीं हकीम साहब ने पहले पहल पञ्चतन्त्र का प्रथम अनुवाद पहलवी (प्राचीन फारसी) भाषा में ५३३ ई० में किया। इस अनुवाद के पचास वर्ष के भीतर ही एक ईसाई पादरी ने पहलवी से सीरिअन भाषा में ५६० ई० में कलिलग और दमनग के नाम से अनुवाद किया। ईसाई साधु का का नाम था—बुद। सीरिअन से अनुवाद अरबी में किया गया था। इस अनुवाद का नाम कलीलह और दमनह है जो प्रथम तन्त्र के प्रधान पात्र 'करटक तथा दमनक' के नाम पर दिया गया है। इस अनुवाद का श्रेय अब्दुल्ला बिन अलमुकफ्फा नामक विद्वान् को है। यह स्वयं तो मुसलमान था, पर इसका पिता पारसी था। यह अनुवाद ७५० ई० में किया गया। इसी शताब्दी में एक दूसरा भी अनुवाद प्रस्तुत किया गया। ७८१ ई० में अब्दुला बिन हवाजी ने पहलवी से अरबी में अनुवाद किया। इसी अनुवाद को सहल-बिन-नवबख्त ने 'यहिया' बरमकी की आज्ञा से अरबी कविता में किया जिसके लिए उसे एक हजार सुवर्ण दीनार पुरस्कार में मिले थे। पञ्चतन्त्र के अरबी में ये प्रसिद्ध अनुवाद हैं। समय-समय पर अन्य भी अनुवाद हुए। यह हुई सातवीं शताब्दी

में पश्चिमी जगत् में भारतीय कहानियों के भ्रमण की बात। इस शताब्दी से पहले ही ये भारत से पूरब भी पहुँच चुकी थीं, क्योंकि चीन भाषा के दो विश्वकोषों में (जिनमें प्राचीनतर ६६८ ई० में रचित है) बहुत-सी भारतीय कहानियों का अनुवाद चीनी भाषा में किया गया मिलता है। इसमें आश्चर्य नहीं, क्योंकि विश्वकोषों ने अपने लिए २०२ बौद्ध ग्रन्थों को आधार बतलाया है। इस प्रकार दो शताब्दी के भीतर ही ये भारतीय कहानियाँ अरब से लेकर चीन तक फैल गईं।

अरबी भाषा मध्ययुग की सभ्य भाषा थी। अरबी में अनुवाद होते देर नहीं हुई कि कहानियाँ पश्चिमी जगत् के साहित्य में प्रवेश कर गईं और भिन्न-भिन्न देशों की भाषाओं में इनके अनुवाद होने लगे। लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फ्रेंच, स्पैनिश तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं में इसके अनुवाद धीरे-धीरे मध्ययुग से १६ वीं शताब्दी तक होते रहे। ग्रीस के सुप्रसिद्ध कथासंग्रह 'ईसाप की कहानियाँ' तथा अरब की मनोरञ्जक कहानियाँ 'अरेबियन नाइट्स' के आधारभूत ये ही कहानियाँ हैं। इस तथ्य के अन्वेषक विद्वानों की यह मान्य सम्मति है। मध्ययुग में ये भारतीय कहानियाँ 'विदापइ की कहानियाँ—(विद्यापति की कथायें) के नाम से पश्चिमी जगत् में विख्यात थीं। ये कहानियाँ वहाँ के लोगों में इतनी प्रसिद्ध हुईं कि उन्हें इनके भारतीय होने का तनिक ख़याल भी न हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि भगवान् बुद्ध ईसाई सन्तों के बीच में विराजने लगे। मध्ययुग की एक सुविख्यात कहानी थी—बरलाम और जोजफ की कहानी। वह इतनी शिक्षाप्रद हुई कि कथा के पात्र ईसाई सन्तों में गिने जाने लगे। इनमें जोजफ़ स्वयं बुद्ध हैं। जोजफ़ बुदसफ़ के रूप में 'बोधिसत्त्व' का अपभ्रंश है। 'बोधिसत्त्व' बुद्धत्व प्राप्ति के लिए क्रियाशील व्यक्ति का ही द्योतक है। क्या यह कम आश्चर्य का विषय है कि बुद्ध ने इन्हीं कहानियों की कृपा से ईसाई सन्तों की माननीय पंक्ति में स्थान पा लिया। बेचारे ईसाइयों

को इसका बिल्कुल ध्यान न था कि जिसे वे अपने सन्तों में गणना कर रहे थे वे उनसे विरुद्ध धर्म के संस्थापक थे।

मध्ययुग की बात जाने दीजिए। उससे भी प्राचीन काल में भारतीय कहानियों का परिचय पश्चिमी जगत् को मिल गया था। 'सालोमान के न्याय' (सालोमन्स जजमेन्ट) के नाम से प्रसिद्ध कहानी का मूल भारतीय ही है। सिकन्दर की जितनी कहानियाँ ग्रीक, अरबी, हिब्रू तथा फारसी भाषाओं में मिलती हैं उनमें सर्वत्र उनकी माता के विषय में एक ही कहानी दी गई है। उसका पुत्रशोक इतना अधिक था कि वह किसी प्रकार कम ही नहीं हो रहा था। तब किसी विद्वान् ने उससे कहा कि यदि तुम हमारे लिए ऐसे घर से सरसों ला देगी जहाँ किसी की कभी मृत्यु न हुई हो, तो मैं तुम्हारे पुत्र को जिला दूँगा। बेचारी घर घर सरसों की तलाश में घूमती रही। अन्ततः देहधारियों के लिए मृत्यु आवश्यक अवसान है, इस तथ्य का पता उसे स्वयं लग गया। यह कहानी भी भारतीय है। बुद्ध के द्वारा 'कृशा गौतमी' का उपदेश ही इस कहानी का आधार है। इस प्रकार पञ्चतन्त्र की कहानियाँ केवल भारतवासियों को ही आनन्दित नहीं करतीं, प्रत्युत सभ्य संसार के अनेक देशों के निवासी उनसे आनन्द उठाते हैं तथा अपने जीवन को सुखमय बनाते हैं।

पञ्चतन्त्र

पञ्चतन्त्र जिन कथाओं का संग्रह है वे भारत में नितान्त प्राचीन हैं। पंचतन्त्र के भिन्न भिन्न शताब्दियों में तथा भिन्न भिन्न प्रान्तों में अनेक संस्करण हुए। कुछ तो आज भी उपलब्ध हैं। इनमें सबसे प्राचीन संस्करण 'तन्त्राख्यायिका' के नाम से विख्यात है जिसका मूल स्थान काश्मीर है। पंचतन्त्र के भिन्न भिन्न चार संस्करण उपलब्ध हैं—
(१) पंचतन्त्र का पहलवी अनुवाद, जो उपलब्ध तो नहीं है, परन्तु

जिसकी कथाओं का परिचय सीरिअन तथा अरबी अनुवादों की सहायता से प्राप्य है (२) दूसरा संस्करण गुणाढ्य की बृहत्कथा में अन्तर्निविष्ट है। है। यह बृहत्कथा पैशाची भाषा में थी, मूल इसका नष्ट हो गया है परन्तु ११ वीं शताब्दी के क्षेमेन्द्र-रचित बृहत्कथामञ्जरी तथा सोमदेव का कथासरित्सागर इसी ग्रन्थ के अनुवाद हैं। (३) तृतीय संस्करण 'तन्त्राख्यायिका' तथा उसी से सम्बद्ध जैन कथासंग्रह है। आजकल का प्रचलित पंचतन्त्र इसी का आधुनिक प्रतिनिधि है। (४) चौथा संस्करण दक्षिणी पञ्चतन्त्र का मूलरूप है। नैपाली पंचतन्त्र तथा हितोपदेश इस संस्करण के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार पंचतन्त्र एक सामान्य ग्रन्थ न होकर एक विपुल साहित्य का प्रतिनिधि है।

पंचतन्त्र से प्राचीनतर कथासंग्रह बौद्ध जातकों में उपलब्ध है। ये जातक भगवान् बुद्ध के प्राचीन जन्म की मनोरञ्जक कहानियाँ हैं। इनका उद्देश्य यह दिखलाना है कि अनेक जन्म में पारमिताओं के अभ्यास करने से बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। जातक कथाओं की संख्या ५५० है। इसके भीतर विपुल ज्ञातव्य ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक सामग्री मिलती है जिनके अनुशीलन करने से बुद्ध के समय के अथवा उससे भी प्राचीन काल के भारतीय इतिहास का रमणीय चित्र उपलब्ध होता है। अत्यन्त प्राचीन काल से दन्तकथा या लोककथा के रूप में जो कहानियाँ चली आती थीं उनका इन जातकों में विशाल समुच्चय है।

जातकों से भी प्राचीन सामग्री वैदिक साहित्य में स्वयं उपलब्ध होती है। ब्राह्मण और उपनिषदों में जो कहानियाँ विस्तार के साथ मिलती हैं उन कहानियों का संकेत ऋग्वेद की संहिता में स्वयं प्राप्त होता है। ऋग्वेद में बहुत से सूक्त ऐसे उपलब्ध होते हैं जिनमें दो या तीन पात्रों में परस्पर कथनोपकथन विद्यमान हैं। इन सूक्तों को 'संवाद सूक्त' कहते हैं। भारतीय साहित्य के अनेक अङ्गों का उद्गम इन्हीं

संवाद सूक्तों से होता है। इनके अतिरिक्त सामान्य स्तुतिपरक सूक्तों में भी भिन्न-भिन्न देवताओं के विषय में अनेक मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद आख्यानों की उपलब्धि होती है। संहिता में जिन कथाओं की केवल सूचनामात्र है उनका विस्तृत वर्णन बृहद्देवता में तथा षड्गुरुशिष्य की 'कात्यायन सर्वानुक्रमणी' की वेदार्थदीपिका टीका में किया गया है। निरुक्त में यास्क ने तथा सायण ने अपने भाष्य में इन कथाओं के रूप तथा प्राचीन आधार को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। 'द्या द्विवेद' का उद्योग इस विषय में अत्यन्त श्लाघनीय है। ये गुजरात के रहने वाले थे तथा १५ वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने समस्त वैदिक कहानियों का अध्ययन कर उनसे प्राप्त शिक्षाओं को प्रदर्शित करते हुए एक बहुत ही उपयोगी पुस्तक लिखी है। इस ग्रन्थ का नाम 'नीति-मञ्जरी' है। इन्होंने षड्गुरुशिष्य की वेदार्थदीपिका (११८४ ई०) से तथा सायण के वेदभाष्य (१४ शताब्दी) से अनेक उद्धरण अपने ग्रन्थ में लिये हैं। नीतिमंजरी की एक हस्तलिखित प्रति से पता चलता है कि इसकी रचना १५५० वि० सं० (१४९४ ई०) में की गई थी। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर वेद को कहानियों का मूल स्रोत मानना उचित प्रतीत होता है। वेद में आई हुई कहानियाँ पुराणों में आकर कुछ रूपान्तरित हो गई हैं। रामायण तथा महाभारत में इनके कई अंशों में परिवर्तन दीख पड़ता है परन्तु कथानक का मूल एक ही है। बौद्ध साहित्य तथा जैन साहित्य में भी इन कहानियों के प्रतिनिधि विद्यमान हैं। कहानियों का यह रूपान्तर कहाँ, कब और किन कारणों से सम्पन्न हुआ? यह कथा-साहित्य के विद्यार्थियों के लिए गवेषणा का विषय है।

पञ्चतन्त्र में पाँच तन्त्र हैं (तन्त्र का अर्थ है भाग)—मित्रभेद, मित्रलाभ, सन्धिविग्रह, लब्धप्रणाश तथा अपरीक्षित कारक। प्रत्येक तन्त्र में मुख्य कथा एक ही है जिसके अंग को पुष्ट करने के लिए

अनेक गौण कथायें कही गई हैं। ग्रन्थकार का उद्देश्य आरम्भ से ही सदाचार तथा नीति का शिक्षण रहा है। कहा जाता है कि दक्षिण के माहिलारोप्य नामक नगर में अमरकीर्ति नामक राजा निवास करते थे। उन्हें अपने मूर्ख पुत्रों को विद्वान् तथा नीति-सम्पन्न बनाने के लिए योग्य गुरु की आवश्यकता थी। उन्हें योग्य गुरु मिले विष्णुशर्मा। ये लोक तथा शास्त्र दोनों विषयों के पारंगत पण्डित थे और इसीलिए उन्होंने स्वल्प समय में राजकुमारों को व्यवहार-कुशल, सदाचार-सम्पन्न तथा नीतिपटु बना दिया। ग्रन्थकार की नीतिमत्ता ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर झलकती है। संसार के भिन्न भिन्न कार्यों के निरीक्षण की शक्ति ग्रन्थकार में खूब है। उनमें विनोद-प्रियता भी कम नहीं है। पञ्चतंत्र की भाषा महावरेदार सीधी-सादी है। वाक्य विन्यास में न तो कहीं दुरूहता है और न भावों के समझने में दुर्बोधता। कथानक का वर्णन गद्य में किया गया है पर उपदेशात्मक सूक्तियाँ पद्य में निहित हैं और ये पद्य रामायण, महाभारत तथा अन्य प्राचीन नीतिग्रन्थों से संगृहीत हैं। ऊपर सप्रमाण दिखलाया गया है कि पञ्चतन्त्र का प्रभाव विश्व-व्यापी है। सच्ची बात यह है कि पञ्चतन्त्र भारतीय साहित्य का अङ्ग न होकर विश्व-साहित्य का एक महनीय अङ्ग है।

हितोपदेश

नीति-कथाओं में पञ्चतन्त्र के बाद हितोपदेश का ही नाम आता है। इसके रचयिता 'नारायण पण्डित' जिनके आश्रयदाता बंगाल के राजा धवलचन्द्र थे। ग्रन्थ की रचना १४ वीं शताब्दी के आसपास की है। ग्रन्थकार ने स्वयं लिखा है कि उसका मूल आधार पञ्चतन्त्र ही है। हितोपदेश की आधी कथायें पञ्चतन्त्र से ही ली गई हैं। इसके चार परिच्छेद हैं:—मित्रलाभ, सुहृद-भेद, विग्रह और सन्धि। इसकी भाषा सरल और सुबोध है। श्लोक नितान्त उपदेशात्मक है तथा कथायें

शिक्षाप्रद हैं। पञ्चतन्त्र की अपेक्षा हितोपदेश लोकप्रिय रहा है। सर्वप्रथम संस्कृत अध्ययन करने वाले छात्रों को हितोपदेश ही पढ़ाया जाता है। कथा के व्याज से नीति का कहना जितना रुचिकर होता है उतना उपदेशप्रद नहीं। इसीलिए हितोपदेश संस्कृत के अभ्यासी छात्रों के लिए संस्कृत-विद्यामन्दिर का द्वारस्थानीय है।

बृहत्कथा

समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा॥

—बाण

संस्कृत में कथायें दो प्रकार की होती हैं—(१) उपदेशात्मक तथा (२) मनोरंजक। पहली प्रकार की कथायें पशु-पक्षी से सम्बन्ध रखती हैं और उनका प्रधान उद्देश्य उपदेश रहता है। दूसरी प्रकार की कथाओं का प्रधान लक्ष्य मनोरंजन रहता है और वे पशु-पक्षी के जीवन से सम्बन्ध न होकर जीते-जागते चलते-फिरते मनुष्य के जीवन से सम्बन्ध रखती हैं। मनोरंजक कथाओं का बृहत् संग्रह संस्कृत में विद्यमान है। इन कथाओं का प्राचीनतम संग्रह 'बृहत् कथा' में निबद्ध है। इस कथा की रचना महाराजा हाल के सभाकवि गुणाढ्य ने की। इसके रचनाकाल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग इसे पंचम शतक की रचना मानते हैं, परन्तु अधिकांश विद्वानों की सम्मति में इसकी रचना विक्रम की प्रथम शताब्दी में हुई। मूल बृहत्कथा पैशाची भाषा में लिखी गई थी। पैशाची भाषा प्राकृत भाषाओं में अन्यतम है जिसके रूप का परिचय तो हमें प्राकृत व्याकरणों से मिलता है परन्तु जिसके उदाहरण का पता बृहत्कथा के नष्ट हो जाने से नहीं मिलता। आज-कल बृहत्-कथा के तीन संस्कृत अनुवाद उपलब्ध होते हैं—

(१) बुद्धस्वामी कृत बृहत्कथा श्लोक संग्रह—ये नैपाल के रहने वाले थे और इनका समय ८ वीं या नवमी शताब्दी माना जाता है। प्राचीनतम अनुवाद यह ही है।

(२) क्षेमेन्द्र-कृत-बृहत्कथामंजरी—ये काश्मीर के राजा अनन्त के आश्रित कवि थे। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी है। इसमें ७५०० श्लोक हैं। कविता ऊँचे दर्जे की है। पर मूल कथानक का कितना रक्षण हो पाया है, यह कहना कठिन है।

(३) सोमदेव कृत 'कथासरित्सागर'—ये काश्मीर के राजा अनन्त तथा क्षेमेन्द्र के समकालीन थे। यही सबसे प्रसिद्ध अनुवाद है जिसमें २४००० श्लोक हैं।

इन तीनों अनुवादों में मूल बृहत्कथा का कितना अंश सुव्यवस्थित रूप से उपस्थित मिलता है, इसका यथार्थ निर्णय प्रमाणाभाव से नितान्त दुरूह कार्य है। इनमें नैपाली बृहत्कथा संक्षिप्त तथा केवल कथाओं के वर्णन में ही एकमात्र आसक्त दृष्टिगोचर होती है, उसमें काव्य शैली का ग्रहण कर कथानक को बाह्य आख्यानों तथा अलंकृत वर्णनों से व्यर्थ लादने का प्रयास नहीं है। काश्मीरी बृहत्कथा में कलात्मक अंश का प्राचुर्य है। क्षेमेन्द्र ने कथाभाग को बहुत संक्षिप्त बना दिया है, यद्यपि उन्होंने नवीन पदार्थ तथा दृश्यों के वर्णन से उसे सुसज्जित तथा अलंकृत बनाने का अश्रान्त प्रयास किया है। सोमदेव का 'कथा सरित्सागर' क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ की अपेक्षा मात्रा में तिगुना है। सोमदेव की शैली बहुत ही सुन्दर, प्रवाहमयी तथा वस्तुप्रधान है। वे अपने छोटे छोटे शब्दों को अलंकृत करने में दत्तचित्त नहीं है, प्रत्युत कथानक को सुन्दर ढंग से कहना ही उनका लक्ष्य प्रतीत होता है। इसमें उनके काव्य में बाह्य आडम्बर की अपेक्षा मूल वस्तु की रक्षा का ही विशेष उद्योग है।

बृहत्कथा से बढ़कर प्राचीन कथाओं का संग्रह दूसरा कोई नहीं है।

वाल्मीकि और व्यास के अतिरिक्त गुणाढ्य भी भारतीय कवियों के उपजीव्य रहे हैं। कथानक की विचित्रता के साथ-साथ रस का परिपाक अच्छे ढंग से किया गया है। इसके नायक हैं महाराज उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त। वे अपने मित्र गोमुख की सहायता से अपनी प्रियतमा 'मदनमञ्जूषा' के पाणिग्रहण करने तथा विद्याधरों का साम्राज्य प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। अवान्तरकालीन कथा-साहित्य के ऊपर बृहत्कथा का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। रामायण तथा महाभारत के समान यह भी संस्कृत-साहित्य का जाज्वल्यमान हीरक है। महाकवि भास, श्रीहर्ष, तथा भट्टनारायण अपने नाटकों के वस्तु-ग्रहण के लिए बृहत्कथा के विशेष रूप से ऋणी हैं। बृहत्कथा की कीर्ति केवल भारत में ही सीमित नहीं है अपि तु बृहत्तर भारत में भी फैली हुई है।

दण्डी[1], सुबन्धु[2], और बाणभट्ट—सभी ने अपने ग्रन्थों में इसका आदर के साथ उल्लेख किया है। त्रिविक्रमभट्ट[3] ने नलचम्पू में तथा सोमदेव ने अपने यशस्तिलक चम्पू में इसकी प्रचुर प्रशंसा की है। गोवर्धनाचार्य[4] ने तो गुणाढ्य को महर्षि व्यास का नूतन अवतार बतलाया है। बाणभट्ट बृहत्कथा को भगवान् शंकर की लीला के समान विस्मयकारिणी बतलाते हैं।

---

[1] —भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्—काव्यादर्श १।३८

[2] —बृहत्कथालम्बैरिव सालभंजिकानिवहैः—वासवदत्ता।

[3] धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रंजितो जनः। नलचम्पू

[4] अतिदीर्घजीविदोषाद् व्यासेन यशोऽपहारितं हन्त।
कैर्नोच्येत गुणाढ्यः स एव जन्मान्तरापन्नः।
—आर्यासप्तशती।

अन्य कहानियाँ

वेताल-पंचविंशतिका (वैताल पचीसी) की रचना का श्रेय 'शिवदास' नामक लेखक को दिया गया है। इस गद्य ग्रंथ में राजा विक्रम से सम्बद्ध पचीस रोचक कहानियाँ सरल संस्कृत में कही गई हैं। प्रत्येक कथा में राजा की व्यावहारिक बुद्धि का पर्याप्त परिचय मिलता है। ये कहानियाँ काफी प्राचीन हैं क्योंकि बृहत्कथा-मंजरी तथा कथासरितसागर (११ शतक) में इनका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। 'शुकसप्तति' तथा 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' (सिंहासन बतीसी) की कहानियाँ मनोरञ्जन की दृष्टि से नितान्त उपादेय हैं। कहानियों की सृष्टि में केवल ब्राह्मण कवि ही निपुण न थे प्रत्युत बौद्ध पण्डितों ने भी संस्कृत साहित्य में सुन्दर तथा मनोरम कथाओं का प्रणयन किया है। 'दिव्यावदान' तथा 'अवदान शतक' में भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म से सम्बद्ध कहानियाँ विद्यमान हैं। आर्यशूर की 'जातक माला' में पद्य-बद्ध जातकों की कथायें निबद्ध हैं। यह काव्य चतुर्थ शतक के आस पास लिखा गया। इत्सिंग नामक चीनी परिव्राजक (सप्तम शतक) ने आर्यशूर को अपने समय का विशेष लोकप्रिय कवि बतलाया है। इस प्रकार संस्कृत का कथासाहित्य व्यापक, विस्तृत तथा विशाल है जिसका प्रभात भारत के बाहर के प्रदेशों पर खूब गहरा पड़ा है।

तृतीय खण्ड

दृश्य काव्य

(१) मूल प्रवृत्ति तथा उदय
(२) जवनिका
(३) भारतीय रंगमंच
(४) रूपक का अभ्युदय
(५) रूपक के अन्य भेद

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं ।
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ।।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते ।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ।।

—कालिदास

दशम परिच्छेद

मूल प्रवृत्ति तथा उदय

महत्त्व

नाटक संस्कृत साहित्य का एक गौरवपूर्ण अंग है। नाटकों ने इस साहित्य को वह महत्त्व प्रदान किया है जिससे इसकी कीर्ति-कौमुदी संसार भर में चमकने लगी है। जिस ग्रन्थ ने भारतीय साहित्य के सौन्दर्य को, कोमल कल्पना को तथा मनोहर रसपरिपाक को संसार के मनीषियों के सामने अभिव्यक्त किया वह महाकवि कालिदास के द्वारा रचित नाटक (अभिज्ञान-शकुन्तल) ही था। काव्य की अपेक्षा नाटक की प्रतिष्ठा सदा अधिक रही है। काव्य के आनन्द से वञ्चित रहने वाले भी व्यक्ति नाटक का मनोहर अभिनय देखकर असीम अलौकिक आनन्द की उपलब्धि करते हैं। इसके लिये कारण की खोज में कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। काव्य श्रवण-मार्ग से हृदय को आकृष्ट करता है तथा अपना प्रभाव जमाता है। परन्तु नाटक नेत्र-मार्ग से हृदय को चमत्कृत करता है। किसी वस्तु के देखने का आनन्द उसके सुनने की अपेक्षा कहीं अधिक होता ही है। काव्य में रसानुभूति के लिए अर्थ का समझना नितान्त आवश्यक होता है परन्तु नाटक में इसकी आवश्यकता नहीं। इसलिए नाटक की समता चित्र से की गई है[1]। जिस प्रकार चित्र भिन्न भिन्न रङ्गों के सम्मिश्रण से सहृदय दर्शकों के चित्त में

---

[1] सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्—वामन—काव्यालंकारसूत्र १।३।३०,३१।

रस का स्रोत बहाता है, ठीक उसी प्रकार नाटक भी वेशभूषा, नेपथ्य-रचना आदि उचित संविधानों से दर्शकों के हृदय पर एक अमिट प्रभाव डालता है तथा उनके हृदय में आनन्द का उदय कराता है। संस्कृत के प्रसिद्ध आलंकारिक वामन ने इसीलिए काव्यों में रूपक को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। रूपक की श्रेष्ठता का एक और भी कारण है। काव्य की विशद रसानुभूति के लिए जिस कवित्वमय वातावरण की आवश्यकता होती है उसकी सृष्टि सभी नहीं कर सकते। वह तो कल्पना से प्रसूत होती है। इसी लिए काव्य का रसास्वाद सहृदयों को ही हुआ करता है। परन्तु अभिनय में तो रसोपभोग की सकल सामग्री संविधानकों के द्वारा उपस्थित की जाती है। रसानुभूति के लिए वातावरण स्वयं उपस्थित हो जाता है। उसकी कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रहती। यही कारण है कि साधारण व्यक्तियों के लिए भी काव्य की अपेक्षा नाटक का आकर्षण विशेष प्रभावशाली होता है। इसीसे नाटक कवित्व की चरम सीमा माना जाता है—नाटकान्तं कवित्वम्।

उद्देश्य

नाटक का उद्देश्य अत्यन्त महत्त्वशाली है। भारत ने नाट्य को 'सार्ववर्णिक' वेद कहा है क्योंकि अन्य वेद केवल द्विजमात्र के लिए उपयोगी तथा उपादेय होते हैं। परन्तु नाट्य का उपयोग प्रत्येक वर्ण के लिए है। प्रत्येक व्यक्ति इस आनन्द का अधिकारी माना गया है। नाटक का प्रभाव किसी एक प्रकार की अभिरुचिवाले लोगों के ऊपर नहीं होता प्रत्युत यह सार्वजनिक मनोरञ्जन होने के कारण समाज के लिए ग्राह्य तथा उपादेय होता है। नाटक का विषय भी सीमित नहीं होता प्रत्युत तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन इसमें रहता है[1]। यह शक्ति-हीनों

---

[1] त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।

के हृदय में शक्ति का संचार कराता है, शूरवीरों के हृदय में उत्साह बढ़ाता है, अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान कराता है और विद्वानों में विद्वत्ता का उत्कर्ष करता है। नाटक है लोकवृत्त का अनुकरण[१]। इस विशाल विश्व के पट पर सुख दुःख की जो प्रवृत्तियाँ अपना खेल दिखाया करती हैं तथा मानवजीवन को सुखमय या दुःखमय बनाती हैं उन सब का चित्रण नाटक का अपना विशिष्ट उद्देश्य है। इसीलिए भरतमुनि का कहना है कि कोई भी ऐसा ज्ञान, शिल्प, विद्या, योग अथवा कर्म ऐसा नहीं है जो इस नाट्य में नहीं दिखलाई पड़ता[२]। इसीलिए कालिदास ने भिन्न रुचिवाले लोगों के लिए नाटक को एक सामान्य मनोरञ्जन का साधन बतलाया है[3]।

प्रकार

दृश्यकाव्य के लिए 'रूपक' शब्द का व्यवहार करना उचित है। रूपक दश प्रकार का होता है जिसका महत्त्वपूर्ण प्रकार नाटक माना जाता है। नाटक के अतिरिक्त रूपक के भेद ये हैं—(१) प्रकरण (२) भाण (३) प्रहसन (४) डिम (५) व्यायोग (६) समवकार (७) वीथि (८) अङ्क (९) ईहामृग। इनके सिवाय १८ प्रकार के उपरूपकों का भी नाम तथा लक्षण नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में मिलते

---

[१] नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥

—नाट्यशास्त्र १।१०९

[२] न तज् ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगी न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

—नाट्यशास्त्र १।११४

[३] नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्। —कालिदास

हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि संस्कृत का रूपक साहित्य बड़ा विशाल, व्यापक तथा नानारूपात्मक है। परन्तु दुःख है इन सब प्रकारों के उदाहरण रूप ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं है।

प्राचीनता

संस्कृत साहित्य में नाटकों की उत्पत्ति बहुत प्राचीन काल में हो चुकी थी। वैदिक युग में भी नाट्य के अस्तित्व का परिचय हमें भलीभाँति चलता है। ऋग्वेद के सूक्तों से ज्ञात होता है कि सोम-विक्रय के समय एक प्रकार का अभिनय हुआ करता था जिसका उद्देश्य दर्शकों का मनोरञ्जन था। 'महाव्रतस्तोम' के अवसर पर कुमारियाँ अग्नि की परिक्रमा करती हुई नाचती तथा गाती थीं। यजुर्वेद में 'नट्' शब्द तो नहीं परन्तु 'शैलूष' शब्द उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में अनेक सूक्त विद्यमान हैं जिनमें भिन्न भिन्न व्यक्तियों का आपस में कथनोपकथन है। इन्हीं सूक्तों को 'सम्वाद सूक्त' कहते हैं। इसमें नाटकीय अंश अवश्य विद्यमान है। सामवेद तो संगीत का आकार ही ठहरा। सामों का गायन भिन्न-भिन्न स्वरों में इतनी मधुरता के साथ किया जाता था कि श्रोताओं का हृदय आनन्द से आप्यायित हो जाता था। इससे स्पष्ट है कि नाट्य के विकास के लिए नृत्य, गीत, वाद्य आदि जिन आवश्यक उपादानों की आवश्यकता होती है उनकी सत्ता प्रचुर-मात्रा में वैदिक युग में थी।

रामायण और महाभारत के युग में इस कोमल कला की ओर भारतीयों का ध्यान था, इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है। रामायण में 'शैलूष' 'नट' तथा 'नर्तक' का उल्लेख अनेक प्रसंगों में किया गया है। वाल्मीकि का कहना है कि जिस जनपद में राजा नहीं रहता उसमें कहीं 'नट' और 'नर्तक' प्रसन्न नहीं दिखाई देते[1]। रामायण

---

[1] नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः —वा. रा. २।६७।१५

में 'नर्तन' के साथ साथ नाटक के प्रदर्शन का भी वर्णन विद्यमान है। महाभारत में भी 'नट' नर्तक' 'गायक' सूत्रधार' आदि का निर्देश मिलता है[1]। हरिवंश में जो महाभारत का ही एक अंग है रामचरित के नाटक-रूप में दिखलाये जाने का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि इस युग में नाटक जनसाधारण की श्रद्धा और सम्मान का भाजन था। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'शिलालि' तथा 'कृशाश्व' के द्वारा रचित नटसूत्रों उल्लेख किया है[2]। इससे सिद्ध है कि नाटकों का उस समय इतना प्रचार था कि नटों की शिक्षा के लिए स्वतन्त्र सूत्र ग्रन्थों की रचना होने लगी थी। पतञ्जलि के महाभाष्य में इस विषय की बड़ी ही उपादेय बातें संगृहीत हैं। 'कंसं घातयति' (कंस को मारता है)[3] 'बलिं बन्धयति' (बलि को बाँधता है) में प्रयुक्त वर्तमानकालिक क्रिया का समाधान करते हुए भाष्यकार ने उन नटों ('शोभनिक' या सौभिक) का उल्लेख किया है जो प्रत्यक्ष रूप में सबके सामने कंस को मारते हैं तथा बलि को बाँधते हैं। यहाँ पतञ्जलि ने अपने समय में प्रचलित 'कंसवध' तथा 'बलिबन्ध' नामक नाटकों का उल्लेख किया। इतना ही नहीं, इनके अभिनय की ओर भी संकेत किया है। उनका कहना है कि कंसवध नाटक में कंस के भक्त लोग तो काला-मुख बनाकर अभिनय करते थे और कृष्ण के अनुयायी अपना मुँह लाल रंग से रंगकर अभिनय करते

---

[1] आनर्ताश्च तथा सर्वे नटनर्तकगायकाः। वनपर्व १५।१३

[2] पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ४।३।११०
कर्मन्दकृशाश्वादिनिः ४।३।१११

[3] ये तावदेते शोभनिका (सौभिका) नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्ति इति।…अतश्च सतः व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते केचित् कंसभक्ता भवन्ति केचित् वासुदेवभक्ताः। वर्णा यत्वं खलु पुष्यन्ति। केचिद्रक्तमुखा भवन्ति केचित् कालमुखाः।

थे। पतञ्जलि का यह कथन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि विक्रम के पूर्व द्वितीय शतक में नाटकों का अभिनय जनता के मनोरञ्जन का एक अति उत्तम तथा सर्वप्रिय साधन था। कामसूत्र में वात्स्यायन (द्वितीय शतक) ने भी 'नागरक' के मनोरञ्जन का वर्णन करते समय पक्ष या मास के किसी प्रसिद्ध दिन सरस्वती के मन्दिर में समाज (उत्सव) के होने तथा उस समय बाहर से आये हुए नटों (कुशीलवों) के द्वारा अभिनीत नाटकों के प्रदर्शन का उल्लेख किया है[1]। इन सब उल्लेखों से प्रमाणित होता है कि वैदिक काल से लेकर विक्रम के समय तक नाटकों का प्रचलन इस देश में था। नटों की शिक्षा के लिए भी ग्रन्थ रचे गये थे। विक्रम के समय में हमारे आद्य नाटककार कालिदास का प्रादुर्भाव हुआ और तभी से नाटकों की रचना एवं उनके प्रदर्शन की प्रथा अविच्छिन्न रूप से इस भारतवर्ष में चली आ रही है। नाट्यकला भारत की निजी सम्पत्ति है, किसी बाहरी देश से उधार लिया हुआ धन नहीं है।

२

नाटक की उत्पत्ति

भारत में नाटक की उत्पत्ति कैसे हुई? किन उपादानों ग्रहण कर भारतीय नाट्यकला का उदय हुआ? ये प्रश्न अत्यन्त जटिल हैं। विद्वानों ने इस विषय की मीमांसा बड़ी छानबीन के साथ की है। पर उनमें से किसी का मत अभ्रान्त या विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

---

[1] पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातोऽहनि सरस्वत्याः भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः। कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षकमेषां दद्युः।

—कामसूत्र

इसका कारण स्पष्ट है। नाटक समाज के लिये दर्पणके समान होता है। समाज एक प्रकार से टिकने वाली वस्तु नहीं है। समाज नई विचार धाराओं का प्रवाह ज्यों ज्यों जैसे जैसे आता है, नये भावों की ज्यों ज्यों जागृति होती है, नाटक के रूप में भी वैसा ही परिवर्तन होता रहता है। आजकल भारतीय समाज की जो रूपरेखा है उसके आधार पर जिस प्रकार प्राचीन समाज का स्वरूप निश्चय करना कठिन है उसी प्रकार नाटक की वर्तमान स्थिति का अध्ययन कर उसके मूल कारणों को खोज निकालना नितान्त दुसाध्य है। पश्चिमी विद्वानों ने इस विषय को खोज निकालने का पर्याप्त उद्योग किया है। उन्होंने पाश्चात्य नाटक की उत्पत्ति के विषय में प्रचलित भिन्न भिन्न मतों को भारतीय नाटक की उत्पत्ति के विषय में लागू करने का यत्न किया है। परन्तु हमारी मान्य परम्परा के विरुद्ध होने के कारण ये मत सर्वथा ग्राह्य नहीं किये जा सकते। अतः इन विद्वानों के मतों का संक्षेप में उल्लेख कर देना ही यहाँ पर्याप्त होगा।

वीरपूजा

डाक्टर रिजवे नाटक की उत्पत्ति वीरपूजा से सम्बद्ध मानते हैं। नाटके प्रणयन की प्रवृत्ति तथा रुचि मरे हुए वीर पुरुषों के प्रति आदर दिखलाने की इच्छा से जाग्रत हुई। जिस प्रकार ग्रीक देश में नाटक (ट्रेजिडी) का जन्म मृत पुरुषों के प्रति किये गये सम्मान की प्रक्रिया से हुआ उसी प्रकार भारतवर्ष में नाटक वीरपूजा से ही उत्पन्न हुए। रामलीला तथा कृष्ण लीला इस प्रवृत्ति तथा सिद्धान्त को पुष्ट करने वाले आधुनिक उज्जवल दृष्टान्त हैं[1]।

यह मत योरोपियन विद्वानों को भी ग्राह्य नहीं है। क्योंकि आज-

---

[1] Dr. Ridgeway.—Drama and Dramatic Dances of non-European Races.

कल के प्रचलित नाटकीय उत्सवों के आधार पर नाटक का मूल खोज निकालना साहस का काम है। इसलिये डाक्टर कीथ ने नाटक की उत्पत्ति के विषय में एक नवीन मत की कल्पना की है। उनके मत में प्राकृतिक परिवर्तनों को जन-साधारण के सामने मूर्त रूप से दिखलाने की अभिलाषा से ही नाटकों का जन्म हुआ है[1]। महाभाष्य में निर्दिष्ट कंसवध नामक नाटक के अभिनय से इस मत को कुछ पुष्टि प्राप्त होती है। भाष्य में लिखा हुआ है कि कंस तथा उनके अनुयायी लोग काले मुख रखते थे तथा कृष्ण और उनके अनुयायी इस नाटक के अभिनय में रक्त मुख धारण करते थे। डाक्टर कीथ का कहना है कि इस नाटक का वसन्त ऋतु का हेमन्त ऋतु पर विजय दिखलाना ही मुख्य उद्देश्य है। कृष्ण का विजय उद्भिज जगत् के भीतर चेष्टा दिखलाने वाली जीवनी शक्ति का प्रतीकमात्र है। इस विचित्र सिद्धान्त के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसके उद्भावक को भी इस मत में विश्वास नहीं है। भारतीय ग्रन्थों में तो इसके प्रति संकेत भी कहीं नहीं है।

प्राकृतिक परिवर्तनों का स्थूल चित्रण

जर्मन विद्वान डाक्टर पिशेल नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका नृत्य (पपेट शो) से बतलाते हैं। इस नृत्य की उत्पत्ति भारतवर्ष में ही हुई और उनके मत से इस नृत्य का प्रचार अन्य देशों में भारत से ही हुआ। सूत्रधार तथा स्थापक आदि शब्दों का मूल अर्थ इस मत का पोषण अवश्य करता है। 'सूत्रधार' का मूल अर्थ है 'डोरे को पकड़ने वाला' और 'स्थापक' का अर्थ है किसी वस्तु को लाकर रखने वाला। इन दोनों शब्दों का सम्बन्ध

पिशेल-पुत्तिलका नृत्य

---

[1] Theory of Vegitation Spirit. Keith—Sanskrit Drama pp. 45-48.

पुत्तलिका-नृत्य से है। डोरी पकड़कर पुतलियों को नचाने वाला व्यक्ति 'सूत्रधार' कहलाता था। भारतीय नाट्य के प्रबन्धक को सूत्रधार कहने का तात्पर्य यही हो सकता है कि भारतीय नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका नृत्य से हुई। इस मत में एकही तथ्य है और वह यह है कि पुत्तलिका नृत्य सबसे पहले भारतवर्ष में ही उत्पन्न हुआ और यहीं से वह अन्य देशों में भी प्रचारित हुआ। परन्तु इस सामान्य नृत्य से रसभावसंवलित नाटक की उत्पत्ति मानना नितांत निराधार तथा प्रमाण-रहित है।

डा० कोनो छाया नाटक

कुछ विद्वानों की सम्मति में नाटक की उत्पत्ति छाया नाटकों से हुई। इस मत को पुष्ट करने के लिये छाया नाटक के प्राचीन उल्लेख खोज निकाले गये हैं। डाक्टर पिशेल ही इसके उद्भावक हैं तथा इस मत के समर्थकों में डाक्टर लूडर्स तथा डाक्टर कोनो[१] हैं। यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि भारतवर्ष में छाया नाटक की प्राचीनता सिद्ध नहीं की जा सकती। दूतांगद नामक छाया-नाटक संस्कृत में अवश्य प्रसिद्ध है परन्तु वह न तो इतना प्राचीन ही है और न इतना महत्त्वपूर्ण ही। छाया-नाटक जैसे सीधे-सादे उपकरण से भारतीय नाट्यकला का उदय मानना भ्रामक ही है।

कुछ विद्वानों ने नाटक की उत्पत्ति 'मे पोल नृत्य' से निश्चित किया है। पश्चिमी देशों में मई का महीना बड़ा ही आनन्द तथा उत्सव का होता है। उस महीने में एक स्थान पर एक लम्बा बाँस गाड़ दिया जाता है। उसके नीचे स्त्रियाँ तथा पुरुष साथ साथ नृत्य किया करते हैं और इस तरह से आनन्दपूर्वक दिन बिताते हैं। यह लोक-नृत्य का एक

---

[१] Shadow Play. Dr. Sten Konow—Das Indische Drama pp. 45-46

मे-पोल सिद्धान्त

नमूना है। पाश्चात्य विद्वान् नाटक की उत्पत्ति इसी मे-पोल से मानते हैं। भारतवर्ष में होने वाला इन्द्रध्वज उत्सव ठीक उसी प्रकार का समझा गया है। अन्य विद्वानों ने इस मत को ध्यान देने के योग्य भी नहीं समझा है। इन्द्रध्वज उत्सव नैपाल आदि देश में अभी तक प्रचलित है। उसका समय, उसके अन्तर्गत भाव तथा उसकी प्रचलित रूढ़ि सब इस मत के विरुद्ध हैं।

सम्वाद सूक्त से नाट्योद्गम

अनेक भारतीय तथा पश्चिमी विद्वान नाटक की उत्पत्ति वेदमूलक मानते हैं। ऋग्वेद में ऐसे अनेक सूक्त हैं जिनमें एक से अधिक वक्ता हैं। उन सूक्तों को 'सम्वाद सूक्त' कहते हैं क्योंकि अनेक व्यक्तियों का इसमें परस्पर कथनोपकथन दृष्टिगोचर होता है। ऐसे सम्वाद सूक्तों में 'पुरुरवा' तथा 'उर्वशी' का सम्वाद कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक का आधार है, इस विषय में सन्देह करने के लिए अवकाश नहीं है। विद्वानों का कहना है कि इन्हीं सम्वाद-सूक्तों में नाट्य के बीज अन्तर्निहित हैं। कालान्तर में इन्हीं बीजों के अङ्कुरित होने से नाट्य का विकास सम्पन्न हुआ। इन सम्वाद-सूक्तों के स्वरूप तथा उनसे नाट्य के विकसित होने के विषय में विद्वानों की विभिन्न धारणाएँ हैं :—

नाना मत

(क) जर्मन विद्वान् डाक्टर श्रोदर का मत है कि ये सम्वाद सूक्त गायन तथा नर्तन के साथ वस्तुतः अभिनीत किये जाते थे। स्वयं धार्मिक नाटक[1] हैं जिनका अभिनय यज्ञ के विशिष्ट अवसरों पर नृत्य गीत तथा वाद्य के उपकरणों के साथ याज्ञिकों के द्वारा किया जाता था। आजकल बङ्गाल में जिन धार्मिक 'यात्राओं' का प्रचलन है वे इन्हीं नाटकों के विकसित वर्तमान रूप हैं।

(ख) डाक्टर हर्टल का मत है कि ये सम्वाद सूक्त वस्तुतः गाये जाते थे और गाने के लिए एक से अधिक व्यक्ति रखे जाते थे, क्योंकि सम्वाद का प्रदर्शन एक व्यक्ति के द्वारा कथमपि नहीं हो सकता। उनके कथनानुसार इन्हीं सूक्तों में नाटक के बीज हैं।

(ग) डाक्टर कीथ इस मत में आस्था नहीं रखते। उनका कहना है कि ये सम्वाद सूक्त ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं जिनका केवल 'शंसन' मात्र होता था। गायन का प्रयोग तो केवल सामवेद में होता है। इसीलिए सामगायन करने वाले ऋत्विक को उद्गाता कहते हैं और ऋग्वेद के मन्त्रों के उच्चारण करने वाले ऋत्विज् को होता कहते हैं। ये सम्वाद सूक्त अनेक प्रकार के हैं। कहीं तत्त्वों का विचार हैं तो कहीं किसी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख है। मूलतः इनका विषय व्यावहारिक है और नाटकों के बीज इन सूक्तों में माने जा सकते हैं।

(घ) जर्मनी के कुछ मान्य विद्वान—जिनमें डाक्टर विण्डिश ओल्डेनवर्ग[४] और पिशेल मुख्य हैं—इन सम्वाद सूक्तों के स्वरूप का वर्णन कुछ नये ढंग से ही करते हैं। उनकी सम्मति में ये सम्वाद सूक्त गद्य-पद्यात्मक थे। पद्य भाग अधिक रोचक तथा मन्जुल होने से अवशिष्ट रह गया है, परन्तु गद्य भाग केवल वर्णनात्मक होने से धीरे धीरे लुप्त हो गया है। इसे वे लोग 'आख्यान' के नाम से पुकारते हैं। नाटक में जो गद्य और पद्य का सम्मिश्रण है वह पिशेल की राय में इन्हीं सम्वाद सूक्तों के अनुकरण पर है। डाक्टर ओल्डेनबर्ग ऐतरेयब्राह्मण 'शुनःशेप' उपाख्यान तथा शतपथ ब्राह्मण में आये हुए 'पुरुरवा उर्वशी' की कथा इन्हीं आख्यानों का अवशिष्ट रूप मानते हैं।

भरत मत

नाटकोत्पत्ति के विषय में भारतवर्ष में कुछ कथाएँ परम्परा से चली आई हैं। इसमें सबसे प्राचीन वह प्रतीत होती है जो भारतीय नाट्य-

शास्त्र के प्रथम अध्याय में मिलती है। यहाँ उसी का सारांश दिया जाता है। सांसारिक मनुष्यों को अत्यन्त खिन्न देखकर इन्द्रादि देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर ऐसे वेद के निर्माण करने की प्रार्थना की जिससे वेद के अधिकारी स्त्री शूद्रादि सभी लोगों का मनोरंजन हो। यह सुनकर ब्रह्मा ने चारो वेदों का ध्यान कर ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर 'नाट्यवेद' नामक पञ्चमवेद की रचना की[1] और इन्द्र से कुशल प्रगल्भ देवताओं में इसका प्रचार करने को कहा। इन्द्र ने कहा कि देवता लोग नाट्य कर्म में कुशल नहीं हैं। वेदों के मर्म जानने वाले मुनिजन इसका ग्रहण और प्रयोग करने में समर्थ हैं। अतः ब्रह्मा के कथनानुसार भरमुनि ने अपने पुत्रों को इसकी शिक्षा दी। यह प्रयोग भारती, सात्यवती, आरभटी वृत्ति में शुरू हुआ। बाद में कैशिकी वृत्ति जोड़ी गई जिसका प्रदर्शन स्त्री-पात्र के बिना नहीं हो सकता था। अतः उन्होंने अप्सराओं की कल्पना की। भरतमुनि इन सब वस्तुओं से सुसज्जित होकर ब्रह्मा जी के पास गए और आगे का प्रयोग पूछा। ब्रह्माजी के कथनानुसार इन्द्र के ध्वजोत्सव में इस नाट्यवेद का सर्वप्रथम प्रयोग किया गया। इस प्रयोग को देखकर देवता लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने पात्रों को अनेक वस्तुएँ पारितोषिक रूप में दीं। प्रयोग का विषय था इन्द्र-विजय। इस प्रयोग में देवों का उत्कर्ष और दैत्यों का अपकर्ष देखकर दैत्य अत्यन्त क्रुद्ध हुए और विघ्न करने लगे। इन्द्र ने इन विघ्नों का उत्पात जानकर अपनी ध्वजा से सब विघ्नों को जर्जर कर दिया।

---

[1] जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।

—नाट्यशास्त्र अध्याय १ श्लोक १७

और उसी से उस ध्वज का नाम 'जर्जर' पड़ गया[1]। इन विघ्नों से बचे रहने के लिए इन्द्र ने विश्वकर्मा को नाट्यगृह बनाने की आज्ञा दी। इसके बन जाने पर स्वयं ब्रह्मा ने देवताओं की स्थापना की जिससे पात्रों तथा नाटक के प्रयोग की रक्षा हो। दैत्यों को सम्बोधित कर ब्रह्मा ने कहा कि यह नाट्यवेद देव और दैत्य दोनों के लिए है। इसमें धर्म, क्रीड़ा, हास्य और युद्ध सभी विषय हैं। ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प विद्या, कला, योग और कर्म नहीं है जो नाट्य में न हो। नाट्यशास्त्र (१।११२) नाट्य तो त्रैलोक्य भावों का कीर्तन है। ऐसी कौन वस्तु है जिसका प्रदर्शन और प्रयोग इसमें नहीं किया जाता। जिस प्रकार है उसी प्रकार अन्य प्रयोगों में देवताओं का पराजय भी दिखाया जा सकता है। इतना समझाने पर किसी प्रकार दैत्य लोग शान्त हुए और नाटक निर्विघ्न होने लगा। पहला अभिनीत नाटक त्रिपुर-दाह नामक डिम तथा समुद्रमन्थन नामक समवकार थे।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीय विद्वान् नाट्य को वेद से आविर्भूत मानते हैं। सुखमय सत्ययुग में इसकी कल्पना थी ही नहीं। इसकी उत्पत्ति तो त्रेता में हुई जब दुःखों का आविर्भाव जगतीतल पर हुआ। भारतवर्ष में आरम्भ से नाट्य के प्रयोग में स्वाभाविकता रही है। पुरुषों की भूमिका पुरुष ग्रहण करते थे और स्त्रियां की भूमिका स्त्रियां ग्रहण करती थीं। पुरुषों का स्त्री-भूमिका ग्रहण करना नितान्त अनुचित है। इस अस्वाभाविक प्रथा का-निराकरण पाश्चात्य जगत् ने गत शताब्दी में ही किया है। नाटक का व्यापकता तथा प्रभावशीलता सर्वत्र स्वीकृत है। भारत के वर्णन से स्पष्ट है कि नाट्य की उत्पत्ति धर्म

---

[1] नाट्यविध्वंसिभिः सर्वैयेन ते जर्जरीकृताः।
तस्मात् जर्जर इत्येवं नामतोऽयं भविष्यति॥
नाट्यशास्त्र अ० १ श्लोक ७४

दैत्यों के पराजय का वर्णन से सम्बद्ध है। नाटक के विकास में वैष्णव धर्म का विशेष हाथ है। पतञ्जलि ने जिन नाट्यप्रयोगों का (कंस-वध तथा बलिबन्धन का) उल्लेख किया है वे विष्णुचरित से सम्बद्ध हैं। नाटक में शौरसेनी की प्रधानता भी यही सूचित करती है कि नाटक के विकास में शूरसेन देश (मथुरा) में कृष्णभक्ति का विशेष प्रभाव था।

३

भारतीय नाटक पर ग्रीक प्रभाव

नाटक भारतीयों की प्रतिभा का विकास है अथवा इसे विकसित होने में ग्रीक देश की नाट्यकला भी कारणभूत है ? इन प्रश्नों ने विद्वानों का ध्यान विशिष्ट रूप से आकृष्ट किया है। जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने प्रथमतः संस्कृत नाटकों पर ग्रीक प्रभाव पड़ने की बात उठाई। इसका उत्तर डा० पिशेल ने इतना संयुक्तिक दिया कि कुछ दिनों तक इसकी चर्चा दब सी गई। पुनः डा० विण्डिश ने इस प्रश्न की विस्तृत, मीमांसा कर ग्रीक प्रभाव के स्वरूप को नई खोजों के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। डा० वेबर का कहना है कि नाटक के उपादान प्राचीन संस्कृत साहित्य में इतने अल्प हैं कि उनके आधार पर नाटक जैसी कमनीय कला का उदय नहीं हो सकता। सिकन्दर नाटकों का बड़ा प्रेमी था। उसके दरबार में नाटकों का खूब अभिनय होता था। वैक्ट्रिया तथा पंजाब के ग्रीक राजाओं के दरबार में नाटकों का खूब प्रचार था। इसी का प्रभाव संस्कृत नाटकों पर पड़ा। भारतीय प्रतिभा नवीन प्रभावों का आत्मसात् करने में नितान्त प्रवीण थी। अतः नाटक का विकास स्वतः अपनी प्रतिभा के बल पर नहीं हुआ, प्रत्युत ग्रीक नाटकों

के अभिनय देखकर भारतीयों को इस दिशा में प्रेरणा तथा स्फूर्ति मिली। परन्तु यह सिद्धान्त नितान्त उपेक्षणीय है। जिन आधारों पर यह विशाल किला खड़ा किया गया है वह बिल्कुल लचर तथा एकदम दुर्बल है।

डा० विण्डिश का कहना है कि न्यू एटिक कामेडी[1] भारतीय नाटकों पर ग्रीक प्रभाव पड़ने का मूल स्रोत है। इस प्रकार के सुखान्त नाटकों में समाज का विस्तृत चित्रण रहता है। ईसा के प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी में रोम तथा भारत से बड़ा व्यापारिक सम्बन्ध था। बेरिगाजा (आधुनिक भड़ौंच) इस रोमन व्यापार का प्रधान बन्दरगाह था। उज्जैनी में लिखित मृच्छकटिक के ऊपर ग्रीक नाटकों का प्रकृष्ट प्रभाव पड़ा है। परन्तु यह मत ठीक नहीं। इस न्यू कामेडी तथा संस्कृत नाटक का सम्पर्क और सादृश्य वस्तुतः बहुत ही कम है। रोमन नाटकों के समान संस्कृत नाटक अंकों में विभक्त हैं जिनके अन्त में प्रत्येक पात्र का निर्गमन अनि- वार्य होता है परन्तु यह विभाजन स्वतन्त्र रूप से सिद्ध हो सकता है। मृच्छकटिक को तृतीय शतक की रचना मानकर उसे कालिदास से प्राचीन मानना कथमपि न्याय्य नहीं हैं। मृच्छकटिक तो न इतना पुराना है और न उसके कथानक तथा पात्र-विश्लेपण में कोई नवीनता ही है। भासका 'दरिद्र चारुदत्त' मृच्छकटिक का आधार है। इसका वस्तु अन्य नाटकों से कथमपि भिन्न नहीं है। ऐसी दशा में ग्रीक प्रभाव की कल्पना केवल इसी प्रमाण के आधार पर करना अनुचित है।

संस्कृत नाटकों में यवनी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। अभिज्ञान शाकुन्तल के द्वितीय अंक में वनमाला धारण करने वाली धनुर्धारिणी यवनियाँ राजा दुष्यन्त की परिचारिका के रूप में चित्रित की गई

---

[1] New Attic Comedy (340-260 B. C.)

है[1]। परन्तु इस उल्लेखमात्र में अभीष्टसिद्धि नहीं हो सकती। रोमन भौगोलिकों ने स्पष्ट लिखा है कि रोम तथा भारत में गहरा व्यापार होता था जिसमें शराव, गानेवाले लड़के तथा सुन्दर दासियाँ रोम से भेजी जाती थीं। इन श्वेताङ्गी रोमन ललनाओं ने भारतीय राजा लोगों की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट किया था। वे उन्हें दासी बनाकर अपने महलों में रखते थे। इसी सामाजिक घटना के आधार पर संस्कृत नाटकों का यह वर्णन है। इससे ग्रीक नाटकों के प्रभाव पड़ने का समर्थन कथमपि नहीं होता।

जवनिका

भारतीय रंगमंच पर अभिनय के अवसर पर जिस परदे का प्रयोग किया जाता है उसके लिये अधिकांश विद्वज्जन 'यवनिका' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस शब्द के आदिम अंश की समीक्षा कर यूरोपीय विद्वानों ने यह सिद्धान्त बना लिया है कि भारतीय नाटक के विकास पर यूनानी नाटकों का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। वे ऐतिहासिक प्रमाणों के अतिरिक्त 'यवनिका' शब्द को इस प्रसंग में अपने अशक्त भवन की दृढ़ नींव समझते हैं।

पहली बात ध्यान देने की यह है कि 'जवनिका' हमारे नाट्यशास्त्र का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द नहीं, प्रत्युत लोक-व्यवहार में प्रयुक्त होनेवाला साधारण शब्द है। 'अमरकोश' में इसका प्रयोग 'पटवेश्म' (खेमा) को ढकने वाले परदे के अर्थ में किया गया है। प्राचीनकाल में वस्त्रों से बने घरों का वर्णन मिलता है। 'अमर' ने ऐसे घर के लिये 'दूष्य' शब्द का प्रयोग किया हैं—दूष्याद्यं वस्त्रवेश्मनि।—अमरकोश २।१।१२०

---

[1] एसो बाणाससहत्थाहि जवनीहि वनपुप्फमालाधारिणीहि परिवुदो इदो एव्व आअच्छदि पिअवअस्सो। —शाकुन्तल, अंक २

'अमर' के टीकाकार क्षीरस्वामी ने वस्त्रवेश्म के लिए 'पटकुटी', 'पट्कुड्य', 'गुणशालिनी' तथा 'स्थूला' शब्दों का व्यवहार होना लिखा है।[1] 'अमर' के दूसरे टीकाकार भानुजिदीक्षित[2] (समय सत्रहवीं शती) ने इसी प्रसंग में 'कुटर', 'पटकुटी' तथा 'पटवास' शब्दों का उल्लेख किया है।[3] 'वस्त्रवेश्म' का प्रचलन प्राचीन काल में मुसलमानों के संपर्क से पहले भी था। कालिदास इसके प्रचलन से परिचित हैं। उन्होंने 'रघुवंश' के पंचम सर्ग में इसका उल्लेख किया है। विदर्भ देश के राजा भोज ने अपनी भगिनी इंदुमती के स्वयंवर में कोशल देश के राजकुमार अज को बुलाने के लिये उनके पिता रघु के पास दूत भेजा था। रघु ने निमंत्रण स्वीकार कर अज को विदर्भ प्रस्थान करने की आज्ञा दी। विदर्भ देश अयोध्या से दूर था। अतः उन्हें रास्ते में बने हुए घरों

१—अमरकोशोद्घाटन, ओरिएंटल बुक एजेंसी, पूना से सन् १९४१ ई० में प्रकाशित, पूना ओरिएंटल सिरीज संख्या ४३, पृष्ठ १५८।

२—भानुदीक्षित प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित के पुत्र थे, इसका पता उनकी टीका के मंगलश्लोक तथा पुष्पिका से चलता है—

मंगलश्लोक—"बल्लवीवल्लभं नत्वा गुरुं भट्टोजिदीक्षितम्।
अमरे विदधे व्याख्यां मुनित्रयमतानुगाम्॥"

पुष्पिका—"इति श्रीबघेलवंशोद्भवमहीधरविषयाधिपश्रीकीर्तिसिंहदेवाज्ञया भट्टोजिदीक्षितात्मज' श्रीभानुजिदीक्षितविरचितायाममरटीकायां व्याख्यासुधाख्यायां तृतीयः कांडः समाप्तिमगात्।"

इस टीका का नाम 'व्याख्यासुधा' ग्रंथकार निर्दिष्ट अभिधान है। पंडितों में यह 'रामाश्रमी' के नाम से अधिकतर प्रसिद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि दीक्षितजी के संन्यासाश्रम का नाम 'रामाश्रम' था और इसीलिये यह टीका भी तन्नाम से प्रसिद्ध हुई।

३—रामाश्रमी, निर्णयसागर प्रेस, पृष्ठ ४०७

में निवास करना पड़ा जो राजकीय सामग्री से सज्जित होने के कारण अज के लिये उद्यान-विहार के समान ही आनंददायक प्रतीत हुआ। कालिदास कहते हैं—

तस्योपकार्या रचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपदाभिः।
मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनोर्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः॥
—रघुवंश, सर्ग ५, श्लोक ४१

यहाँ 'उपकार्या' की मल्लिनाथी टीका 'उपकार्यासु राजयोग्येषु पटभवनादिषु' से स्पष्ट है कि यहाँ कालिदास का कपड़ों के बने घरों से ही अभिप्राय है। इस उल्लेख से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'खेमा' (अंग्रेजी 'टेंट') बनाने तथा उसमें रहने का प्रचलन प्राचीन भारत में था और राजा लोग यात्रा में उसका उपयोग करते थे।

'जवनिका' का प्रयोग उस खेमे को ढकनेवाले परदे के लिये किया जाता था जिसे आजकल हिंदी में 'कनात' कहते हैं। मल्लाह नाव की गति तीव्र करने के लिए गोनधर (मस्तूल) के ऊपर जिस कपड़े का परदा बाँधते हैं उसे आजकल 'पाल' कहते हैं। इस पाल के लिए भी 'जवनिका' शब्द का प्रयोग कोशों में किया जाता है। इन दोनों विशिष्ट अर्थों का सामान्य रूप है 'ढकना', 'आवरण करना' और इसीलिये जवनिका का सामान्य अर्थ हो गया 'परदा'; जो वस्तु किसी को ढककर उसे तिरोहित कर देती है। परदे के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले अनेक शब्द कोशों में मिलते हैं—

१—प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी च सा।
—अमरकोश २।६।१२०

२—प्रतिसीरा जवनिका तिरसः करिकारिणी।
अपटी स्यात् पुमान् कांडपटोऽथोल्लोच इत्यपि॥
—केशवकृत कल्पद्रुमकोश, पृष्ठ ५३, श्लोक २००

३—पद्माकरस्तडागे प्रतिसीरा जवनिकायां स्यात् ।

—शाहजीकृत शब्दरत्नसमन्वय-कोश, पृष्ठ २९०, पंक्ति १५

४—अन्तःपटः पटी चित्रा कांडपटः ।

—शब्दरत्नावली

कोशों के इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि परदे के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले प्रधान शब्द हैं—प्रतिसीरा, तिरस्करिणी, अपटी, कांडपट, अंतःपट, पटी तथा चित्रा। इन शब्दों से प्रसिद्धतर शब्द है 'जवनिका', और वह है जकारादि, यकारादि नहीं। शुद्ध भी 'जवनिका' ही है, 'यवनिका' नहीं।

'जवनिका' की उत्पत्ति टीकाकारों की सम्मति में इस प्रकार है—

१—जवन्ति अस्यां जवनिका। क्षीरस्वामी

२—जनति अस्याम्। 'जुः' सौत्रो गतौ वेगे च। ल्युट्—करणाधिकरणयोश्च (३।३।११७), स्वार्थे कन् (५।४।५ सूत्रेण ज्ञापनात्)।

—रामाश्रमी

३—जवनिका स्त्री। सौत्र धातु जु। करणे ल्युट् संज्ञायां कन्।

वाचस्पत्य, पृष्ठ ३०८०

४—जु इति सौत्रो धातुर्गतौ वेगे च। जवनः। 'जु चङ्क्रम्यदन्द्रम्य-सृ-गृधि-ज्वल-शुच-लष-पत-पदः' (३।२।१५०) इति युच्-कौमुदी। स्त्रियां ङीष् जवनी जवनिका।

५—जवनं वेगेन प्रतिरोधनमस्ति अस्याः। जवनः ठन् टाप च।

शब्दकल्पद्रुम

इन भिन्न भिन्न व्युत्पत्तियों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि 'जवनिका' शब्द की व्युत्पत्ति 'जु' धातु से है। 'जु' धातु धातुपाठ में परिगणित न होकर ३।२।१५० सूत्र (जु चङ्क्रम्य……) में महर्षि पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। इसका अर्थ है गति तथा वेग। अतः 'जवनिका' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होगा—वह आवरण

जिसमें दौड़कर लोग चले जायँ अथवा वह वस्तु जो वेग से सम्पन्न हो या जिसे गति प्राप्त हो अर्थात् जो इधर उधर हटाई जा सके। 'जवनी' तथा 'जवनिका' दोनों का एक ही अर्थ होता है। इन दोनों में 'जवनिका' का प्रयोग अत्यन्त लोकप्रिय है, 'जवनी' का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत ही न्यून है, परन्तु आवरण के अर्थ में प्रयोग दोनों का ही होता है।

'जवनिका' का प्रयोग 'नाट्यशास्त्र', 'दशरूपक' जैसे शास्त्रीय ग्रन्थों 'भर्तृहरिशतक' तथा 'शिशुपालवध' जैसे प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थों तथा 'हरिवंश' और 'भागवत' जैसे पुराणों में समभावेन उपलब्ध होता है जिससे इसकी लोकप्रियता का पूरा पता हमें मिलता है—

१—एतानि च बहिर्गीतान्यन्तर्जवनिकागतैः ।
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि दन्त्रीभाण्डकृतानि तु ॥
—नाट्यशास्त्र, अ० ५, श्लोक ११

२—अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकाऽर्थस्य सूचनात् ।
—दशरूपक

३—नरः संसारान्ते विशति यमधानी-जवनिकाम् ।
—भर्तृहरिशतक

४—समीरशिशिरः शिरःसु वसतां सतां जवनिका निकामसुखिनाम्।
विभर्ति जनयन्नयं मुदमपामपायधवला वलाहकततीः ॥
—माघ-काव्य, ४।५४

५—रेजुर्जवनिकाक्षेपैः सपक्षा इव खे नगाः ।
—हरिवंश पुराण, अ० २, श्लोक ८८

६—मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम् ।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा ॥
—श्रीमद्भागवत, १।८।१९

इन उद्धरणों में से प्रथम दो में तो 'जवनिका' शब्द का प्रयोग नाटकीय आवरण के लिये हुआ है और अन्तिम चार में सामान्य परदे के अर्थ में। सर्वत्र जकारादि 'जवनिका' का ही प्रयोग मिलता है, यकारादि का नहीं। ऐसी दशा में परदे के अर्थ में 'यवनिका' शब्द का प्रयोग कथमपि न्यायसंगत नहीं। एक प्रबल प्रमाण और भी है। 'यवनिका' के पक्षपाती भी परदे के अर्थ में 'यवनी' शब्द का प्रयोग कथमपि न्याय्य नहीं मानते। 'यवनी' का अर्थ है यवन जाति की स्त्री, और इसी अर्थ में इसका प्रयोग कालिदास ने भी किया है—

यवनी-मुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥

रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक ६१

परन्तु परदे के अर्थ में 'जवनिका' के समान 'जवनी' का प्रयोग भी मिलता है और यह होना भी चाहिए, क्योंकि वस्तुतः ये दोनों शब्द एक ही धातु से निष्पन्न होते हैं। 'जवनिका' में स्वार्थे कन् की अधिकता है, परन्तु स्वार्थ में कन् प्रयोग की सत्ता होने के कारण अर्थ में तनिक भी अन्तर नहीं है।

श्री गोवर्धनाचार्य ने अपनी विख्यात 'आर्या-सप्तशती' में 'जवनी' का प्रयोग परदे के अर्थ में शोभन प्रकार से किया है—

व्रीडाप्रसरः प्रथमं तदनु च रसभावपुष्टचेष्टेयम्।
जवनी-विनिर्गमादनु नटीव दयिता मनो हरति ॥

आर्यासप्तशती, श्लोक ५३८

इस कमनीय आर्या का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार नटी परदे से निकलने के बाद प्रथमतः लज्जा दिखलाती है, तदनंतर भाव-पुष्ट चेष्टाओं से सामाजिकों का चित्त हरण कर लेती है, उसी प्रकार दयिता का स्वभाव भी है। वह भी पहले लज्जा दिखलाती है, परन्तु पीछे

अपनी श्रृंगार रस से पुष्ट चेष्टाओं के द्वारा अपने प्रियतम का मन हर लेती है।

भारतीय नाटककला पर यूनानी प्रभाव का पक्षपाती कोई भी भी विद्वान् इस आर्या में 'जवनी' के स्थान पर 'यवनी' का परिवर्तन कभी नहीं कर सकता। यदि 'यवनिका' का प्रयोग न्याय्य होता तो यह परिवर्तन सिद्ध करने में व्याकरण कभी व्याघातक न होता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि परदे के लिये उचित तथा प्रयुक्त शब्द 'जवनिका' ही है, 'यवनिका' नहीं।

इस झमेले का गूढ़ कारण भी खोजा जा सकता है। राजशेखर का सुप्रसिद्ध सट्टक है 'कर्पूरमंजरी'। समग्र रूप से प्राकृत भाषा में निबद्ध नाटिका को ही 'सट्टक' कहते हैं। इस सट्टक के अवांतर अङ्कों के नाम हैं 'जवनिकांतरम्'। मेरी समझ में इस नाम के संस्कृतीकरण ने ही विद्वानों को भ्रम में डाल दिया है। सट्टक में सब कुछ प्राकृत भाषा में है। तब अंक का यह नामकरण भी प्राकृत में ही निबद्ध होगा, यह कल्पना कुछ अनुचित नहीं है। वररुचि के 'आदेर्यो जः' (प्राकृतप्रकाश) सूत्र के अनुसार संस्कृत शब्दों का आदिम यकार प्राकृत में जकार हो जाता है। इसी नियम को ठीक ठीक न समझने के कारण भ्रान्ति का उद्गम हुआ है। जब संस्कृत आद्य यकार का प्राकृत में जकार होता है, तब प्राकृत का आदि जकार संस्कृत में यकार हो ही जायगा। अतः 'जवनिकांतरं' का संस्कृतरूप होगा 'यवनिकान्तरम्', और इस प्रकार नाटकीय परदे के अर्थ में 'यवनिका' शब्द विराजने लगा। भ्रान्ति यहीं है। 'आदेर्यो जः' नियम का विपर्यय संस्कृत में सर्वत्र उचित नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वानों को 'जवनिकांतरं' के संस्कृतीकरण ने धोखे में डाल दिया। कोशों में कहीं यह गलती से 'यवनिका' शब्द का ही निर्देश मिलता है। रामाश्रमी टीका में 'जवनिका' के स्थान पर

'यमनिका'[1] पाठांतर दिया गया है, परन्तु अप्रयुक्त होने के कारण यह शब्द कथमपि मान्य नहीं हो सकता। इसकी व्युत्पत्ति किसी प्रकार अर्थ-सिद्धि में सहायक हो सकती है, परन्तु इस शब्द का प्रयोग कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसी दशा में 'यमनिका' को मान्यता प्रदान करना उचित नहीं।

इस प्रसंग में विचारणीय वस्तु यूनानी नाटकों में जवनिका का मूलतः अभाव भी है। यवन देश में नाट्य के लिये परदे की चाल नहीं थी। वहाँ दर्शकों की संख्या इतनी अधिक होती थी कि उनकी सुगमता के लिये रंगमंच बड़ा ऊँचा बनाया जाता था। नाटक का अभिनय खुले मैदान में ही दर्शकों के सुभीते के लिये किया जाता था। उस पर किसी प्रकार का परदा नहीं होता था। जब यूनानी नाटकों में परदा ही नहीं था, तब भारतीयों के लिये उनकी नकल का प्रश्न ही नहीं उठता। ऊपर कहा गया है कि 'जवनिका' भारतीय नाट्यशास्त्र का परिभाषिक शब्द नहीं, एक सामान्य शब्द है। यदि भारतीय नाट्यरचयिताओं ने इसे यूनानी रंगमंच से लिया होता, तो वे इसे नाटकीय परदे के अर्थ में ही सीमित किए रहते, परन्तु वस्तुस्थिति इसके नितांत विरुद्ध है। ऐसी दशा में 'यवनिका' शब्द के आधार पर की गई यह कल्पना भी पूर्णतः भ्रामक एवं सर्वथा निराधार है। भारतीय प्रतिभा जिस प्रकार नाटक के विन्यास में स्वतंत्र है, उसी प्रकार अभिनय-कला में भी वह परमुखापेक्षी नहीं है। 'जवनिका' के लिये भारतीय नाटककार यवनों के पराधीन नहीं हैं। नाटकीय परदा भारत की अपनी निजी वस्तु है, मँगनी की चीज नहीं।

---

[1] १—यमनिका इति वा पाठः। यमयति—यम उपरमे (भ्वा० प० अ०) ल्युट् (३।३।११७) कन् (ज्ञापित ५।४।५)।

—रामाश्रमी २।६।१२०

जवनिका की स्थिति

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि 'जवनिका' की स्थिति रंगमंच पर कहाँ थी तथा उसकी संख्या कितनी थी। जर्मनी के प्रख्यात संस्कृत विद्वान् डाक्टर विंडिश ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भारतीय रंगमंच पर एक ही परदा उपयोग में आता था और वह रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह के बीच में डाला जाता था।[1] प्रेक्षागृह की जिस रचना का वर्णन 'भारत नाट्यशास्त्र' के द्वितीय अध्याय में किया गया है उससे सिद्ध है कि प्रेक्षागृह का आधा भाग तो प्रेक्षकों के लिये रहता था और आधे में नाटकीय उपकरणों का स्थान रहता था। बीच में रहता था रंगपीठ और इसके पीछे होता था रंगशीर्ष। रंगशीर्ष के पीछे और सबके अन्त में नेपथ्यगृह रहता था जहाँ पात्र अपनी भूमिका के लिये वेषभूषा की सजावट किया करते थे। रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह के बीच में दीवार होती थी जिसमें आने जाने के लिये दो द्वार बनाए जाते थे। विंडिश के अनुसार नेपथ्यगृह की इसी दीवार के ऊपर ही परदा डाला जाता। परन्तु भीत के ऊपर परदा डालने का उपयोग ही क्या हो सकता है? परदा तो उस स्थान पर डालना चाहिए जहाँ पात्रों के बैठने या खड़े होने के लिये पर्याप्त स्थान हो। अभिनवगुप्त ने इसी पक्ष का समर्थन किया है। उनके अनुसार मुख्य परदा रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के मध्य में पड़ता था—

'तत्र जवनिका रंगपीठतच्छिरसोर्मध्ये'।[2]

इस मुख्य परदे के अतिरिक्त कतिपय अन्य परदे भी रंगमंच पर विद्यमान रहते थे, ऐसा प्रतीत होता है। 'मालविकाग्निमित्र' के दूसरे अंक के आरम्भ में नाट्यसूचना है—

---

[1] १—डाक्टर कीथ कृत संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ६१।

[2] २—अभिनव-भारती, गायकवाड़ सिरीज, अध्याय ५, श्लोक १२

ततः प्रविशति संगीतरचनायामासनस्थो राजा सवयस्यो धारणी परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः ।

राजा आसन पर बैठा हुआ दिखलाया गया है । इससे प्रतीत होता है कि रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के बीच में होने वाले परदे को हटाकर वह रंगमंच पर आसनस्थ दिखलाया गया है । यह मानना सर्वथा उचित ही है । इसके बाद कंचुकी का निष्क्रमण होता है तथा गणदास का आगमन । इस अवसर पर 'मालविका' अभिनय दिखलाने के लिये आ रही है, परन्तु उसके आने में कुछ विलम्ब हो रहा है जिससे उद्विग्न होकर अग्निमित्र कह रहा है—

नेपथ्यपरिगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्याः ।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम् ॥[1]

इस पद्य का तात्पर्य है कि मेरे नेत्र नेपथ्य में स्थित उस मालविका के दर्शन के नितान्त उत्सुक हैं । व्याकुलता के कारण परदे को उघार देने का मानों उसने निश्चय कर लिया है । इस पद्य के 'तिरस्करिणी' पद से प्रतीत होता है कि राजा की दृष्टि इसी एक परदे के ऊपर पड़ रही थी जिसके उघार देने पर मालविका के दर्शन होने की उसे पूर्ण आशा थी । इससे स्पष्ट है कि मुख्य परदे के अतिरिक्त अन्य परदों का भी उपयोग प्राचीन भारतीय रंगमंच पर अवश्यमेव किया जाता था । मुख्य परदे को हटाकर तो राजा स्वतः उपस्थित था तथा अन्य परदे के भीतर अभिनय के लिये सुसज्जित मालविका अपने प्रवेश की प्रतीक्षा कर रही थी । यहाँ स्पष्ट ही अन्य परदे का उल्लेख है । भारत नाट्यशास्त्र के तेरहवें अध्याय में 'कक्ष्या विभाग' तथा इक्कीसवें अध्याय में 'आहार्याभिनय' का विस्तृत वर्णन है । इन अध्यायों के सूक्ष्म अनुशीलन से 'जवनिका' के विषय में अनेक उपयोगी बातों का पता चल सकता है ।

---

[1] १—मालविकाग्निमित्र, अंक २, श्लोक २

३

संस्कृत नाटकों की विशिष्टता

संस्कृत नाटक ग्रीक नाटक से इतने मौलिक अंशों में भिन्न हैं कि बाहरी प्रभाव उनके ऊपर कथमपि माना नहीं जा सकता। ग्रीक नाटकों के भेद हैं—(१) सुखान्त नाटक (कामेडी) तथा (२) दुःखान्त नाटक (ट्रेजिडी)। परन्तु भारतीय नाटक में इस वर्गीकरण का सर्वथा अभाव है। संस्कृत साहित्य में सामान्यत: दुःखान्त नाठक ही नहीं है। (२) संस्कृत नाटकों का परिमाण दूसरे साहित्य के नाटकों से बहुत ही अधिक है। अकेला मृच्छकटिक ग्रीक नाट्यकार एसकिलस के तीन नाटकों के बराबर है। (३) संस्कृत नाटकों की अपनी विशेषता है। यहाँ नायक और प्रधान पुरुष पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं और स्त्रियाँ प्राकृत का। इस प्रकार का भाषासम्मिश्रण कहीं अन्यत्र नहीं मिलता। (४) संस्कृत नाटकों के विभागों को 'अंक' कहते हैं। अंक की समाप्ति होने पर सब पात्रों का रङ्गमञ्च से चला जाना आवश्यक होता है। फ्रेंच नाटकों में भी यही प्रथा है। नाटक का अंकों में विभाजन एक नई वस्तु है जो ग्रीक नाटकों में उपलब्ध नहीं होती। पाश्चात्य रूपकों में अंकों का विभाग रोमन लोगों ने आविष्कृत किया। परन्तु कोई भी विद्वान् कालक्रम में पर्याप्त भिन्नता होने के कारण रोमन नाटकों का प्रभाव संस्कृत नाटकों पर नहीं मानता (५) विदूषक की कल्पना भी एक निराली वस्तु है। उसके जोड़ का पात्र ग्रीक नाटकों में नहीं है। वह नायक का मित्र होता है, दास नहीं। उसका कार्य केवल हास्यरस का उत्पादन ही नहीं है, प्रत्युत नायक को अनेक कार्यों में सहायता प्रदान करना है। (६) संस्कृत नाटकों का आख्यान (वस्तु) नितान्त मौलिक तथा भारतीय हैं। वह रामायण, महाभारत

आदि से गृहीत हैं। उसमें किसी प्रकार का विदेशी कथाओं का मिश्रण नहीं दीख पड़ता।

इस प्रकार का संस्कृत तथा ग्रीक नाटकों में इतने मुख्य विभेद हैं कि दोनों को नितान्त स्वतंत्र, और एक दूसरे से अप्रभावित रचना मानना ही न्यायसंगत है।[1]

दुखान्त रूपक

भारतीय नाटकों की यह महती विशेषता है कि वे सर्वदैव नियमतः सुखान्त ही होते हैं। नाटक के आरम्भ अथवा मध्य में कितनी भी दुःखद तथा करुणोत्पादक घटनायें प्रदर्शित की जाँय, उनका अन्त सदा सुखद, कल्याणकारक तथा मंगलसाधक ही होता है। इस वैशिष्ट्य के कारण आलोचकों ने भारतीय नाटककारों की अव्यावहारिक होने की तीव्र आलोचना की है, परन्तु यह समग्र विपरीत आलोचना भारतीय संस्कृत के मूल तथ्यों की अज्ञान-विजृम्भित है। भारतीय दर्शन आशावादी है। उसका यह दृढ़ मन्तव्य है कि संसार का यह भ्राम्यमाण चक्र अन्ततो गत्वा सौन्दर्य तथा आनन्द के उत्पादन में समर्थ होता है। मार्ग में नाना विघ्न, क्लेश तथा कष्ट उठाने का प्रसंग भले ही हमारे जीवन को दुःखद तथा क्लेशमय बनावे, परन्तु गन्तव्य स्थान—जीवन का उद्देश्य-सदा ही आनन्द का निकेतन होता है, सौन्दर्य की शीतल वायु जिसे सुखमय तथा मधुमय बनाती है। इसी आशावादिता से प्रेरित होकर भारतीय नाटककार नाटक के आदि को आशीर्वाद से आरम्भ करता है तथा अन्त में विश्वशान्ति के लिए प्रार्थना करता है। भारतीय जीवन दर्शन के सौन्दर्य तथा आनन्द का मधुमय संयोग संस्कृत नाटक

---

[1] विशेष के लिये द्रष्टव्य—Banerjee : Hellenism in Ancient India pp-240-65

को दुःखान्त होने से बचाता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार संसार अव्यवस्थित घटनाओं का समुच्चय अयाततः प्रतीयमान होने पर भी मूल में 'ऋत' की भावना से भावित होता है इस संसार की जड़ में 'ऋत' विद्यमान रहता है—इसी 'ऋत' का उदय सृष्टि के आरम्भ में हुआ–ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत (ऋग्वेद १०।१९०)। 'ऋत' का अर्थ है पूर्ण व्यवस्था, जागतिक घटनाओं का पूर्ण सामञ्जस्य। अतः यहाँ अव्यवस्थित घटनाओं की गुंजाइश ही नहीं है। भौतिक घटनाओं का संघर्ष प्रयोजनहीन नहीं होता, प्रत्युत वह मानव के आध्यात्मिक जीवन के साथ सम्बद्ध रहता है। फलतः भौतिक घटनाओं का संघर्ष अन्ततः आध्यात्मिक मूल्य रखता है जो मानव को आध्यात्मिक जगत् में पहुँचा देता है। ऐसी स्थिति में भारतीय कवि जीवन के दुःख तथा क्लेश को आध्यात्मिकता की शिक्षा देने का एक साधन मानता है जिसका अन्त सदा सुखद तथा कल्याणप्रद ही होता है।

कलात्मक दृष्टि से भी नाटक का सुखान्त होना ही उचित है। भारतीय दृष्टि से विशुद्ध कला मानवों में सात्त्विक भावों का उदय कराती है। कला का मुख्य प्रयोजन सत्यं शिवं तथा सुन्दरं का उदय है। कला अपने साधक को सत्य, शिव (मंगल) तथा सुन्दर की ओर ले जाती है। नाटक कला की विशुद्ध विलास तथा आनन्दमय अभिव्यक्ति ठहरा। अतः नाटक को आनन्दमय होना नितान्त उचित है। इन्हीं दार्शनिक, सांस्कृतिक तथा कलात्मक दृष्टियों को लक्ष्य में रखने से भारतीय नाटक सर्वदा 'सुखान्त' ही होता है।

सुखान्त होना अव्यावहारिकता का चिह्न नहीं है। भारतीय कवि मानव जीवन के दोनों पहलुओं से परिचित होता है—मानव के सुख तथा दुःख, राग तथा द्वेष, कुरूप तथा सुरूप का चित्रण नाटक को यथार्थवादी बनाने के लिए पर्याप्त है। भारतीय नाटक जीवन का एकांगी चित्रण प्रस्तुत नहीं करता, वह भारतीय जीवन का पूर्ण तथा

सार्वभौम चित्रण रहता है। सुख के अंकन में भारतीय कवि जितना जागरूक रहता है, दुख के चित्रण में भी वह उतना ही तत्पर रहता है, परन्तु भारतीय संस्कृति का प्रसाधक होने के हेतु वह अपने नाटक को दुःखान्त होने से सदा ही बचाता है। इसका यह अर्थ कभी भी नहीं है कि भारतीय नाटक में दुःख का, मानवीय क्लेश का तथा कमजोरियों का, चित्रण होता ही नहीं। मेरा कहना है कि चित्रण होता है और भरपूर चित्रण होता है, परन्तु कहाँ? नाटक के मध्य में ही, पर्यवसान में नहीं। भारतीय कवि कभी एकांग के प्रदर्शन में ही अपनी सरस्वती को चरितार्थ नहीं मानता। भवभूति के उत्तररामचरित से बढ़कर मानव क्लेश, वेदना तथा परिताप का चित्रण करने वाला नाटक दूसरा हो नहीं सकता। प्रेम की मूर्ति, सौन्दर्य की प्रतिमा सीता के परित्याग करने से राम के हृदय में वेदना की कितनी बड़ी नदी प्रवाहित होती है इसका पूरा परिचय हमें उत्तर रामचरित के तृतीय अंक से मिलता है। राम प्रजा के रंजन के निमित्त अपनी प्राणदयिता जानकी का परित्याग करते हैं, परन्तु वह हृदय में जानते हैं कि वह नितान्त विशुद्ध पवित्र तथा दोष-रहित है। इस प्रकार निर्दोष होने पर भी प्रकृति-रंजन की वेदी पर कठोरगर्भा जनकनन्दिनी की बलि भवभूति के इस करुणोत्पादक नाटक की प्रधान वस्तु है। ऐसे करुणोत्पादक घटनाओं के चित्रण के कारण ही भवभूति करुणरस के महनीय आचार्य माने जाते हैं।

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत् कृत कारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

फलतः उत्तररामचरित सुखद जीवन का चित्रण नहीं है, प्रत्युत वह राम सीता जैसे मान्य व्यक्तियों के दुःखद जीवन की विषम परिस्थिति की वेदनामय अभिव्यक्ति है। ऐसी दशा में भवभूति पर कोई भी आलोचक पक्षपात का दोषारोपण नहीं कर सकता, तथापि कवि ने वाल्मीकि की दुखान्त कथा का जो सुखान्त पर्यवसान प्रस्तुत

किया है वह भारतीय जीवन के दार्शनिक तथ्य की एक मनोहर अभिव्यञ्जना है, भारतीय आशावादिता का एक मञ्जुल प्रतीक है जो जीवन को पूर्ण, सामञ्जस्यशील तथा मधुर बनाता है। संस्कृत नाटक का यह वैशिष्ट्य बाह्य कला से सम्बद्ध न होकर आन्तरिक दर्शन के ऊपर आश्रित है।

४

संस्कृत रंगमंच

भारतीय मनीषियों की प्रतिभा सिद्धान्त के प्रतिपादन के साथ ही साथ तत्तद् व्यवहार के विवरण देने में भी समर्थ रही है। नाट्य की उत्पत्ति जिस प्रकार भारतीय नाट्याचार्यों की सैद्धान्तिक प्रतिभा का विलास है, उसी प्रकार रंगमंच की रचना उनकी व्यावहारिक प्रतिभा का निदर्शन है। भारत में समग्र साधनों से परिपूर्ण रंगमंच का उदय उतना ही प्राचीन है जितना अभिनय का उदय। भरत मुनिने अपने प्रख्यात ग्रन्थ भरत-नाट्यशास्त्र में इन दोनों विषयों का प्राचीनतम आद्य विवरण प्रस्तुत किया है। भारतीय नाटक के विकास पर यूनानी प्रभाव का भ्रान्त आरोप करने वाले आलोचक आँख खोल कर देख लें कि भारतीय रंगमंच की सर्वाङ्गीण व्यवस्था, रमणीय सज्जा तथा वैज्ञानिक निर्मिति के साथ यूनानी रंगमंच की अनगढ़, अव्यवस्थित तथा ग्रामीण रचना की कथमपि तुलना नहीं हो सकती। दोनों में जमीन आसमान का अन्तर बना हुआ है। भारतीय रंगमंच में अपनी एक सुश्लिष्टता है जिसके कारण उसका प्रभाव बृहत्तर भारत (जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों) के रंगमंचों पर कभी पड़ा था तथा वह प्रभाव उसी रूप में आज भी देखा जा सकता है।

रंगमंच का प्राचीन संस्कृत नाम है—प्रेक्षागृह या रंगशाला। अपने जीवन के आरम्भ में भारतीय नाटक का अभिनय ठेठ आसमान के नीचे खुले मैदान में होता था जिसके देखने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न था, परन्तु विघ्नों के उदय ने नाट्याचार्यों को बाध्य किया कि वे नाट्यप्रयोगों को खुले मैदानों से हटाकर बन्द स्थानों में ले जाँय। भरत के कथनानुसार प्रथम अभिनीत नाटक महेन्द्रविजय था जिसमें देवताओं का विजय तथा दानवों का पराजय दिखलाया गया था। पराजय के दृश्य दैत्यों के हृदय में प्रतिहिंसा की भावना जगाने में समर्थ हुए। फलतः नाटक के अभिनय समाप्त होने से पहिले ही दैत्यों ने वह विघ्न उपस्थित कर दिया कि बलशाली देवों ने अपनी समग्र शक्ति का प्रयोग कर ही बड़े धैर्य से तथा बड़े बल से उनका प्रशमन किया। परन्तु इस कलह तथा विघ्न से नाटक प्रयोग को सदा के लिए बचाने के लिए ब्रह्मा की आज्ञा से विश्वकर्मा ने प्रेक्षागृह का निर्माण किया।

भरतमुनि के कथनानुसार प्राचीन भारत के प्रेक्षागृह या नाट्यमण्डप तीन प्रकार के होते हैं। इन तीनों का परिमाण तथा उपयोग भिन्न-भिन्न हुआ करता था। इन तीनों प्रेक्षागृहों के नाम थे—(१) विकृष्ट, (२) चतुरस्र, (३) त्र्यस्र। इनमें से विकृष्ट सब से बड़ा होता था तथा देवताओं के ही लिए नियत किया गया था। इसका परिमाण था १०८ हाथ। इसके आकार का ठीक पता नहीं चलता है सम्भवतः यह गोलाकार होता था। 'चतुरस्र' तो स्पष्ट ही चौकोर रंगमंच था जिसकी लम्बाई होती थी ६४ हाथ तथा चौड़ाई ३२ हाथ। यह मध्यम कहलाता था तथा राजाओं के लिए, सम्भवतः जनता के लिए भी, यह प्रेक्षागृह आदर्श माना जाता था। 'त्र्यस्र' तिकोने ढंग का रंगमंच था जिसकी प्रत्येक भुजा ३२ हाथ की होती थी। इसका उपयोग सम्भवतः छोटे छोटे नाटकों के अभिनय के अवसर पर किया जाता था।

इन तीनों रंगशालाओं में 'चतुरस्त्र' या मध्यम प्रेक्षागृह आदर्श समझा जाता था। इसके वैशिष्ट्य के वर्णन के अवसर पर भरतमुनि की वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक पटुता का उज्ज्वल दृष्टान्त हमें उपलब्ध होता है। आदर्श प्रेक्षागृह के चुनाव के अवसर पर तीन बातों पर विशेष दृष्टि रखी जाती थी। दर्शकों को रंगपीठ पर होने वाले वार्तालाप (पाठ्य) तथा गायन (गेय) का श्रवण खूब अच्छी तरह होना चाहिए। नाट्य प्रयोग में गीतिओं का उपयोग दर्शकों के मनोरंजन के निमित्त ही किया जाता है। यदि श्रोताओं के कानों के लिए ये गायन अस्फुट ही बने रहे तथा पात्रों की परस्पर बातचीत स्पष्ट रूप से श्रुतिगोचर नहीं होती तो वे उस अभिनय का आनन्द नहीं उठा सकते। रंगमंच के विशाल होने में एक और भी हानि है और महती हानि है। अभिनयों में सात्त्विक अभिनय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भिन्न भिन्न अवस्था में, भिन्न भिन्न रसों के अभिनय-प्रसंग के पात्रों के मुखमण्डल पर अभिनीत भाव अपना प्रभाव डालता है। इसका साक्षात्कार उचित रीति से मध्यम परिमाण वाले प्रेक्षागृहों में ही हो सकता है। भरतमुनि के शब्दों में—

यश्चाप्यास्यगतो भावो नाना-दृष्टि-समन्वितः।
स वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां पराम्।
यस्मात् पाठ्यं च गेयं च तत्र श्रव्यतरं भवेत्।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते॥

—नाट्यशास्त्र २।२३,२४

मध्यम रंगशाला ६४ हाथ की लम्बाई तथा ३२ हाथ की चौड़ाई वाली एक चौकोर शाला होती थी। इसका निर्माण शुभमुहूर्त में किया जाता था। जमीन को ठीक समतल तथा चौरस बनाने के लिए उसे हल से जोत कर ठीक करते थे। चारों कोनों पर चार प्रधान खम्भे

लगाये जाते। दक्षिणपूर्व से आरम्भ कर इन स्तम्भों का नामकरण चारों वर्णों के नाम पर ब्राह्मण स्तम्भ, क्षत्रिय स्तम्भ, वैश्य स्तम्भ तथा शूद्र स्तम्भ होता था। रंगशाला के दो मुख्य भाग होते थे जिसमें आधा भाग प्रेक्षकों के लिए निश्चित होता था तथा दूसरा आधा भाग रंगमंच के निमित्त सुरक्षित रहता था।

रंगमंच के सबसे पहले भाग का नाम था रंगशीर्ष जो ८ हाथ लम्बा तथा ४ हाथ चौड़ा होता था। इससे आगे वाला भाग ठीक इतने ही परिमाण का होता था और नेपथ्य गृह कहलाता था। रंगशीर्ष में अभिनय के रक्षक देवी देवताओं की विशिष्ट पूजा होती थी तथा नेपथ्य-गृह तो स्पष्टतः पात्रों के वेशभूषा के सजाने तथा परिवर्तन के निमित्त पृथक् प्रयोग में आता था। रंगशीर्ष से नेपथ्य गृह में आने के लिए दो दरवाजे बनाये जाते थे। नेपथ्य गृह से आगे होता था रंगपीठ (१६ हाथ लंबा × ८ हाथ चौड़ा) जिस पर पात्रों के द्वारा समग्र अभिनय दिखलाया जाता था। रंगपीठ से होकर नेपथ्य गृह में जाने के लिए एक दरवाजा होता था और इसी का उपयोग पात्र अपने प्रवेश तथा निर्गम के लिए किया करते थे। एक बात ध्यान देने की है कि रंगपीठ के दोनों बगल में डेढ़ हाथ ऊँची मत्तवारणी (वरामदा) बनाई जाती थी। रंगशीर्ष के बनावट का विधान पाया जाता है। इसे न तो कूर्मपृष्ठ (कछुये की पीठ की तरह) होना चाहिए और न मत्स्यपृष्ठ, बल्कि दर्पण के समान समतल तथा चिक्कण होना चाहिए[1]। कभी कभी पात्र के प्रवेश की सूचना रंगपीठ पर नहीं दी जाती, प्रत्युत नेपथ्यगृह से ही उसके विषय में सूचना दी जाती है। ऐसे पात्रप्रवेश को 'चूलिका' कहते हैं (दशरूपक १।५५)।

---

[1] कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च।
शुद्धादर्शतलाकारं रङ्गशीर्षं प्रशस्यते॥
—नाट्यशास्त्र २।७९

नाट्यमण्डप पर्वत की गुफा के आकार का होना चाहिए। उसमें दो खण्ड (द्विभूमि) होते हैं। सम्भवतः ऊपरी खण्ड में देवताओं से सम्बद्ध घटनायें प्रदर्शित की जाती थीं तथा निचले खण्ड में मानवी घटनाओं का अभिनय किया जाता था[1]। नाट्यमण्डप के दिवालों को नाना प्रकार के चित्रों से सजाया जाता था जो सामयिक तथा विषय से सम्बद्ध होने से नितान्त उपयुक्त होते थे। रंगमंच की रचना विवात (विशेष हवादार) स्थान में नहीं होनी चाहिए, नहीं तो आवाज गम्भीर न होगी और न शब्दों की श्रुति ही ठीक ठीक श्रोताओं को हो सकेगी।

दर्शकों के बैठने के स्थानों की बड़ी सुन्दर व्यवस्था की जाती थी। आजकल के सीढीनुमा या गैलरी वाले आसन को अधिकांश आलोचक पश्चिमी नाट्यकला की देन मानते हैं, परन्तु वस्तुतः यह भारतीय प्रतिभा का व्यावहारिक निदर्शन है। भरत मुनि ने गैलरी की ही व्यवस्था दर्शकों के निमित्त मान्य बतलाई है[2]। दर्शकों के निवेशन अर्थात् बैठने के स्थान सोपानाकृति (सीढ़ी के ढंग के) होते थे। जमीन से सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची रखी जाती थीं तथा इनका निर्माण लकड़ी तथा ईंट की सहायता से किया जाता था। एक विशेष बात का ध्यान रखा जाता

---

[1] कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः।
मन्दवातायनोपेतो निर्वातो धीरशब्दवान्॥
—नाट्य शास्त्र २।८७

[2] स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृति पीठकम्।
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम्॥
हस्तप्रमाणैरुत्सेधै-र्भूमिभागसमुत्थितैः
रङ्गपीठावलोक्यं तु कुर्यादासनजं विधिम्॥
—ना॰ शा॰ २।९७, ९८।

था कि बैठने के ये समग्र स्थान रंगपीठ से देखने योग्य होते थे (रंगपीठावलोक्य) अर्थात् निवेशनों की सजावट ऐसी होती थी कि कहीं बैठ कर रंगपीठ के ऊपर अभिनय का साक्षात्कार भलीभाँति किया जा सके।

रँगपीठ के ऊपर नाटक के अंक की समाप्ति होने पर परदा गिराया जाता था। परदे के लिए शुद्ध शब्द है जवनिका, यवनिका नहीं। और यह नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द न होकर 'आवरण' के अर्थ में प्रयुक्त एक सामान्य शब्द है। ध्यान देने की बात यह है कि यूनानी रंगसंचों के ऊपर कोई परदा ही नहीं होता था। वे बिना परदे के ही ठेठ आसमान के नीचे अभिनीत किये जाते थे। फलतः 'मूलं नास्ति कुतः शाखाः' न्याय के अनुसार जवनिका को यूनानी नाट्य की उपज मानना तथा उसे भारत में ऋणरूप से गृहीत मानना निराधार सिद्धान्त है। जवनिका भारत की अपनी वस्तु है, किसी विदेश से उधार ली गई चीज नहीं। कम से कम दो परदों का विधान रंगमंचों पर देखा जाता है।

प्राचीन प्रेक्षागृह का यह निखरा रूप भारतीयों की निजी प्रतिभा का विलास है। यूनानी रंगशाला से इसकी तुलना करने पर इसकी सर्वाङ्गीणता तथा वैज्ञानिकता का पता लग सकता है। प्राचीन यूनान की रंगशाला एक साधारण सी वस्तु होती थी। अत्यन्त प्राचीन काल में रंगपीठ के लिए एक ऊँचा स्थान होता था जिस पर वाद्यमण्डली (आरचेस्ट्रा) तथा एक दो पात्र बैठते थे। दर्शकों के लिए कोई व्यवस्था न होती थी। अभिनय प्रायः पहाड़ के बगल में नीची जमीन पर होता था जहाँ दर्शक अपने बैठने के लिए ऊँचा नीचा स्थान खोज लिया करते थे। बहुत पीछे गैलरी बनी। रोमन काल में ही रंगपीठ के पीछे नेपथ्यगृह के लिए भी विशिष्ट मकान बनाया गया तथा पूरे रंगमंच के सुव्यवस्थित प्रकार की योजना सम्पन्न

हुई। यह अनेक शताब्दियों के उद्योग तथा प्रयास का सुपरिणाम था, परन्तु भारतवर्ष में प्रेक्षागृह का निर्माण नाट्यकला के प्रभातकाल में ही सम्पन्न हुआ और वह भी एक बार ही सर्वाङ्गीण सुव्यवस्थित रूप में। आधुनिक रंगशाला इस प्राचीन प्रेक्षागृह का ही विकसित रूप है जिसमें पश्चिमी नाट्यकला से छोटी-मोटी चीजें नवीन परिस्थिति के अनुसार यत्र-तत्र निविष्ट कर ली गई हैं।

प्राचीन रंगपीठ यथार्थवादी था, परन्तु घृणा या उद्वेग के जनक दृश्यों का प्रदर्शन सर्वथा वर्जित था। आजकल जिन दृश्यों का प्रदर्शन उचित माना जाता है उनमें से अनेक दृश्य प्राचीन काल में वर्ज्य थे जैसे रंगपीठ पर युद्ध का प्रदर्शन, भोजन, शयन आदि। फिर भी आवश्यकतानुसार घोड़े हाथी रंगमंच पर दिखलाये जाते थे। उस समय घास फूस के बने पदार्थों को चाम से मढ़कर दिखलाने की प्रथा थी। इसका विशिष्ट नाम 'सन्धिम पुस्त' था[1]।

भारतीय रंगमंच का प्रभाव बृहत्तर भारत के नाट्य-प्रयोग पर विशेष रूप से पड़ा है। वरमा, स्याम, कम्बोज, जावा, वाली, मलय आदि समस्त देशों के नाट्य तथा अभिनय के ऊपर भारतीय नाटकों का व्यवस्थित प्रभाव पड़ा है। कम्बोडिया की राजकीय रंगशाला 'राम-राम' के नाम से पुकारी जाती थी। यह हमारी रंगभूमि के सदृश ही रचना के विषय में थी। इसमें एक तरफ विल्कुल खुला रहता था। रंगपीठ के पास ही पात्रों की वेशभूषा के परिवर्तन तथा सजावट के लिए नेपथ्यगृह की व्यवस्था होती थी। रामायण के अभिनय के अवसर पर ही समग्र पात्र पुरुष होते थे, नहीं तो स्त्रियाँ ही नटों की भूमिका

---

[1] किलिञ्जवस्त्रचर्माद्यैर्यद्रूपं क्रियते बुधैः।
सन्धिमो नाम विज्ञेयः पुस्तो नाटकसंश्रयः ॥
—नाट्यशास्त्र २३।७

में अवतीर्ण होती थी। रंगशाला का एक विशेष प्रबन्धक होता था जो हमारे नाट्याचार्य के समान होता था। नटियों को सजाने, सिखलाने तथा तैयार करने का भार राजमहल की किसी विशिष्ट शिक्षित महिला के ऊपर था। जावा के नाटकछायानाटक ही होते थे जिन्हें 'वजंग' कहते हैं। इनके सात विभिन्न प्रकारों का वर्णन तथा विभाजन पाया जाता है। भारतवर्ष में 'पुत्तलिकानृत्य' के समान ही इनका भी प्रदर्शन किया जाता था। इन नाटकों के विषय तथा प्रकार के ही लिए जावा साहित्य भारतीय साहित्य का ऋणी नहीं है, प्रत्युत इनके अभिनय प्रदर्शन तथा प्रयोग के लिए भी। इस प्रकार भारतीय रंगमंच अपनी वैज्ञानिकता, सुव्यवस्था तथा विपुल प्रभावशालिता के कारण विश्व की रंगशालाओं के इतिहास में अपना पर्याप्त महत्त्व रखता है।

ख

नाटक का अभ्युदय

आज नाटक का आरम्भ महाकवि कालिदास की नाटकीय रचनाओं से होता है। कालिदास से पूर्ववर्ती नाटककारों में भास मुख्य थे जिनका वर्णन आगे किया जायगा। कालिदास तथा अश्वघोष के रूपकों का वर्णन पिछले परिच्छेद में किया गया है।

१

भास

प्रसिद्धि

कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में सूत्रधार[1] के मुख से स्पष्ट ही प्रश्न करवाया है कि प्रख्यात कीर्तिवाले भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि कवियों के प्रबन्धों को छोड़कर कालिदास की कृति का इतना अधिक आदर क्यों हो रहा है ? इस प्रश्न से अच्छी तरह मालूम पड़ता है कि कालिदास के समय में भास के नाटक अत्यन्त लोकप्रिय थे। कालिदास के परवर्त्ती कवियों ने भी भास के रूपकों का अतिशय आदर किया है। बाणभट्ट का कहना है कि भास ने सूत्रधार (नाटक का मैनेजर तथा कारीगर) से आरम्भ किये गये, बहुत से भूमिका (पार्ट और

---

[1] 'प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः'—मालविकाग्निमित्र।

आङ्गन) वाले, तथा पताका (नाटक की मुख्य अवान्तर घटना तथा ध्वजा) से सुशोभित मन्दिरों के समान अपने नाटकों से खूब ही यश पाया[1] । राजशेखर ने भी भास के नाटकों की अग्नि-परीक्षा तथा स्वप्नवासवदत्त के न जलने की बात लिखी है[2] । इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में सर्वसाधारण में भास के नाटकों का खूब प्रचार था ।

इधर १९१२ ई० में महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने स्वप्नवासवदत्त आदि तेरह नाटकों का अनन्तशयन ग्रन्थमाला में प्रकाशित कर उन्हें प्राचीन भास की असंदिग्ध रचनायें माना है । परन्तु संदेहवादियों का कहना है कि इस नाटक-चक्र का केवल 'स्वप्नवासवदत्त' भासकृत हो सकता है, क्योंकि आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी "अभिनवभारती" में इस रूपक का उल्लेख किया है[3] । परन्तु अन्य रूपकों को भास-कृत मानने में कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं है । स्वर्गीय पण्डित रामावतार शर्मा[4] की सम्मति में कुछ नाटकों के कतिपय अंश भास-रचित अवश्य हैं, किन्तु समग्र नाटकों की रचना भास ने नहीं की । किसी केरल कवि ने भास के उपलब्धांशों की पूर्ति कर दी है । अतएव इन नाटकों को भासकृत मानना समुचित नहीं है । डाक्टर[5] बार्नेट भी इन नाटकों के रच-

---

[1] सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥ —हर्षचरित

[2] भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥

[3] क्वचित् क्रीडा यथा वासवदत्तायाम् ।

[4] शारदा (संस्कृत पत्रिका) प्रथमवर्ष की पहिली संख्या ।

[5] देखिये Bulletin of School of Oriental Studies तथा J. R. A. S. 1919, p. 233 तथा 1921 p. 587

यिता को प्रसिद्ध भास मानने को उद्यत नहीं हैं। कतिपय भारतीय विद्वान् केरल देश में ही इनकी उपलब्धि होने से कुछ संदेह कर रहे हैं। वे इसे भास का न मानकर किसी केरलीय नाटककार का षड्यन्त्र समझ रहे हैं। परन्तु कुछ प्रमाण[1] नीचे दिये जाते हैं, जो इन नाटकों को भास-प्रणीत सिद्ध करने में अमूल्य सहायता देंगे।

प्रमाण

यद्यपि 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक ही भास की एकमात्र रचना साधारण रीति से जान पड़ता है, तथापि प्राचीनकाल में भास के एक से अधिक रूपकों के होने का यथेष्ट प्रमाण मिलता है। बाणभट्ट के पूर्वोद्धृत 'सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैः' पद्य में प्रयुक्त बहुवचनान्त 'नाटकैः' पद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सातवीं सदी में भास के नाम से भासकृत होने के अनेक नाटक प्रचलित थे। राजशेखर ने तो भास के 'नाटक-चक्र' का स्पष्टतः उल्लेख किया है। अभिनव गुप्त ने 'स्वप्न-नाटक' तथा 'दरिद्रचारुदत्त' का उल्लेख किया है। वामन ने 'प्रतिज्ञानाटिका', 'चारुदत्त' तथा 'स्वप्न-वासवदत्त' से कतिपय पद्यों को 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में उद्धृत किया है। भामह ने भी प्रतिज्ञा नाटक की वस्तु—कृत्रिम हस्ती के द्वारा वत्सराज की छलना—की आलोचना भामहालंकार में की है। 'प्रतिज्ञा' के एक प्राकृत-अंश का संस्कृत अनुवाद भी उनके पद्यों में पाया जाता है[2]। इन सब प्रमाणों पर दृष्टि रखते हुए कहना पड़ता है कि प्राचीनकाल में भास की खूब प्रसिद्धि थी तथा उनके अनेक नाटकों का प्रचार सर्वत्र था।

यदि इस नाटकचक्र की भाषा-संस्कृत तथा प्राकृत—पर उचित ध्यान दिया जाय, तो इसकी प्राचीनता स्वयं सिद्ध होगी। विद्वानों का कहना

---

[1] Thomas—Plays of Bhasa. J. R. A. S. 1922. p. 79.

[2] इन उल्लेखों के लिये म० म० गणपति शास्त्री कृत स्वप्नवासवदत्त नाटक की भूमिका देखिये।

है कि इसके प्राकृत कालिदासीय प्राकृत से भी प्राचीन हैं। कुछ ऐसे प्राकृतरूप मिले हैं जो अश्वघोष के नाटक तथा अशोक के शिलालेखों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होते। स्वीकृत्यर्थक 'आम' का प्रयोग केवल पालीभाषा में ही पाया जाता है तथा कतिपय पुंल्लिंग शब्दों के बहुवचनान्त रूप 'आनि' प्रत्यय जोड़कर इन नाटकों में बनाये गये हैं। यह रूप अति प्राचीन है, क्योंकि यह अश्वघोष के नाटक तथा अशोक की धर्मलिपियों में भी डाक्टर लूडर्स के द्वारा ढूँढ़ निकाला गया है। पीछे इन रूपों का अस्तित्व मिलता ही नहीं। यह तो हुई नाटकों की प्राकृत की कथा। इनकी संस्कृत के विषय में भी पूर्वोक्त सिद्धान्त अतिशय सत्यता से प्रयुक्त किया जा सकता है। इनमें ऐसे अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं जिनकी उपलब्धि केवल रामायण तथा महाभारत में ही प्रचुरता से होती है, अन्यत्र नहीं। इससे इनकी प्राचीनता स्पष्टतः सिद्ध होती है।

इन प्रमाणों से इस नाटकचक्र की प्राचीनता तो सिद्ध होती है। अब इन्हें भास-प्रणीत सिद्ध करने का उद्योग किया जायगा। संस्कृत साहित्य में कतिपय विशेषण भास के लिये प्राचीन कवियों ने व्यवहृत किये हैं। यदि इन विशेषणों के अनन्तशयन में प्रकाशित ग्रन्थावली के कर्त्ता के विषय में भी व्यवहृत होने का कारण मालूम हो तो इन्हें भासकृत मानने में अधिक संशय न होगा।

(क) साधारण नियम है कि नान्दी के अनन्तर सूत्रधार का प्रवेश होता है परन्तु इन नाटकों में नान्दी का सर्वथा अभाव है। ये नाटक नान्दी से न आरम्भ होकर सूत्रधार के द्वारा आरम्भ किये गये हैं। यह विशेषता भास के नाटकों में पाई जाई थी।

(ख) वाक्पतिराज ने अपने 'गउडवहो' नामक प्राकृत महाकाव्य[1]

---

[1] भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे तहावि रहुआरे
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारिअन्दे अ आणन्दो। (८००)

में भास को 'जलणमित्ते'—ज्वलनमित्र-अग्नि का मित्र—कहा है। कतिपय विद्वानों की सम्मति में वासवदत्ता के जलने की झूठी खबर फैलाकर भास को नाटकीय वस्तु के विकाश दिखलाने का उचित अवसर मिला है। अतः अग्निदाह का उपयोग करने वाले भास को ज्वलनमित्र कहा गया है। यदि यही कारण ठीक हो, तो उपलब्ध वासवदत्त के कर्त्ता भास ही होंगे क्योंकि इसमें वासवदत्ता के अग्निदहन की वार्ता फैलाकर पद्मावती का विवाह सम्पन्न कराया गया है जिससे मुख्य कार्य—राज्य प्राप्ति-निष्पन्न हुआ है।

(ग) जयदेव ने भास को 'कविता-कामिनी का हास' माना है[1]। इस विशेषण से हास्यरसवर्णन में भास की प्रवीणता प्रतीत होती है। उपलब्ध नाटकों में भी हास्यरस के प्रसंग अच्छे ढंग से दिखलाये गये हैं। इनमें हास्य के उद्धत तथा सुकुमार दोनों रूपों का समुचित वर्णन मिलता है। उद्धत हास्य के लिये 'प्रतिज्ञा' के विदूषक की श्लिष्ट भाषा पर ध्यान दीजिये तथा हास्य के सुकुमार रूप के देखने की अभिलाषा हो तो वासवदत्त के औदरिकविदूषक पर दृष्टिपात कीजिये। दोनों रूपों का जीता जागता चित्र आपके सामने आकर उपस्थित हो जायगा। कालिदास के ग्रन्थों में केवल सुकुमार हास्य के ही दर्शन होते हैं। उद्धत हास्य की प्रतिमा तो केवल इन नाटकों में ही दीख पड़ती है। अतः जयदेव का कथन इन नाटकों के कर्त्ता के विषय में भी पूरे तौर से घटता है। अतएव विद्वानों ने इन प्रमाणों के आधार पर इन नाटकों को भास-कृत मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की है। प्रश्न की महत्ता से ही प्रेरित होकर ये प्रमाण यहाँ कुछ विस्तार से दिखाये गये हैं।

---

[1] भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
केषां नैषा कथय कविता-कामिनी-कौतुकाय।
—प्रसन्नराघव की प्रस्तावना।

इन्हीं प्रमाणों के आधार पर अनन्त-शयन-ग्रन्थावली में प्रकाशित स्वप्नवासवदत्त आदि नाटक-चक्र के रचयिता प्राचीन नाटककार भास ही थे, ऐसा बहुत लोग मानते आये हैं। परन्तु इधर इस विषय की और भी खोज तथा परीक्षा करने पर यही प्रतीत होने लगा है कि इनके कर्त्ता सुप्रसिद्ध भास नहीं हो सकते। भास के स्वप्नवासवदत्त नाटक के जो उदाहरण तथा विवरण रीतिग्रन्थों में आते हैं वे प्रकाशित पुस्तक में मिलते नहीं। प्राकृत भाषा के आधार पर भी कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। इस नाटक-चक्र को भास-कवि-कृत न कहकर केरल-देशीय कविरचित कहना अत्यन्त उपयुक्त है। अब तो महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्म्मा जी का मत ही ठीक मालूम पड़ रहा है कि इन नाटकों के कुछ अंश भास कवि के हो सकते हैं, परन्तु केरल देश के किसी कवि ने इन्हें पूरा किया है। यही कारण है कि ये नाटक केरल के बाहर प्रसिद्ध नहीं हो सके। इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ केरल में ही मिली हैं और केरल देश के ही नट लोग (जिन्हें चाक्यार कहते हैं) इनका अभिनय कर आज भी लोगों का मनोरंजन किया करते हैं। अतः इन रूपकों का कुछ अंश भास की रचना होने पर भी समग्र ग्रन्थ किसी केरल कवि की ही रचनायें हैं। अधिकांश में ये ही तथ्य आजकल माने जाते हैं।

आविर्भाव-काल

प्रथम मत

भास नाटक-चक्र के आविष्कारक तथा सम्पादक गणपति शास्त्री ने— भास को चाणक्य तथा पाणिनि से भी प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। शूरों को युद्ध के लिए उत्साहित करने के प्रसंग में चाणक्य ने 'अपीह श्लोकौ भवतः' लिखकर जिन श्लोकों को प्रमाण कोटि में रखा है उनमें से एक

भास की उपलब्ध प्रतिज्ञा-नाटिका में पाया जाता[1] है। प्रतिभा नाटक में रावण के बार्हस्पत्य[2] अर्थशास्त्र में प्रवीणता प्राप्त करने की बात लिखी हुई है। बृहस्पति-कृत अर्थशास्त्र कौटिल्य से भी प्राचीन है। अतः उसके उल्लेख की घटना चाणक्य अर्थशास्त्र के विषय में भास की अज्ञानता की सूचिका है। प्रयोगों की अपाणिनीयता सिद्ध करती है कि पाणिनि के सर्वमान्य होने के पहिले ही इन नाटकों की रचना हुई थी। इन प्रमाणों के आधार पर भास का समय कम से कम पाँचवीं सदी ईस्वी पूर्व माना गया है। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं और वे चाणक्य तथा भास के पद्य को किस अन्य ग्रन्थ से लिया हुआ बतला कर इस मत को प्रमाण-कोटि में नही मानते।

द्वितीय मत

डाक्टर बार्नेट इस नाटक-चक्र के 'कल्पितभास' को सप्तम शताब्दी का केरलीय कवि बतलाते हैं, क्योंकि उसी समय में लिखे गये महेन्द्रवीर-विक्रम विरचित 'मत्तविलास' प्रहसन से इन नाटकों की भाषा तथा पारिभाषिक शब्द पूर्णतया समानता रखते हैं। 'राजसिंह' जिसका नाम भरतवाक्यों में अधिकता से पाया जाता है, केरल देश का साँतवीं सदी का राजा माना गया है। परन्तु भामह द्वारा उद्धृत तथा बाण के द्वारा प्रशंसित होने से इनका समय अवश्य ही प्राचीन होना चाहिये। इन नाटकों के पारिभाषिक शब्द भी प्राचीनता के ही द्योतक हैं तथा राजसिंह को व्यक्ति-वाचक नाम मानने में कोई दृढ़तर प्रमाण नहीं है। अतः इस सिद्धान्त में भी विद्वज्जन आस्था नहीं रखते।

---

[1] नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य मा भून्नरकं च गच्छेद् यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्॥

[2] भो काश्यपगोत्रोऽस्मि, साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यर्थशास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्पञ्च।

डा० लेस्नी, प्रिन्ट्ज, बैनर्जी शास्त्री, सुखथनकर आदि पश्चिमीय तथा पूर्वीय पण्डितों ने बाह्यपरीक्षा को छोड़कर नाटकों की आन्तरिक परीक्षा की है—विशेषतः प्राकृतभाषा की विशिष्ट आलोचना की है। उससे वे निरूपण करते हैं कि भास कालिदास (पाँचवीं सदी) से पुराने हैं, परन्तु अश्वघोष (द्वितीय सदी) से अर्वाचीन।

तृतीय मत भास के रूपकों में उपलब्ध प्राकृत शब्दों के रूप प्राकृत वैयाकरणों की सम्मति में अत्यन्त प्राचीन ठहरते हैं। यदि 'अस्मि' के अर्थ में भास ने 'ह्मि' का प्रयोग किया है, तो कालिदास ने 'म्हि' का। 'हमारे' अर्थ में भास ने 'अम्हअं' तथा 'अम्हाणं' का प्रयोग किया है, तो कालिदास ने नाटकों में केवल पहिले ही रूप का। 'अहम्' के लिये भास ने 'अहके' तथा 'अहं' का प्रयोग किया है, परन्तु कालिदास ने 'हग्गे' या 'हके' का। इसी प्रकार अश्वघोष की प्राकृत का विकास भास में दीख पड़ता है। अतः इनका समय दोनों—अश्वघोष तथा कालिदास—के बीच अर्थात् तीसरी सदी में होना चाहिये। यही मत आजकल अधिकांश विद्वान् मानते हैं।

ग्रन्थ

(१) प्रतिमा नाटक—राम का वनवास, सीताहरण आदि अयोध्याकाण्ड से लेकर रावणवध तक की घटनाओं का वर्णन इस नाटक में किया गया है। इस नाटक से प्राचीन भारत में कला-विषयक नवीन वृत्तान्त का पता लगता है। प्राचीनकाल में राजाओं के देवकुल होते थे जिनमें मृत्यु के अनन्तर राजाओं की पत्थर की बड़ी मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। इक्ष्वाकुवंश का भी ऐसा ही देवकुल था जिसमें मृत नरेशों की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। केकयदेश से आते समय अयोध्या के समीप देवकुल में स्थापित दशरथ की

प्रतिमा को देखकर ही भरत ने उनकी मृत्यु का अनुमान आप ही आप कर लिया। इसी कारण इसका नाम 'प्रतिमा-नाटक' है।

(२) अभिषेक नाटक—इसमें राम के राज्याभिषेक का वर्णन किया गया है। इन दोनों नाटकों में बालकाण्ड को छोड़कर रामायण के शेष काण्डों की कथाएँ आ गई" हैं।

(३) पञ्चरात्र—महाभारत की एक घटना को लेकर यह नाटक रचित है। द्रोण ने दुर्योधन से पाण्डवों को आधा राज्य देने के लिये कहा। दुर्योधन ने प्रतिज्ञा की कि पाँच रातों में यदि पाण्डव मिल जायँगे तो मैं उन्हें राज्य दे दूँगा। द्रोण के प्रयत्न करने पर पाण्डव मिल गये और दुर्योधन वे उन्हें आधा राज्य दे दिया। यह घटना कल्पित है और महाभारत में नहीं मिलती।

(४) मध्यमव्यायोग (५) दूतघटोत्कच (६) कर्णभार (७) दूतवाक्य (८) उरुभङ्ग—ये नाटक महाभारत की विशिष्ट घटनाओं से सम्बद्ध हैं। (९) बालचरित—कृष्ण के बालचरित से सम्बद्ध है। (१०) दरिद्रचारुदत्त—धनहीन परन्तु चरित्रसम्पन्न ब्राह्मण चारुदत्त तथा गुणग्राहिणी वारवनिता वसन्तसेना का आदर्श प्रेम वर्णित है। (११) अविमारक—प्राचीन आख्यायिका का नाटकीय रूप है।

(१२) प्रतिज्ञायौगन्धरायण—कौशाम्बी के आखेट के प्रेमी राजा उदयन को कृत्रिम हाथी के छल से उज्जयिनी-नरेश महासेन ने पकड़ लिया। इस रूपक में उदयन के मन्त्री यौगन्धरायण ने दृढ़ प्रतिज्ञा करके केवल राजा को ही बन्धन से नहीं छुड़ाया, बल्कि कुमारी वासवदत्ता का भी कपट से हरण कराया। मन्त्री की दृढ़-प्रतिज्ञता तथा कुटिलनीति का यह सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है।

(१३) स्वप्नवासवदत्त—भास की नाट्यकुशलता का यह चूड़ान्त निदर्शन है। इसे 'प्रतिज्ञा' का उत्तरार्द्ध समझना समुचित

होगा। राजा उदयन को अपने विरोधियों को परास्त करना है जिसके लिये मगध के राजा दर्शक की सहायता लेना नितान्त आवश्यक है। यौगन्धरायण दर्शक को ठगने के लिये वासवदत्ता के आग में जल जाने की झूठी खबर फैलाता है; परन्तु वास्तव में उसे दर्शक की भगिनी पद्मावती के पास वेश बदल कर रख जाता है। अनन्तर पद्मावती के साथ वत्सराज का शुभ विवाह हो जाता है। स्वप्न में राजा वासवदत्ता को देखता है जिससे मिलने से उसकी हार्दिक अभिलाषा अत्यन्त बढ़ जाती है और उसे वासवदत्ता के जीवित होने में कुछ विश्वास जमने लगता है। वत्सविजय के अनन्तर राजा के सामने वासवदत्ता लाई जाती है और दोनों का पुनः आनन्द-मिलन होता है।

चरित्र चित्रण में भास ने अपनी नाट्यकला का अद्भुत चित्र खींचा है। ऐसे शुद्ध तथा विशद प्रेम का वर्णन किया है कि मन आनन्द से मुग्ध हो जाता है। नाटकीय घटनाओं की ऐसी मनोहारिणी संगति दिखाई गयी है कि अस्वाभाविकता पास फटकने नहीं पाई है। वास्तव में यह नाटक संस्कृत साहित्य का एक जाज्वल्यमान रत्न है जिसकी प्रभा के सामने अनेक नाटक-रत्न छबिहीन प्रतीत होते हैं। भास की भाषा में एक विचित्र अनूठापन है। वाक्य हैं तो बड़े छोटें छोटे, परन्तु उनमें विचित्र भाव भरा हुआ है। भास की कविता-कामिनी अपने स्वाभाविक पदविन्यास के लिये जितनी प्रसिद्ध है, उतनी ही अपने भावों के लिये। कृत्रिमता तो कहीं देखने के लिये भी नहीं मिलेगी। इनकी कविता प्रशंसनीय सरलता तथा आदरणीय सुन्दरता से सर्वत्र व्याप्त है। भास मानव-हृदय के विकारों के सच्चे पारखी हैं। बाह्य प्रकृति के भी सरल वर्णनों में इनकी योग्यता किसी से घटकर नहीं है। अलङ्कारों के चुनाव में उपमा तथा स्वभावोक्ति पर ही का विशेष स्नेह दीख पड़ता है। भास नाटकीय कला के पारंगत आचार्य हैं, चरित्र-चित्रण करने में अद्भुत चित्रकार हैं।

२

विशाखदत्त

विशाखदत्त का मुद्राराक्षस संस्कृत नाटकों में अपनी महत्ता तथा गौरव में अद्वितीय है। इसका विषय राजनीति या कूटनीति है। वह इतनी पेचीदी है जितनी मानवबुद्धि कल्पना नहीं कर सकती है। इसके रचयिता विशाखदत्त ने प्रस्तावना में अपना जो कुछ परिचय दिया है, उससे पता चलता है कि इनके पितामह वटेश्वरदत्त अथवा वत्सराज किसी देश के सामन्त थे। पिता भास्करदत्त या पृथु ने महाराज की पदवी प्राप्ति की थी। राजनीति विशेषतः कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा शुक्र-नीति के प्रकाण्ड पण्डित होने के अतिरिक्त विशाखदत्त दर्शनशास्त्र विशेषतः न्याय तथा ज्यौतिष के भी पूरे पण्डित थे। वैदिक धर्मावलम्बी होने पर भी उनका मत इतना उदार था कि बुद्धधर्म को वह आदर की दृष्टि से देखते थे। जैनधर्म के प्रति अवश्य उनकी कुछ अनास्था प्रतीत होती है।

रचनाकाल

मुद्राराक्षस के रचनाकाल के निर्णय के लिये विद्वानों ने विशेष परिश्रम किया है। भरत-वाक्य में एक राजा का नाम आता है जिसे भिन्न-भिन्न हस्तलिखित प्रतियों में दन्तिवर्मा, चन्द्रगुप्त तथा अवन्तिवर्मा बतलाया गया है। इस भरत-वाक्य का आशय यह है कि जिस प्रकार भगवान् विष्णु ने हिरण्याक्ष के उत्पीडनों से सन्तप्त भूतल का उद्धार वाराहरूप से किया, उसी प्रकार इस समय म्लेच्छों के द्वारा उद्विग्न होनेवाली पृथ्वी की यह पार्थिव अपने भुजबल से रक्षा करे। भिन्न भिन्न पाठों के कारण इस ग्रन्थ का समय भिन्न-भिन्न शताब्दियों में रक्खा

गया है। (१) दन्तिवर्मा दक्षिण के पल्लव-नरेश माने गये हैं जो ७२० ईस्वी के लगभग राज्य करते थे। यदि यह बात सत्य हो तो इस ग्रंथ की रचना अष्टम शतक में हुई। परन्तु उस समय किसी भी आक्रमणकारी म्लेच्छ का पता नहीं चलता है जिसके उत्पीडन से रक्षा की प्रार्थना की जाय। (२) डाक्टर जायसवाल ने चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५–४१३ ई०) विक्रमादित्य को ही इस भरत-वाक्य का विषय माना है। अतः उनके मत से इस ग्रन्थ की रचना ४०० ईस्वी के लगभग हुई। परन्तु यह भी मत ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि म्लेच्छों (हूणों) का शासनकाल चन्द्रगुप्त के राज्य के लगभग ५० वर्ष पीछे आरम्भ होता है। अतः उनसे भरत-वाक्य की सङ्गति नहीं जमती। (३) टीकाकार ढुण्ढिराज के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का ही इस भरत-वाक्य में उल्लेख है। परन्तु प्रायः प्रशस्तिवाक्य में नायक से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। अतः चन्द्रगुप्त से चन्द्रगुप्त मौर्य की सूचना सर्वथा विरुद्ध है। (४) अवन्तिवर्मा दो थे। एक काश्मीर के राजा और दूसरे कन्नौज के। कन्नौज-नरेश मौखरि वंश के थे। और इन्हीं के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ थानेश्वर के महाराज श्रीहर्ष की भगिनी राज्यश्री का विवाह हुआ था। इस भरत-वाक्य में इन्हीं का निर्देश ऐतिहासिक रीति से प्रमाणित होता है। इसी समय हूणों का उपद्रव पश्चिमोत्तर भारत (पंजाब) में विशेषरूप से हुआ था। इन हूणों को अवन्तिवर्मा ने थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्द्धन की सहायता से परास्त किया था। यह घटना ५८२ ईस्वी के आसपास की है। अतः इसकी रचना छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

समीक्षा

इस नाटक का मुख्य उद्देश्य राजनीति है। जो कुछ भी घटना घटती है वह इसी उद्देश्य को अग्रसर करती जाती है। चाणक्य

राक्षस को बुद्धिबल से परास्त कर चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनना चाहता है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये उसने अपने जिस बुद्धि-वैभव का प्रदर्शन किया है वह राजनीतिज्ञों को भी उलझन में डालने वाला है। पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति में इस नाटक में घटना की एकता का जितना सुन्दर प्रदर्शन हुआ है उतना अन्यत्र नहीं। आदि से लेकर अन्त तक सभी घटनाएँ राक्षस के वशीकरण की ओर ही प्रवृत्त हो रही हैं। चरित्र-चित्रण में विशाखदत्त विशेष निपुण हैं। इन्होंने अपने पात्रों को युगलरूप में चित्रित किया है—चाणक्य और राक्षस, चन्द्रगुप्त और मलयकेतु, इसी प्रकार के युगल पात्र हैं। चाणक्य और राक्षस दोनों ही कुशल राजनीतिज्ञ हैं। परन्तु चाणक्य दीर्घदर्शी और धीर है; राक्षस अधीर तथा विस्मरणशील है। परन्तु राक्षस में जिस मैत्रीभावना का कवि ने चित्रण किया है वह भारतीय संस्कृति की अपूर्व देन है। चन्द्रगुप्त बड़ा ही योग्य तथा विचारशील शासक है; ठीक इसके विपरीत मलयकेतु बुद्धिहीन अयोग्य तथा अभिमानी, कच्ची बुद्धि का युवक है। वीररस इसका मुख्य रस है। उत्साह प्रत्येक पात्र के हृदय में घर किये हुए है। जान पड़ता है कि विशाखदत्त राजनीतिक नाटक लिखने में सिद्धहस्त थे। इनकी दूसरी कृति देवीचन्द्रगुप्त नाम नाटक है। इसके कुछ ही उद्धरण नाट्यग्रन्थों में मिलते हैं। और वे इतिहास की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इसी के आधार पर चन्द्रगुप्त के ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त की सत्ता ऐतिहासिकों ने मानी है।

विशाखदत्त की कविता राजनीति-प्रधान नाटक के सर्वथानुकूल है। श्लेष के द्वारा शास्त्रीय उपमाओं का विन्यास बड़ा ही सुन्दर हुआ है। नीचे के श्लोक में नाटककर्ता तथा राजनीति के प्रयोक्ता में बड़ा सुन्दर सादृश्य दिखलाया है :—

कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयन् तस्य विस्तारमिच्छन्
वीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयँश्च।

कुर्वन् बुद्ध्या विमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन् कार्यजातं
कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा ॥

—मुद्राराक्षस (४।३)

४

शूद्रक

मृच्छकटिक के रचयिता शूद्रक का कुछ परिचय ग्रन्थ के आरम्भ (१।४,१।५) में ही मिलता है। इसके अनुसार शूद्रक हस्तिशास्त्र में परम प्रवीण थे, भगवान् शिव के अनुग्रह से उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था, बड़े ठाट बाट से उन्होंने अश्वमेध किया था, अपने पुत्र को राज्यसिंहासन पर बैठा दस दिन तथा सौ वर्ष की आयु प्राप्त कर अन्त में अग्नि में प्रवेश किया। वह युद्धों से प्रेम करते थे, प्रमादरहित थे, तपस्वी तथा वेद जानने वालों में श्रेष्ठ थे। राजा शूद्रक को बड़े बड़े हाथियों के साथ बाहुयुद्ध करने का बड़ा शौक था। उनका शरीर था शोभन, उनकी गति थी मतङ्ग के समान ; नेत्र थे चकोर की तरह, मुख था पूर्ण चन्द्रमा की भाँति। तात्पर्य यह है कि उनका समग्र शरीर सुन्दर था। वे द्विजों में मुख्य थे।

शूद्रक नामक राजा की संस्कृतसाहित्य में खूब प्रसिद्धि है। जिस प्रकार विक्रमादित्य के विषय में अनेक दन्त-कथायें प्रख्यात हैं, उसी प्रकार शूद्रक के विषय में भी हैं। कादम्बरी में विदिशा नगरी में, कथासरित्सागर में शोभावती तथा वेतालपञ्चविंशति में वर्धमान नामक नगर में शूद्रक के राज्य करने का वर्णन पाया जाता है। कथासरित्सागर में इस कथा का उल्लेख पाया जाता है कि किसी ब्राह्मण ने राजा को आसन्नमृत्यु जानकर उसके दीर्घ जीवन की आशा से अपने प्राण निछा-

वर कर दिये थे। हर्षचरित में लिखा है कि शूद्रक चकोर के राजा चन्द्रकेतु का शत्रु था। राजतरंगिणीकार स्थिर-निश्चयता के दृष्टान्त के लिये शूद्रक का स्मरण करते हैं। स्कन्दपुराण के अनुसार विक्रमादित्य के सत्ताइस वर्ष पहिले शूद्रक ने राज्य किया था। प्रसिद्धि है कि कालिदास के पूर्ववर्ती रामिल तथा सोमिल नामक कवियों ने मिलकर 'शूद्रक-कथा' नामक पुस्तक लिखी थी। अतः शूद्रक राजा की पर्याप्त प्रसिद्धि है[1]।

स्थितिकाल

पुराणों में आन्ध्रभृत्य कुल के प्रथम राजा शिमुक का वर्णन मिलता है। अनेक भारतीय विद्वान् राजा शिमुक के साथ शूद्रक की अभिन्नता अंगीकार कर इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी में मानते हैं। यदि यह अभिन्नता सप्रमाण सिद्ध की जा सके, तो शूद्रक कालिदास के समकालीन अथवा उनके कुछ पूर्व के ही माने जायँगे। परन्तु मृच्छकटिक की इतनी प्राचीनता स्वीकार करने में बहुतों को आपत्ति है।

वामनाचार्य ने अपनी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में ('शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेषु') शूद्रक विरचित प्रबन्ध का उल्लेख किया है।

'द्यूतं हि नाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम्'—

---

[1] इन्हीं सब ऐतिहासिक कथाओं का अनुशीलन कर श्री चन्द्रबली पांडे ने बड़ी प्रामाणिक युक्तियों के आधार पर शूद्रक को वासिष्ठी-पुत्र श्री पुलमावि (राज्यारोहण लगभग ई० सन् १३०, मृत्यु १५५ ई० सन्) से अभिन्नता सिद्ध की है। पांडे जी के विचार नितान्त मौलिक हैं तथा अनुसन्धान-योग्य हैं। द्रष्टव्य चन्द्रबली पांडे—शूद्रक पृष्ठ १–३८, काशी, सं० २०१०।

इस मृच्छकटिक के द्यूत-प्रशंसा-परक वाक्य को उद्धृत भी किया है जिससे कह सकते हैं कि आठवीं शताब्दी के पहले ही मृच्छकटिक की रचना की गई होगी। वामन के पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी (सप्तम शतक) ने भी काव्यादर्श में, 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' मृच्छकटिक के इस पद्यांश को अलंकार-निरूपण करते समय उद्धृत किया है। इन बहिरंग प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि मृच्छकटिक की रचना सप्तम शताब्दी के पहले ही हुई होगी।

समय निरूपण में मृच्छकटिक के अन्तरंग प्रमाणों से भी बहुत सहायता मिलती है। नवम अंक में वसन्तसेना की हत्या करने के लिये शकार आर्य चारुदत्त पर अभियोग लगाता है। अधिकरणिक के सामने यह पेश किया जाता है। अन्त में मनु के अनुसार ही धर्माधिकारी निर्णय करता है—

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह। (९।३९)

इससे स्पष्ट ही है कि मनु के कथनानुसार चारुदत्त का अपराध सिद्ध होता है और धनसम्पत्ति के साथ उसे देश से निकल जाने का दण्ड दिया जाता है। यह निर्णय ठीक मनुस्मृति के अनुरूप है—

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम्॥
न ब्राह्मणवधाद् भूयानधर्मो विद्यते भुवि।
तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत्॥
(८ अ०, ३८०-३८१)

अतः मृच्छकटिक की रचना मनुस्मृति के अनन्तर हुई होगी। मनुस्मृति का रचना-काल विक्रम से पूर्व द्वितीय शतक माना जाता है जिसके पीछे मृच्छकटिक को मानना होगा। भास कवि के 'दरिद्र

चारुदत्त' तथा शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में अत्यन्त समता पाई जाती है। मृच्छकटिक का कथानक बहुत विस्तीर्ण है, दरिद्रचारुदत्त का संक्षिप्त। यदि मृच्छकटिक को भास के रूपक के अनुकरण पर रचा गया मान लें, तो शूद्रक का समय भास के पीछे होना चाहिये अर्थात् ईस्वी की तीसरी सदी के पीछे होगा।

मृच्छकटिक के नवम अंक में कवि ने बृहस्पति को अंगारक अर्थात् मंगल का विरोधी[1] बतलाया है; परन्तु वराहमिहिर ने इन दोनों ग्रहों को मित्र माना[2] है। प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर का सिद्धांत ही आजकल फलित ज्योतिष में सर्वमान्य है। आज कल भी मंगल तथा बृहस्पति मित्र ही माने जाते हैं, परन्तु वराहमिहिर के पूर्ववर्ती कोई कोई आचार्य इन्हें शत्रु मानते थे, जिसका उल्लेख[3] बृहज्जातक में ही पाया जाता है। वराहमिहिर का परवर्ती ग्रन्थकार बृहस्पति को मंगल का शत्रु कभी नहीं कह सकता। अतः शूद्रक वराहमिहिर से पूर्व के ठहरते हैं। वराहमिहिर की मृत्यु ५८९ ईस्वी में हुई थी; इसीलिये शूद्रक का समय छठी सदी के पहले होना चाहिये।

इन सब प्रमाणों का सार यही है कि शूद्रक भास (तृतीय

---

[1] अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः।
ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः॥

(मृच्छ० ९।३३)

[2] जीवेन्दूष्णकराः कुजस्य सुहृदः।

—बृहज्जातक २।१६।

[3] जीवो जीवबुधौ सितेन्दुतनयौ व्यर्का विभौमाः क्रमात्।
वीन्द्वर्का विकुजेन्दवश्च सुहृदः केषांचिदेवं मतम्॥

—वही २।१५।

शतक) के परवर्ती तथा वराहमिहिर (षष्ठ शतक) के पूर्ववर्ती थे अर्थात् मृच्छकटिक की रचना पञ्चम शतक में हुई थी।

ग्रंथ की कथा

मृच्छकटिक में १० अंक हैं। पहले अंक का नाक 'अलंकारन्यास' है। इसमें उज्जयिनी की प्रसिद्ध वारवनिता वसन्तसेना को राजा का श्यालक शकार वश में करना चाहता है। रास्ते अंधेरी रात में विट तथा चेट के साथ शकार उसका पीछा कर रहा है। मूर्ख शकार के कथन से वसन्तसेना को पता चलता है कि वह आर्य चारुदत्त के मकान के पास ही है। अतः उसके घर में घुसती है। विदूषक मैत्रेय शकार को डाँट डपट कर घर में घुसने से रोकता है। चारुदत्त से वार्तालाप करने के बाद शकार से बचने के लिये वसन्तसेना अपना गहना उसके घर पर रख आती है। दूसरे अंक नाम 'द्यूतकर संवाहक' है। दूसरे दिन सबरे दो घटनाएँ घटती है। संवाहक पहले चारुदत्त की सेवा में था, पीछे पक्का जुआरी बन जाता है। वह जूए में बहुत सा धन हार जाता है जिससे वह चारुदत्त के घर भाग आता है। चारुदत्त उसे ऋणमुक्त कर देते हैं। संवाहक बौद्ध भिक्षु बन जाता है। उसी दिन प्रातःकाल वसन्तसेना का हाथी रास्ते में किसी भिक्षुक को कुचलना ही चाहता है कि उसका सेवक कर्णपूरक उसे बचाता है। चारुदत्त अपना बहुमूल्य दुशाला उपहार में देते हैं। तीसरे अंक का नाम 'सन्धिच्छेद' है। वसन्तसेना की दासी मदनिका को शर्विलक सेवा से मुक्त कराना चाहता है। वह ब्राह्मण है; परन्तु प्रेमपाश में बँधकर आर्य-चारुदत्त के घर में सेंध मारता है और वसन्तसेना का गहना चुरा लेता है। चतुर्थ अंक का नाम 'मदनिका-शर्विलक' है जिसमें शर्विलक अलंकार लेकर वसन्तसेना के घर जाता है और मदनिका को सेवा मुक्त कर देता है। चारुदत्त की पतिव्रता पत्नी धूता अपनी बहुमूल्य रत्नावली

उसके बदले देती है। मैत्रेय रत्नावली लेकर वसन्तसेना के महल में जाता है और जूए में हार जाने का बहाना कर रत्नावली देता है। वसन्तसेना सायंकाल चारुदत्त के घर आने के लिये वादा करती है। पाँचवें अंक का नाम 'दुर्दिन' है। इसमें वर्षा का विस्तृत वर्णन है। सुहावने वर्षाकाल में आर्य चारुदत्त उत्सुकता से वसन्तसेना का राह जोहते बैठे हैं। चेट वसन्तसेना के आगमन की सूचना देता है। चारुदत्त से प्रेम सम्मिलन होता है। उस रात वह वहीं बिताती है। षष्ठ अंक का नाम 'प्रवहणविपर्यय' है तथा सप्तम का 'आर्यकापहरण'। प्रातःकाल चारुदत पुष्पकरण्डक नामक बगीचे में गये हैं। उनसे भेंट करने लिये वसन्तसेना जाना चाहती है; परन्तु भ्रम से शकारकी गाड़ी में, जो समीप में खड़ी थी, जा बैठती है। इधर राजा पालक किसी सिद्ध की भविष्यवाणी पर विश्वास कर गोपाल के पुत्र आर्यक को कैदखाने में बन्द कर देता है। आर्यक कारागृह से भागकर चारुदत्त की गाड़ी में चढ़ जाता है। शृंगला की आवाज़ को भूषण की झनझनाहट समझ गाड़ीवान गाड़ी हाँक देता है। रास्ते में दो सिपाही गाड़ी देखने जाते हैं जिनमें से एक आर्यक को देख उसकी रक्षा करने का बचन देता है और अपने साथी से किसी बहाने झगड़ा कर बैठता है। आर्यक बगीचे में चारुदत्त से भेंट करता है। अष्टम अंकका नाम 'वसन्तसेना-मोटन' है। जब वसन्तसेना पुष्पकरण्डक उद्यान में पहुँचती है, तब प्राणप्रिय चारुदत्त के स्थानपर दुष्ट शकार-संस्थानक—मिलता है जो उसकी प्रार्थना न स्वीकार करने से वसन्तसेना का गला घोंट डालता है। संवाहक, जो भिक्षु बन गया है, वसन्तसेना को समीप के विहार में ले जाता है और योग्य उपचार से उसे पुनरुज्जीवित करता है। नवम अंक में जिसका नाम 'व्यवहार' है, शकार चारुदत्त पर वसन्तसेना के मारने का अभियोग लगाता है। कचहरी में जजके सामने मुकदमा पेश होता है। उसी समय चारुदत्त का बालक-पुत्र रोहसेन मृच्छकट-मिट्टी-की

गाड़ी-लेकर आता है जिसमें वसन्तसेन के दिये सोने के गहने हैं। इसी आधार पर चारुदत्त को फाँसी का हुक्म होता है। 'संहार' नामक दशम अंक में उसी समय राज्यपरिवर्तन होता है। पालक को मार चारुदत्त का परम मित्र आर्यक राजा बन जाता है। वह चारुदत्त को क्षमा ही नहीं कर देता, प्रत्युत मिथ्याभियोग के कारण शकार को फाँसी का हुक्म देता है; परन्तु चारुदत्त के कहने से क्षमा कर देता है। वसन्तसेना के साथ चारुदत्त का व्याह सम्पन्न होता है। इसी अन्तिम प्रेम-मिलन के संग यह रूपक समाप्त होता है।

हाल ही में शूद्रक के नाम से 'पद्मप्राभृतक' नामक भाण मिला है। भाण का कथानक बहुत ही सुन्दर है और उसमें वर्णित विषयों की प्राचीनता भी स्पष्ट दीखती है। अतः मृच्छकटिक के रचयिता शूद्रक पद्मप्राभृतक के भी कर्ता हैं; इसे मानने में आपत्ति नहीं जान पड़ती।

इस प्रकरण के कथावस्तु के दो अंश हैं—पहिला भाग चारुदत्त तथा वसन्तसेना का प्रेम, दूसरा भाग आर्यक की राज्यप्राप्ति। शूद्रक ने पहले अंश को भास के 'दरिद्र-चारुदत्त' नाटक से अविकल लिया है। शब्दतः और अर्थतः—दोनों प्रकार की समता इसमें दृष्टिगोचर हो रही है। राजनीतिक भाग कवि की अपनी सम्पत्ति है। विज्ञ आलोचक इस अंश को प्राचीन ऐतिहासिक घटना के आधार पर लिखा गया मानते हैं। दोनों अंशों को शूद्रक ने बड़ी सुन्दरता के साथ सम्बद्ध किया है।

चरित्रचित्रण

शूद्रक चरित्र-चित्रण में खूब सिद्धहस्त हैं। इनके पात्र जीते जागते हैं; सजीवता की मूर्ति हैं। प्रत्येक पात्र में कुछ-न-कुछ विशेषता है। मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त है। प्रकरण का नायक धीरप्रशान्त

ब्राह्मण, वणिक या मन्त्री हुआ करता है। चारुदत्त ब्राह्मण है तथा धीर प्रशान्त है। शूद्रक ने चारुदत्त के रूप में भारत के आदर्श नागरिक का चित्र खींचा है। वह सदाचार का निदर्शन है।

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः ।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्वो
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये ॥

(मृच्छ० १।४८)

चारुदत्त दीनों के कल्पवृक्ष है। दरिद्रों की सहायता करते उसे दरिद्रता आ घेरती है, परन्तु फिर भी वह दीनों की सहायता करने से विरत नहीं होता। उसमें आत्माभिमान की मात्रा खूब है। उसे जानकर अत्यन्त दुःख होता है कि हमारे घर से छूँछे हाथ लौट जानेवाला चोर अपने मित्रों से मेरी दरिद्रता की निन्दा करेगा। स्वभाव उसका बड़ा उन्नत है। वसन्तसेना का अलंकार चोरी चला जाता है, परन्तु उसे प्रसन्नता होती है कि उसके घर में सेंध मारनेवाला चोर विफल-मनोरथ होकर नहीं गया। वसन्तसेना के अल्पमूल्य भूषण के बदले में बहुमूल्य रत्नवाली देने में तनिक भी नहीं हिचकता। जो शकार उसके जीवन का गाहक था, जिसने उस पर वसन्तसेना के मारने का मिथ्या अभियोग लगाकर शूलीपर चढ़ाये जाने का कारण था, उसी दुष्टबुद्धि मूर्ख शकार को वह क्षमा कर देता है। सचमुच चारुदत्त के रूप में हम एक आदर्श हिन्दू सज्जन का मनोरम चित्र पाते हैं।

वसन्तसेना उज्जयिनी की वेश्या है—इस प्रकरण की नायिका है। उसके चरित्र में हम अनेक स्त्रीसुलभ गुणों का सन्निवेश पाते हैं। वेश्या होने पर भी वह सच्चे प्रेम का मूल्य जानती है—माता के आग्रह करने पर भी वह शकार की संगति नहीं चाहती और विरोध करने

पर भी सदाचारी आर्य चारुदत्त की प्रेमपात्री बनने के लिये वह सतत उद्योग करती है। उसका हृदय अत्यन्त कोमल है। सेवकों पर दया करना उसका स्वाभाव है। यद्यपि शकार उसे मार डालने का उद्योग करता है, तथापि वह अपने सद्गुणों के कारण जीवित बच जाती है। वसन्तसेना तथा चारुदत्त के अतिरिक्त अन्य पात्रों के भी चरित्र चित्रण में शूद्रक को सफलता प्राप्त हुई है। धूता सच्ची पतिव्रता हिन्दूनारी है जो अपने पतिदेव की प्रसन्नता के लिये कठिन से कठिन संकट झेलने के लिये उपस्थित है। अपने पति को कलंक से बचाने के लिये बसन्तसेना के अल्पमूल्य आभूषण के लिये बहुमूल्य रत्नावली देते समय उसे तनिक भी दुबिधा नहीं होती। रोहसेन भी स्निग्ध-हृदय पुत्र है। मैत्रेय केवल मोदक से अपनी उदर-ज्वाला को शान्त करनेवाला 'औदरिक'—पेटू—नहीं है, न वह केवल हास्य का साधन है, प्रत्युत वह एक सच्चा मित्र है—विपत्ति में साथ देनेवाला सच्चा बन्धु है। अन्य साधारण पात्रों में शर्विलक का चरित्र सज्जनता तथा दुर्जनता का अपूर्व मिश्रण है। वेश्या की गृहदासी मदनिका को अपनी प्रिय पात्री बनाने में यह ब्राह्मण देवता तनिक भी नहीं सकुचाते—उसे ऋण-मुक्त करने के लिये चोरी करने में उसे कुछ भी लज्जा नहीं, परन्तु अपने मित्र आर्यक के कारागृह में बन्धन की वार्ता सुन वह अपनी प्रणयिनी को छोड़ सहायता करने के लिये खम ठोककर 'मैदाने जंग' में आ जुटता है।

मृच्छकटिक में सबसे विचित्र नाटकीय पात्र है—शकार। यह राजा का श्यालक है। नाम है संस्थानक। यह गर्व का जीता जागता पुतला है। उसमें दया छूकर भी नहीं है। वसन्तसेना को प्रणयपाश में बाँधना चाहता है, परन्तु वह इस मूर्ख को पसन्द नहीं करती। शकार चारुदत्त का अकारण शत्रु है। वसन्तसेना का गला अपने हां ही घोंट डालता है परन्तु दोष मढ़ता है चारुदत्त के सिर पर। अपने किये

कर्म का फल चखने का भी सुयोग आता है परन्तु चारुदत्त उसे क्षमा कर देता है। शकार के कथन सर्वथा दोषयुक्त होते हैं—

अपार्थमक्रमं व्यर्थं पुनरुक्तं हतोपमम्।
लोकन्यायविरुद्धं च शकारवचनं विदुः॥

इसकी शकार-बहुला भाषा भी शकारी के नाम से प्रसिद्ध है। यथा

झाणज्झणन्तबहुभूशणशद्दमिश्शं
किं दोवदी विअ पलाअशि लामभीदा।

एशे हलामि शहशत्ति जधा हणूमे
विश्शावशुश्श बहिणिं विअ तं शुभद्दम्॥ (१।२५)

अरी! अपने गहनों को झनझनाती हुई राम से डरी हुई द्रौपदी की तरह क्यों भग रही हो? मैं तुम्हें उसी भाँति ले भागता हूँ, जिस प्रकार हनुमान्‌जी विश्वावसु की भगिनी सुभद्रा को ले भागे थे। रामायण तथा महाभारत की कथा की कैसी अच्छी जानकारी है शकारको!

सामाजिक दशा

मृच्छकटिक में तत्कालीन हिन्दू समाज का सच्चा चित्र हमें मिलता है। राजा का प्रभुत्व अधिक था, परन्तु वह अपने मंत्रियों की सहायता से राज्य-संचालन किया करता था। पुलिस का इन्तजाम भी उस समय में अच्छा था। उस समय मनुस्मृति के अनुसार मुकद्दमों का फैसला हुआ करता था—मनुकी प्रामाणिकता सर्वत्र मानी जाती थी। अधिकरणिक (जज्ज) की सहायता करने के लिये 'असेसर' हुआ करते थे जिसमें ब्राह्मण तथा साहूकारों को भी जगह मिलती थी। वैश्यों का उस समय अच्छा संगठन था। वे दूर देशों से व्यापार किया करते थे—विदेशों में उनके जहाज भी आया जाया करते थे। ब्राह्मणों का काम

केवल अध्ययन अध्यापन ही न था, बल्कि उनमें भी बड़े बड़े धनाढ्य—सम्भवतः व्यापार से धन प्राप्त करनेवाले-व्यक्ति थे। आर्यचारुदत्त के पितामह बड़े भारी सेठ थे। ब्राह्मण यज्ञ किया करते थे—उनके घर मंत्रपाठ से सदा गूंजा करते थे। ब्राह्मण-धर्म पर खूब विश्वास था। उस समय की धार्मिक-चर्या आजकल से भिन्न न थी। सन्ध्यावन्दन, बलि देना, देवताओं के मन्दिर में सायंकाल को दीपदान आदि-आजकल की तरह उस समय भी प्रचलित थे। इन्द्रध्वज तथा कामदेवोत्सव आदि उत्सवों का सर्वत्र प्रचार था। ब्राह्मणधर्म के अतिरिक्त बौद्धधर्म भी समुन्नत दशा में था। चैत्य और विहार भिक्षुओं के लिये बने थे, जिनमें रोगियों की शुश्रूषा भी हुआ करती थी। उस समय लोग धनाढ्य थे—वसन्तसेना के महल में राजसी ठाट बाट था। इतना होने पर भी दाम देकर खरीदे गये दासों की प्रथा उस समय थी, परन्तु क्रीतदासों की दशा बहुत अच्छी थी—उनके साथ मालिक का व्यवहार बहुत अच्छा होता था।

भाषा विचार

मृच्छकटिक की विशेषता उसकी प्राकृत भाषा है। जितनी प्राकृत-भाषायें इसके पात्रों के भाषणों में उपलब्ध होती हैं, उतनी अन्य किसी नाटक में नहीं। मृच्छकटिक को विवृत्ति लिखनेवाले 'पृथ्वीधर' के अनुसार यह भाषा-निर्देश किया जाता है। सूत्रधार, नटी, रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना, उसकी माता, चेटी, कर्णपूरक, धूता, शोधनक श्रेष्ठी—ये ग्यारह पात्र शौरसेनी बोलते हैं। वीरक और चन्दनक अवंतिभाषा बोलते हैं। विदूषक की भाषा प्राच्या है। संवाहक, शकार, वसन्तसेना तथा चारुदत्त के तीनों चेट (नौकर), भिक्षु और रोहसेन—ये छ पात्र मागधी बोलते हैं। शकार शकारी, दोनों

चाण्डाल चाण्डाली, माथुर और द्यूतकर ढक्क भाषा का प्रयोग करते हैं[१] ।

कविता

शूद्रक की शैली बड़ी सरल है। बड़े-बड़े छन्दों का बहुत कम प्रयोग किया गया है। नये नये भाव स्थान स्थान पर मिलते हैं। इस प्रकरण का मुख्य रस शृंगार है। रस की विभिन्न सामग्री से परिपुष्ट कर शृंगार का सुन्दर रूप कवि ने दिखलाया है। शूद्रक ने वर्षा का बड़ा विशद वर्णन किया है। इसमें चमत्कार-जनक अनेक सूक्तियाँ हैं।

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशङ्खाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम् ।
नानावाशककङ्कपक्षिरुचिरं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते ॥

(९।१४)

इस श्लोक में राजकरण—कचहरी का खूब सच्चा वर्णन किया गया है। शूद्रक का कहना है कि कचहरी समुद्र की तरह जान पड़ती है। चिन्तामग्न मन्त्री लोग जल हैं, दूत गण लहर तथा शंख की तरह जान पड़ते हैं—इधर उधर दूर देशों में घूमने के कारण दोनों की यहाँ समता दी गई है। चारों ओर रहने वाले चार—आजकल के खुफिया पुलिस-घड़ियाल हैं। यह समुद्र हाथियों तथा घोड़ों के रूप में हिंस्र पशुओं से युक्त है। तरह तरह के ठग तथा पिशुन लोग बगुले हैं। कायस्थ-मुंशी लोग जहरीले सर्प हैं। नीति से इसका तट टूटा हुआ है। यह

---

[१] इन भाषाओं का लक्षण संक्षेप में पृथ्वीधर ने अपनी विवृत्ति के आरम्भ में दिया है। कुछ विस्तार के साथ इनके लक्षण मार्कण्डेय कवीन्द्र के प्राकृतसर्वस्व में मिलेंगे।

प्राचीन काल के राजकरण का वर्णन है; आजकल की कचहरी तो कई अंशों में इससे भी बढ़कर है। कचहरी में पहले पहल पैर रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को शूद्रक के वर्णन की सत्यता का अनुभव पद-पद पर होगा।

शर्विलक के चरित्र का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। ये ब्राह्मण देवता आर्य चारुदत्त के घर में रात को सेंध मारने जाते हैं। पहुँचने पर उन्हें मालूम पड़ता है कि वह अपना मानसूत्र भूल आये हैं। झटपट गले में पड़े रहनेवाले डोरे की—जनेऊ की—सुधि उन्हें हो आती है। बस आप इसी से अपना कार्य सम्पादन करते हैं। इस प्रसंग में यज्ञोपवीत की उपयोगिता सुन लीजिये—

यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यं विशेषतोऽस्मद्विधस्य। कुतः

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गा-
नेतेन मोचयति भूषणसंप्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च।

(३।१७)

ब्राह्मणों के लिये जनेऊ बड़े काम की चीज है, विशेष करके हमारे जैसे (चोर) ब्राह्मण के लिये। क्योंकि जनेऊ से भीत पर सेंध मारने की जगह को नापते हैं। आभूषणों के बन्धन जनेऊ के द्वारा छुड़ाये जाते हैं। यन्त्र से दृढ़ रूप से लगाये गये किवाड़ों को इसकी सहायता से खोलते हैं और यदि साँप या कीट काट खाय, तो उसे जनेऊ से बाँध भी सकते हैं (जिससे विष न चढ़े)। ठीक ही है! चोर ब्राह्मण के लिये जनेऊ का और उपयोग ही क्या है?

४

हर्षवर्धन

लक्ष्मी की सेवा के सास-साथ सरस्वती की सेवा करने का सौभाग्य किसी-किसी भाग्यशाली को ही प्राप्त होता है। हर्षवर्धन इसी कोटि के व्यक्ति थे। ये थानेश्वर के महाराज प्रभाकरवर्धन के द्वितीय पुत्र थे तथा अपने ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन के अनन्तर सिंहासनारूढ़ हुये थे। बाणभट्ट, मयूरभट्ट तथा दिवाकर इन्हीं की सभा को सुशोभित करते थे। बाणभट्ट ने इन्हीं का चरित 'हर्षचरित' में लिखा है। चीनी यात्री ह्वेन-सांग इन्हीं के समय भारत आया था। उसने इनकी विद्वत्ता, दान-शीलता तथा विदग्धता की प्रचुर प्रशंसा की है। इन्होंने ६०६ से लेकर ६४८ तक राज्य किया था। इनकी जीवन घटनाएँ इतनी प्रसिद्ध हैं कि यहाँ उनके लिखने की आवश्यकता नहीं है।

ग्रन्थ-रचना

इनके लिखे हुये तीन रूपक ग्रन्थ उपलब्ध हैं—रत्नावली, प्रिय-दर्शिका तथा नागानन्द। पहली दोनों नाटिकाएँ हैं और वे संस्कृत-साहित्य की इस कोटि की प्रथम कृतियाँ हैं। इन दोनों का सम्बन्ध वत्सराज उदयन की प्रेम-कथाओं से है। प्राचीन काल में उदयन तथा वासवदत्ता की प्रेम-कथा विदग्धों के मनोरञ्जन की सामग्री रही। इसी लोकप्रिय प्रेम कथा को लेकर श्रीहर्ष ने नाटक का रूप प्रदान किया है। नागानन्द में जीमूतवाहन के द्वारा गरुड़ से नागों के बचाने के लिये आत्मसमर्पण का उल्लेख है। इस ग्रन्थ की नान्दी में भगवान् बुद्ध की स्तुति की गई है। इस नाटक में बौद्धकथानक का प्रदर्शन है। इससे लेखक की बौद्धधर्म के प्रति पूरी भक्ति दीख पड़ती है। आदर्श की महनीयता के कारण नागानन्द पण्डितसमाज में विशेष रूप से समादृत है।

हर्ष की राजकीय कविता प्रसाद से परिपूर्ण है। राजा होने से संगीत का ज्ञान इन्हें होना स्वाभाविक है। रत्नावली के आरम्भ में होलिकोत्सव का चटकीला वर्णन इनके राज्यवैभव का सूचक है। इनके पात्र भी जीवित पात्र हैं। रत्नावली का वत्सराज धीरललित है, तो नागानन्द का नायक जीमूतवाहन धीरोदात्त का सुन्दर प्रतीक है। यदि पहले में विषयवासना की अभिरुचि और कला का प्रेम दर्शकों को अपनी ओर खींचता है, तो दूसरे का आत्मसमर्पण—परोपकार की वेदी पर अपने प्रिय स्वार्थ का बलिदान—स्वार्थियों के हृदय में भी निःस्वार्थ सेवा की भावना जाग्रत करता है।

किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तवाप्यस्त्येव बिम्बाधरे। रत्ना० ३।१३

राजा उदयन सागरिका से कह रहा है कि तुम्हारे चन्द्रवदन के रहने पर यह दूसरा चन्द्रमा क्यों उदय ले रहा है? उदय से यह अपनी जड़ता क्या नहीं प्रदर्शित करता? इसके उदय होने की जरूरत ही क्या थी? तुम्हारा मुख क्या कमल की शोभा को नहीं नष्ट कर देता? क्या वह नेत्रों को आनन्द नहीं देता? देखे जाने से ही क्या वह कामवासना को प्रबल नहीं बनाता? चन्द्रमा के जो कार्य विदित हैं वे तो तेरे मुख में भी विद्यमान हैं। यदि अमृत धारण करने के कारण चन्द्रमा को गर्व है, तो क्या तेरे बिम्बाधर में सुधा नहीं है? तुम्हारे चन्द्रवदन के सामने फिर चन्द्रमा के उदय लेने की क्या ज़रूरत! यह पद्य काव्यप्रकाश में उद्धृत किया गया है (१० उ०)। चन्द्रोदय के समय पूर्व दिशा का यह वर्णन कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है:—

उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ्निशानाथम्।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी॥ —रत्नावली १ २४

५

भट्ट नारायण

भट्टनारायण का 'वेणीसंहार' पण्डितसमाज में विशेष प्रसिद्ध है। इस नाटक के द्वारा महाभारत-युद्ध की महत्त्वपूर्ण घटना हमारे नेत्रों के सामने सजीव होकर झूलने लगती है। भट्टनारायण के जीवनचरित के विषय में हम नहीं जानते। कहा जाता है कि वे उन पाँच कनौजिया ब्राह्मणों में अन्यतम थे जिन्हें बङ्गाल के राजा 'आदिशूर' ने वैदिकधर्म के प्रचार तथा उद्धार के लिये कन्नौज से अपने देश में बुलाया था। इनके वंशज कुलीन ब्राह्मण आज भी बङ्गाल में विद्यमान हैं। इनके जीवनचरित के विषय में इससे अधिक पता नहीं चलता।

समय

वामन ने अपने काव्यालङ्कार में वेणीसंहार के एक पद की युक्तिमत्ता प्रदर्शित की है। 'पतितं वेत्स्यसि क्षितौ (वेणीसंहार नाटक) में वामन ने 'वेत्स्यसि' को दो पदों में विभक्त करके सिद्ध करने का यत्न किया है। इससे स्पष्ट है कि ८०० ई० के पूर्व ही इस नाटक की रचना हो चुकी थी। आदिशूर के समसामयिक होने से भी यही निष्कर्ष निकलता है। आदिशूर ७१५ ईस्वी में गौडदेश के राजा बने; ऐतिहासिकों का ऐसा कहना है। ये उस वंश के आदिपुरुष हैं जिसने पालवंश के पहले गौडदेश में राज्य किया था। डाक्टर स्टेन कोनो का कहना है कि आदिशूर मगधदेश के गुप्तवंशी नरेश आदित्यसेन से अभिन्न हैं, परन्तु यह कल्पनामात्र है। अतः भट्टनारायण को अष्टम शतक के प्रथमार्ध में मानना ठीक है।

समीक्षण

इनकी एक ही कृति है। इसमें छः अङ्क हैं। महाभारत के युद्ध का प्रदर्शन इसका प्रधान विषय है और विषय के अनुरूप ही कवि ने गौडी रीति तथा ओज गुण का आश्रय लिया है। युद्ध का रङ्ग-मंच पर प्रदर्शन सिद्धान्त-विरुद्ध है इसलिये कवि ने वार्तालाप के द्वारा इसकी सूचना दी है। नाटक में जहाँ वर्णनात्मक अंश हैं वहाँ कार्य की गति अवश्य शिथिल होती है। हरएक प्रकार से ये अंश नाटक के सौन्दर्य को कुछ न्यून कर रहे हैं। पात्रों में सजीवता खूब है। धर्मराज की चिन्ता अपनी प्रजा के कल्याण के लिए जितनी अधिक है उतनी अपने शरीर के लिये नहीं। दुर्योधन का अभिमान सजीव होकर दर्शकों के सामने आता है। भीम शौर्य के प्रतिनिधि हैं परन्तु उनमें उतावलापन इतना अधिक है कि कभी कभी जोश में आकर अपने न्यायी भ्राता युधिष्ठिर के शासन के उल्लंघन करने को उद्यत हो जाते हैं। अर्जुन में वीरता कूट-कूट कर भरी है। द्रौपदी भारतीय नारी की प्रतिष्ठा तथा आत्मगौरव की सजीव मूर्ति है। इस प्रकार चरित्रचित्रण नितान्त श्लाघनीय हुआ है। केवल द्वितीय अङ्क में युद्ध के अवसर पर दुर्योधन का भानुमती के साथ प्रेम-प्रदर्शन रसदृष्टि से अनुचित हुआ है। मम्मट ने इसे 'अकाण्डे प्रथनम्' (अनुचित स्थान में रस का विस्तार) के अन्तर्गत रक्खा है। नाटकीय सिद्धान्तों के प्रदर्शन के लिये तो यह नाटक तो एक अद्भुत भाण्डागार सा है। धनिक ने दशरूपकावलोक में पञ्चसन्धियों के चौंसठ प्रभेदों के लक्षण दिखलाते समय इस नाटक से समग्र उदाहरण लिये हैं। यह घटना इस नाटक की लोकप्रियता तथा शास्त्रीयता का प्रमाण है।

इनकी कविता ओजगुणविशिष्ट है और वीरप्रधान नाटक की प्रकृति के अनुकूल है। यहाँ इसका एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा—

शाखारोधस्थगितवसुधामण्डले मण्डिताशे
पीनस्कंधे सुसदृशमहामूलपर्यन्तबन्धे ।
दग्धे दैवात् सुमहति तरौ तस्य सूक्ष्माङ्कुरेऽस्मिन्
आशाबन्धं कमपि कुरुते छाययार्थी जनोऽयम् ॥

—वेणीसंहार ६।२९

६

भवभूति

जडानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद् गिरा ।
ग्रावाप्यरोदीत् पार्वत्या हसतः स्म स्तनावपि ॥

—हरिहर

महाकवि कालिदास की स्पर्धा करने की योग्यता यदि किसी कवि में है तो वह भवभूति में ही है। तिलक-मञ्जरी के रचयिता धनपाल ने भवभूति की सरस्वती को नटी के साथ जो तुलना की है वह यथार्थ है। भवभूति के नाटकों में सचमुच भारती अपना ललित लास्य दिखला कर सहृदयों का मनोरञ्जन करती है।

भवभूति विदर्भ देश (आधुनिक बरार) के पद्मपुर के निवासी थे। ये काश्यपगोत्री तथा कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के मानने वाले महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। इनके पितामह का नाम था भट्ट गोपाल, पिता का नीलकण्ठ, माता का जतुकर्णी तथा इनका व्यक्तिगत नाम था श्रीकण्ठ। उदुम्बर इनकी उपाधि थी। आजकल की शैली का अनुगमन करते हुए इनका पूरा नाम 'श्रीकण्ठ नीलकण्ठ उदुम्बर' होगा। भवभूति तो इनको कवियों द्वारा दिया गया विशिष्ट नाम है। इनके पूर्वज सदाचार तथा वेदाध्ययन के लिये प्रसिद्ध थे। वे पंक्तिपावन तथा पाँच अग्नियों

की स्थापना करने वाले सोमयाजी श्रोत्रिय ब्राह्मण थे। इन्होंने अपने गुरु का नाम 'ज्ञाननिधि' बतलाया है। परन्तु दार्शनिक ग्रन्थों में उल्लिखित परम्परा के अनुसार ये मीमांसा के प्रसिद्ध आचार्य कुमारिल के शिष्य थे और दार्शनिक जगत् में इनका नाम 'भट्ट उम्बेक' था।

उम्बेक

दर्शन-ग्रन्थों में उम्बेक नामक आचार्य के मत तथा वाक्यों का निर्देश बहुशः मिलता है। चित्सुखाचार्य की 'तत्त्वप्रदीपिका' की टीका में 'प्रत्यक्स्वरूप भगवान्' नामक टीकाकार ने उम्बेक की उस टीका का उल्लेख किया है जिसे उम्बेक ने कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' की एक कारिका पर की है। 'चित्सुखी' में उम्बेक का नाम भी आता है, जिसकी व्याख्या लिखते समय टीकाकार ने उम्बेक और भवभूति को एक ही अभिन्न व्यक्ति बतलाया है। इसके अतिरिक्त 'खण्डनखण्डखाद्य' की विद्याधरी नामक टीका के रचयिता आनन्दपूर्ण ने श्लोकवार्तिक पर लिखी उम्बेक की टीका का उल्लेख किया है। षड्दर्शनसमुच्चय के टीकाकार गुणरत्न (१४०९ ई०) ने एक कारिका उद्धृत की है[1] जिसमें उम्बेक को कारिका का ज्ञाता बतलाया है। यह कारिकाग्रन्थ कुमारिल विरचित 'श्लोकवार्तिक' ही है। सौभाग्य से उम्बेक विरचित यह 'श्लोकवार्तिक' की टीका भी हाल ही में प्रकाशित हुई है। इनका दूसरा मीमांसा ग्रन्थ मण्डनमिश्र विरचित 'भावनाविवेक' की टीका है। ये उम्बेक और भवभूति एक ही व्यक्ति थे। 'मालती-माधव' के एक बहुत प्राचीन हस्तलेख में भवभूति कुमारिल के शिष्य बतलाये गये हैं। प्राचीन परम्परा तथा नाटकों की अन्तरङ्ग परीक्षा करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते

---

[1] उम्बेकः कारिकां वेत्ति तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः।
वामनस्तूभयं वेत्ति न किञ्चिदपि रेवणः॥

हैं कि कुमारिल के शिष्य भट्ट उम्बेक ही हमारे नाटककार भवभूति हैं। कुछ लोग याज्ञवल्क्यस्मृति पर 'बालक्रीड़ा' नामक टीका लिखने वाले विश्वरूप आचार्य को भी भवभूति से अभिन्न मानते हैं। इस विषय की अधिक छानबीन अपेक्षित है।

समय

राजतरंगिणी से (४।१३४) पता चलता है कि भवभूति कान्यकुब्ज के विद्वान् राजा यशोवर्मा के सभापण्डितों में से थे :—

"कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः ।
जितो यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥"

ये यशोवर्मा कान्यकुब्ज के राजा थे जिन्हें काश्मीर के राजा मुक्तापीड़ ललितादित्य ने परास्त कर अपने वश में किया था। यह घटना ७३६ ई० के आसपास बताई जाती है। यशोवर्मा की सभा के दूसरे कवि वाःक्पति ने भवभूति की कविता को समुद्र कहा है जिसके कति-पय रसमय कण इस कवि की कविता में आज भी स्फुरित हो रहे हैं (गउड वहो, गाथा ७६९) इन वाक्यपतिराज ने 'गउडवहो' नामक महाकाव्य में यशोवर्मा के द्वारा परास्त किये गये किसी गौडदेशीय राजा का वर्णन किया है। ललितादित्य का समय ७२४ ई० से ७६० ई० तक माना जाता है। यशोवर्मा इन्हीं के समकालीन थे।' गौडवध' के ८२९ वें श्लोक में सूर्यग्रहण का उल्लेख है। डाक्टर याकोबी के अनुसार यह सूर्यग्रहण १४ अगस्त ७३३ ई० को पड़ा था। 'गौडवध' की रचना इसी समय में हुई। उस समय तक भवभूति अपने नाटकों के द्वारा पर्याप्त रूप से प्रसिद्ध हो चुके थे। अतः भवभूति का समय ७०० ई० के लगभग मानना नितान्त उचित है। बाण ने इनका नाम निर्दिष्ट नहीं किया है। अतः ये बाणभट्ट

के पीछे हुए। वामन ही पहले आलङ्कारिक हैं जिन्होंने भवभूति के श्लोकों को उद्धृत किया है। अतः इनका समय बाणभट्ट (६२५) तथा वामनभट्ट (८००) के बीच ७०० ई० के आसपास होना चाहिए।

पाण्डित्य

भवभूति में विदग्धता और पाण्डित्य का अपूर्व मिलन है। उन्होंने वेद, उपनिषद्, सांख्य और योग के गाढ अध्ययन की ओर स्वयं संकेत किया है (मालती माधव १।७)। वेद तथा दर्शनों का ज्ञान उनका अगाध था। उनके नाटकों में उनके वैदिक ज्ञान की सूचना अनेक स्थानों पर पायी जाती है। महावीर-चरित में पुरोहित की प्रशंसा में 'राष्ट्रगोपाः पुरोहितः' वाला ऐतरेय ब्राह्मण का प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया गया है। उपनिषद्-तत्त्व के तो वे परम ज्ञाता थे। उत्तर रामचरित में उन्होंने जनक के मुख से 'असूर्या नाम ते लोकाः' (ईशावास्योपनिषद्) की व्याख्या करायी है तथा 'विद्याकल्पेन मरुताम्' (उत्तर० ६।६) श्लोक के द्वारा औपनिषद अद्वैतवाद का तात्त्विक वर्णन किया है। मालती-माधव में योग तथा तन्त्र का विशिष्ट ज्ञान दिखलाया गया है। भवभूति की भाषा में दर्शन के पारिभाषिक शब्द इस सरलता से अनायास आते हैं कि जान पड़ता है कि नाटककार इन दर्शनों के चिन्तन में सदा संलग्न रहा है। सचमुच भवभूति संस्कृत भारती के बेजोड़ कवि हैं जिनमें पाण्डित्य और वैदग्ध्य का अनुपम मिलन सहृदयों के हृदय में चमत्कार तथा आनन्द का स्रोत बहाता है।

ग्रन्थ

भवभूति की तीन रचनाएँ मिलती हैं और तीनों ही रूपक हैं। इन नाटकों की रचना का क्रम निम्नलिखित प्रकार से प्रतीत होता है—

१—महावीरचरित—इसमें रामचरित का पूरा वर्णन नाटकीय रूप

में किया गया है। इसमें छः अङ्क हैं। इस नाटक में कथानक का ऐक्य प्रदर्शन करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया गया है। राम के विरुद्ध जितने कार्य किये गये हैं वे सब रावण की प्रेरणा से ही। राम का चरित नितान्त उदात्त तथा वीरभावापन्न है। इस नाटक में वीररस की प्रधानता है। राम को आदर्श पुरुष के रूप में दिखलाने के उद्देश्य से भवभूति ने राम के कितने ही दोषों को भिन्न रूप से प्रदर्शित किया है। बाली रावण का सहायक बनकर राम से लड़ने आया था, इसीलिये राम ने उसका वध किया।

२—मालती-माधव—यह दश अङ्कों का एक विशाल प्रकरण है। वस्तु कविकल्पनाप्रसूत है। मालती तथा माधव का प्रेम-प्रसङ्ग बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है। इसमें यौवन के उन्मादक प्रेम का बड़ा ही रसीला चित्रण है। पूरे प्रकरण में प्रेम की बड़ी ही ऊँची उदात्त कल्पना दर्शकों के सामने रखी गयी है। धर्म से विरोध करने वाले प्रेम को भवभूति के समाज के लिये हानिकारक समझ कर उसकी एकदम उपेक्षा कर दी है।

(३) उत्तररामचरित—में रामायण का उत्तरार्द्ध प्रदर्शित है। इस सप्तांक रूपक में राम के वन-प्रत्यागमन पर राजगद्दी पाने से लेकर सीता-मिलन तक की संपूर्ण कथायें कुछ कल्पना-प्रसूत घटनाओं के साथ दिखाई गई हैं। भवभूति की कवि-प्रतिभा का यह सर्वोच्च निदर्शन है। इसके तीसरे (छायांक) अंक में कवि ने चमत्कार दिखलाया है। एक ओर राम अपने वनवास के प्रियमित्र पंचवटी के परिचित स्थानों को देखकर सीता के लिये विलाप करते करते मूर्छित हो जाते हैं, दूसरी ओर छाया-सीता राम के इस प्रेममय स्मरण से अपने वनवास के कठिन दुःखों को भी लात मारकर अपने जीवन को धन्य समझती है। राम इस छाया-सीता के स्पर्श का अनुभव तो अवश्य करते हैं परन्तु आँखों से देख नहीं पाते। यहाँ कवि ने खूब ही 'काव्य-न्याय' दिखलाया है।

सीता को बनवास देने वाले राम के रुदन को दिखाकर कवि ने सीता के अपमानित तथा दुःख-भरे हृदय को बहुत शान्त किया है। करुणरस का प्रवाह जैसा इस अंक में दिखलाया गया है वैसा कदाचित् ही कहीं अन्यत्र दृष्टिगोचर हो। भवभूति ने बे-जान पत्थरों को भी रामचन्द्र के विलापों से खूब ही रुलाया है। ऐसा चमत्कार किसी अन्य कवि ने नहीं पैदा किया है। करुणरस की पराकाष्ठा को लक्ष्य कर कोई आलोचक ठीक ही कहता है:—

जडानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद् गिरा ।
ग्रावाप्यरोदीत्पार्वत्याः हसतःस्म स्तनावपि ।

उत्तर रामचरित का आधार तो वाल्मीकीय रामायण का उत्तरकाण्ड है, परन्तु भवभूति ने अपने नाटक को शोभन तथा अलंकृत बनाने के लिए अनेक मौलिक परिवर्तन किये हैं। वाल्मीकि में रामकथा दुःखपर्यवसायी कथा है; क्योंकि उसका अन्त राम के द्वारा परित्यक्ता जानकी के पाताल-गमन से ही होता है। परन्तु भवभूति ने नाट्य-परम्परा का अनुसरण कर उत्तर रामचरित को सुखान्त रूपक बनाया है। इसके अतिरिक्त अनेक घटनायें भवभूति की मौलिक कल्पना से प्रसूत चमत्कारिणी सृष्टि हैं। चित्रदर्शन दृश्य (उत्तर १ अंक), राम का पुनः दण्डकारण्य में आना तथा वनदेवता वासन्ती से भेंट (२ अंक), दण्डकारण्य में छाया सीता की सत्ता (३ अंक) तथा गर्भाङ्क (७ अंक) —ये सभी कवि की मौलिक कल्पना से उत्पन्न चमत्कारी दृश्य हैं;

समीक्षण

भवभूति की कविता बड़ी चमत्कारिणी है। संस्कृत भाषा के ऊपर आपका पूरा प्रभुत्व है। वाग्देवी ब्रह्मा की तरह आपकी वश्या थी। इनकी कविता में भाषा तथा भाव में अनुपम सामञ्जस्य है; जैसा

भाव वैसी भाषा। जो भवभूति भयंकर युद्ध के वर्णन के समय लम्बे समास वाले ओजोगुणविशिष्ट दृश्य के कठोर अभिव्यञ्जक पद्य लिख सकते हैं (उत्तररामचरित ५।९) वही भवभूति ललितभाव के वर्णन करते समय ऐसा सुन्दर अनुष्टप् लिख सकते हैं जिसमें एक भी समास नहीं है (उत्तर २।८)।

इस सामञ्जस्य का अनुरूप उदाहरण कभी कभी एक ही पद्य में मिलता है जिसके एक भाग में युद्ध वर्णन के लिए टवर्ग के अनुप्रास से गाढबन्धता रखी गई है और जिसके दूसरे भाग में कोमलवस्तु के वर्णन के हेतु सुकुमार पदावली प्रयुक्त की गई है। यह भवभूति के भाषाधिपत्य को प्रकट कर रहा है। नीचे के पद्य में ऐसा सुन्दर शब्दविन्यास है कि पढ़ते समय ही तुंगतरंगवाली, गद्गद नाद के साथ बहनेवाली, नदियों का प्रत्यक्ष चित्र सामने खड़ा हो जाता है—शब्दों में नदियों के परस्पर मिलन से उत्पन्न घोर रोर का कोलाहल स्पष्ट मालूम पड़ता है—

एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयो
मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दक्षिणाः।
अन्योन्यप्रतिघातसंकुलचलत्कल्लोलकोलाहलै—
रुत्तालास्त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्संगमाः॥

(उत्तर २।३०)

इस प्रकार ध्वनि के द्वारा अर्थ की द्योतना कवि की विशिष्टता है। भवभूति ने अनेक छोटे बड़े छन्दों का प्रयोग अपने नाटकों में किया है, परन्तु आपकी शिखरिणी सबसे अच्छी है। क्षेमेन्द्र ने सुवृत्त-तिलक में भवभूति के शिखरिणी-वृत्त की प्रशंसा की है—

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी।
चकिता घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति॥

भवभूति का हृदयपक्ष

मानवीय भावों की गहराई में प्रवेश करने तथा उन्हें उसी प्रकार मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करने में भवभूति नितान्त दक्ष हैं। किसी भाव या मनोवेग का वर्णन करते समय उनका लक्ष्य है उस गूढ़ से गूढ़ सूक्ष्म दशा की तत्तुल्य शब्दों के द्वारा साक्षात् अभिव्यक्ति। वे उपमा तथा उत्प्रेक्षा का व्यूह रचकर उस भावसौन्दर्य को अनावश्यक आडम्बर की लपेट में कभी नहीं रखना चाहते। हृदय के सीधे भावों का वर्णन सीधे शब्दों में ही अधिक जँचता है। चित्र-दर्शन से उत्पन्न राम के मनोभाव का यह वर्णन कितनी सुन्दरता के साथ कवि ने किया है—

अयं ते वाष्पौघस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो
विसर्पन् धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः।
निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुटद्धर-नासापुटतया
परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मात हृदयः॥

—उत्तर १।२९

'भावशबलता' के अवलोकन तथा वर्णन की अद्भुत क्षमता भवभूति को मिली थी। किसी विशिष्ट अवसर पर मानव के हृदय में जो भावपुंज अभिव्यक्त होते रहते हैं उनका एकत्र वर्णन कर भवभूति ने अव्यक्त हृदय का एक व्यक्त चित्र प्रस्तुत कर दिया है। भगवती सीता तमसा के साथ पंचवटी में जा रही हैं; अचानक रामचन्द्र के मसृण वचन सीता के कर्ण-कुहर में प्रवेश करते हैं। सुदीर्घ द्वादश वर्ष के वियोग के अनन्तर प्राणप्यारे के इन वचनों को सुनकर सीता की विचित्र दशा का वर्णन तमसा के मुख से कवि ने करवाया है—

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवंशात्
वियोगे दीर्घंऽस्मिन् झटिति घटनोत्तम्भितमिव।

प्रसन्नं सौजन्यादपि च करुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव ॥

भावार्थ—हे सखि! तुम्हारा हृदय निराशा से—राम से संयोग होने की निराशा से—अभी उदासीन था तथा राम के इस दुर्व्यवहार से कलुषित था। परन्तु अब इस दीर्घ वियोग में अचानक भेंट हो जाने से बिल्कुल स्तब्ध हो गया है; राम की सुजनता से प्रसन्न है और विलापों के कारण इसमें शोक की तीव्र धारा चल रही है; राम के प्रेम प्रकट करने से यह हृदय आनन्द से पिघला जा रहा है। हृदय के भावों का सूक्ष्म विश्लेषण कितना तात्त्विक है।

प्रकृतिवर्णन

भवभूति चेतन मानवीय प्रकृति के ही सच्चे चित्रकार नहीं हैं बल्कि जड़ प्रकृति के भी। उन्होंने प्रकृति का निरीक्षण बड़ी सावधानी से किया था। कालिदास ने प्रकृति के केवल सुकुमार पक्ष, कोमल पहलू का ही वर्णन किया है परन्तु भवभूति की दृष्टि उसके उग्र, भयङ्कर तथा विषम पक्ष ही पर गई थी। दण्डकारण्य का जैसा सच्चा वर्णन उत्तर रामचरित में पाया जाता है, जंगल का वैसा वर्णन अन्यत्र और उपलब्ध नहीं होता। संस्कृत कवियों का प्राकृतिक वर्णन सदैव अलंकृत रहता है जिससे लोगों को संदेह होने लगता है कि क्या यह दृश्य कवि की कल्पना से प्रसूत हुआ है या उसके प्रकृति-पर्यवेक्षण से। परन्तु भवभूति का यह वर्णन अंग्रेजी के महाकवियों के समान विस्तृत तथा वास्तविक है। मालतीमाधव के श्मशान-वर्णन की भी यही विचित्रता है! दण्डकारण्य की भीषणता पर ज़रा दृष्टिपात कीजियेः—

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित् क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः ।

सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ।

भावार्थ—जंगल का कोई भाग बिल्कुल शान्त है और कहीं हिंसक जानवरों की प्रचण्डध्वनि सुन पड़ती है। कहीं पर स्वेच्छया सोये हुये विस्तृत फन वाले भुजंगों के श्वास से आग पैदा हो रही है। जल का नाम नहीं है; कहीं कहीं छोटी गड़हियों में थोड़ा सा पानी झिलमिला रहा है; बिचारे प्यासे गिरगिटों को पानी नहीं मिलता। क्या करें, अजगर के पसीने को पीकर अपनी प्यास बुझाते हैं। कितना भयानक दृश्य है !

पहाड़ों पर सोते बहे चले जा रहे हैं। उनका क्या ही रोचक वर्णन है !—

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरविरुत्—
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति ।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज—
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ॥

भावार्थ—यह देखो, झरने बह रहे हैं। इनके किनारे वानीरलता उगी हुई है। उनके ऊपर मधुरकंठ वाले पक्षिगण विहार करते हैं। उनके बैठने से लता के फूल झरनों में गिर जाते हैं जिससे उनकी पानी सुगन्धित हो जाता है। पहाड़ों से बहने के कारण नदियों का जल स्वभाव से ही शीतल तथा स्वच्छ है। उनकी धारायें पके हुये फलों से लदे, काले जम्बू वृक्षों की कुञ्ज से टकराने पर अत्यन्त शब्द करती हुई अनेक मार्गों से बह रही हैं।

रससिद्ध कवि

भवभूति अनेक रसों के सिद्ध कवि हैं। अपने नाटकों में उन्होंने वीररस का सजीव वर्णन किया है। वीरों का गर्वीला गजन, भड़ों की

झंकार, स्यन्दनों की खटखटाहट और बाणों की सनसनाहट—ये सब हमारे सामने सच्ची युद्धभूमि का चित्र हठात् उपस्थित कर देते हैं। मालतीमाधव में शृंगार रस का खासा वर्णन किया गया है। श्मशान-दृश्य में बीभत्स तथा भयानक की मात्रा यथेष्ट है। परन्तु भवभूति सबसे अधिक करुणरस के उन्मेष में सिद्धहस्त हैं। कालिदास ने भी रतिविलाप तथा अजविलाप के द्वारा करुण का करुणोत्पादक कौतूहल खूब ही दिखलाया है परन्तु भवभूति के वर्णन में कुछ अलौकिकता है, विचित्र चमत्कार है, जो अन्यत्र दीखने को नहीं मिलता। भवभूति करुणरस के प्रधान आचार्य हैं। आलंकारिकों में आदि-रस के विषय में बड़ा मतभेद है। महाराज भोजदेव शृंगार को ही रसों का सिरताज समझते हैं, तो शैवागम के अनुयायी काश्मीरी कविगण शान्त रस को ही मुख्य रस मानते हैं; परन्तु हमारे भवभूति ने करुणरस को ही सबमें प्रधानता दी है। इन्होंने अपनी सम्मति स्पष्ट शब्दों में दी है:—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्त-बुद्बुद-तरंगमयान् विकारा-
नम्भो यथा, सलिलमेव तु तत्समग्रम्।

भावार्थ—करुण ही प्रधान रस है। रससामग्री (स्थायीभाव आलम्बन, उद्दीपन आदि) की विभिन्नता से वह भिन्न होता हुआ भिन्न भिन्न परिणामों को धारण करता है परन्तु है एक ही। एक ही जल कभी भँवर के रूप को, कभी बुदबुदों तथा तरङ्गों के रूप को धारण करता है परन्तु वास्तव में वह सब जल ही है। जब करुणरस के विषय में भवभूति की ऐसी उच्च धारणा थी, तब उनके करुण वर्णनों की क्या कथा? इसी करुण-वर्णन-वैचित्र्य को लक्ष्य कर गोवर्धनाचार्य ने ठीक ही कहा है:—

भवभूतेः सम्बन्धात् भूधरभूरेव भारती भाति
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ।

राम सीता के लिये विलाप कर रहे हैं:—

हा हा देवि ! स्फुटति हृदयं, स्रंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि ।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ् मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ॥

भावार्थ—हा देवि ! तुम्हारे बिना मेरा हृदय फटा जाता है; शरीर शिथिल पड़ रहा है, संसार को सूना समझता हूँ, मेरे हृदय में सदा ज्वाला बल रही है, मेरी दु:खित आत्मा गाढ़ अंधकार में धँसी जाती है, चारो तरफ से अज्ञान मुझे घेर रहा है। अब मैं मन्दभाग्य क्या करू; कहां जाऊँ ?

भवभूतिका करूणरस अत्यन्त गम्भीर तथा मर्मस्पर्शी है। उन्ही की स्वीकारोक्ति के अनुसार वह उस 'पुटपाक' के समान है जो ऊपर से तो पंकलिप्त होने से नितान्त शान्त, परन्तु भीतर ही भीतर तीव्र अन्त वेदना से उत्तप्त होता रहता है।

अनिर्भिन्नो गभीरत्वात् अन्तर्गूढघनव्यथः ।
पुटपाक-प्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥

—उत्तर ३।१

करुण रस कभी अमर्यादित उद्वेग तथा प्रलाप का रूप नहीं धारण करता, परन्तु अपनी तीव्रता के कारण वह बारंबार मूर्च्छा की अवस्था में अपने पात्र को ढकेल देता है। भवभूति जानते हैं कि शोकातिरेककी दशा में एकान्त में जी भरकर रोने से चित्त हलका हो जाता है जिस प्रकार बढ़े हुए पानी के निकाल देने से तालाब में शोधन हो जाता है—

पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाह प्रतिक्रिया (उत्तर ३।२९)

इसी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भवभूति के पात्र अपने भावशोधन के लिए विलापके द्वारा अपना शोक बाहर प्रकट करते हैं। देखिये, रामकी यह करुण भक्ति कितनी हृदय स्पर्शी है :—

चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः
प्रवासेऽप्याश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः ।
जगज्जीर्णारण्यं भवति च विकल्पव्युपरमे
कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव ॥
(उत्तर ६।३८)

प्रवास में प्रियका वारं बार ध्यान करते समय प्रतीत होता है कि वह सामने ही आकर उपस्थित है; इसीसे वह वियोग में आश्वासन प्रदान करता है। परन्तु कल्पित मूर्ति के नाश होते ही यह संसार बीहड़ सूनसान जंगल के समान जान पड़ता है। और तदनन्तर भूसे की आग में हृदय पकते लगता है जो धीरे धीरे हृदय को सुलग कर भस्म कर देती है। यहाँ 'कुकूल' का संकेत कवि के गाढ अनुभव की ओर है। कुकूल की आँच बहुत तेज होती है, परन्तु वह एक साथ न जल कर धीरे धीरे बलता रहता है जिससे हृदय की असीम दुःसह वेदना की तीव्र अभिव्यञ्जना बलात् होती है।

कालिदास और भवभूति

भवभूति ने कालिदास के काव्यों का गम्भीर अनुशीलन किया था। मालतीमाधव के नवम अंक में माधव मालती के समाचार जानने के लिए मेघ को अपना दूत बनाकर भेज रहा है, उस वर्णन में मेघदूत के पद्यों की स्पष्ट छाया है। भवभूति के पद्यों में शाकुन्तला तथा मेघ के पद्यों के भाव तथा शब्द ज्यों त्यों रक्खे गये हैं। इतना होने पर भी भवभूति में अपनी कुछ विशेषता है जो इनके नाटकों को कालिदास की रचनाओं से

सर्वथा पृथक् करती है। कालिदास की कविता में व्यञ्जना की प्रधानता है। थोड़े से चुने हुए शब्दों में भाव की अभिव्यक्ति की गई है, परन्तु भवभूति ने कुछ विस्तार के साथ भावों को वाच्य बना दिया है। जहाँ कालिदास के पात्र केवल चार आँसू बहाकर अपने चित्तोद्वेग की सूचना देते हैं, वहीं भवभूति के पात्र फूट-फूट कर बहुत देर तक रोते हैं—आँसुओं की धारा बहाकर अपने मानसिक विकार को बिल्कुल प्रत्यक्ष कर देते हैं। कालिदास ने प्रकृति के केवल ललित तथा सुकुमार पक्ष पर अपनी दृष्टि डाली है, उसी अंश को अपनी कविता में दिखलाया है। भवभूति ने प्रकृति के विकट, उग्र तथा भयानक अंश को ही अपनाया है और अपने नाटकों में दर्शाया है। कालिदास के हिमालय-वर्णन तथा भवभूति के विन्ध्य-वर्णन की तारतम्यपरीक्षा करने से यह विभेद पाठकों के सामने आ सकता है। प्रेम के चित्रण में भी दोनों में भेद दीखता है। भवभूति ने जैसा उज्ज्वल विशद प्रेम का चित्र खींचा है वैसा संस्कृत-साहित्य में अत्यन्त दुर्लभ है। अन्य कवियों ने, स्वयं कालिदास ने भी सांसारिक-वासना-भरे काम का ही अधिकतर वर्णन किया है। भवभूति ने यौवनकाल की उद्दाम कामवृत्ति का वर्णन मालतीमाधव में किया है और विश्वस्त हृदय के सच्चे शुद्ध प्रेम का का चित्र उत्तररामचरित में दिया है। भवभूति के पात्र स्वच्छन्द प्रेम के पक्षपाती नहीं है, प्रत्युत धर्मानुयायी समाज के द्वारा अभिनन्दित प्रणय मार्ग के पथिक हैं। कवि सच्चे प्रेम को दैवी वरदान मानता है। सच्चे प्रेम की परिभाषा कितनी यथार्थ तथा मार्मिक है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं, सर्वास्ववस्थासु यत्
विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते।

भावार्थ—सच्चा प्रेम सुख तथा दुःख में एकसा रहता है, हर दशा में, चाहे विपत्ति हो या सम्पत्ति, वह अनुकूल रहता है, जहाँ हृदय विश्राम लेता है, वृद्धावस्था आने से जिसमें रस की कमी नहीं होती। समय वीतने पर बाहरी लज्जा संकोच आदि आवरणों के हट जाने से जो परिपक्व स्नेह का सार बच जाता है वही सच्चा प्रेम है।

भवभूति ने स्पष्ट ही लिखा है कि यह प्रेम बाहरी रूप से हृदय में अंकुरित नहीं होता, बल्कि एक हृदय को दूसरे हृदय से जोड़ने वाला कोई भीतरी कारण होता है—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः।

(उत्तर० ६।१२)

भावार्थ—प्रीति किसी बाहरी कारण से पैदा नहीं होती, बल्कि कोई भीतरी कारण पदार्थों को आपस में मिलाता है। कहाँ तालाब में सकुचा हुआ कमल और कहाँ आकाश में उदित सूर्य! परन्तु सूर्य के उदय होते ही कमल खिल जाता है और चन्द्रमा के उदय होने पर चन्द्रकान्त मणि पिघलने लगता है। अतः वास्तव में प्रेम का उद्गम भीतरी कारणों से होता है। भवभूति ने इस सिद्धान्त को दृढ़ करने के लिए सांसारिक उदाहरणों को न देकर प्रकृति के अटल नियमों का उल्लेख किया है। यह कवि के गूढ़ दार्शनिक विचारों को प्रकट कर रहा है।

७

अनङ्गहर्ष

मायुराजसमो जज्ञे नान्यः कलचुरिः कविः ।
उदन्वतः समुत्तस्थुः कति वा तुहिनांशवः ॥ —राजशेखर

अनङ्गहर्ष का दूसरा नाम "मातृराज" था। ये किसी देश के महाराजा थे। प्रस्तावना से पता चलता है कि इनके पिता का नाम "नरेन्द्रवर्धन" था। राजशेखर के कथन से ये चेदिदेश के कलचुरिवंशीय राजा प्रतीत होते हैं। इनका असली नाम माउराज था जिसका संस्कृतरूप 'मातृराज' इस ग्रन्थ में निर्दिष्ट है। प्राचीनकाल में इनकी गणना संस्कृत के विशिष्ट नाटक-कर्ताओं में थी। इनके नाटक 'तापस वत्सराज' के उद्धरण अलंकारशास्त्र के प्राचीन सुप्रसिद्ध ग्रन्थों में बहुलता से उपलब्ध होते हैं। भोज ने इनके अनेक पद्य शृङ्गारप्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठाभरण में उद्धृत किये हैं। वक्रोक्तिजीवित में कुन्तक ने इनके बहुत से पद्यों को उद्धृत कर उनकी समीक्षा की है। लोचन में तथा ध्वन्यालोक में इनके पद्य उद्धृत हैं जिससे इनका समय आनन्दवर्धन (८५० ई०) से पूर्व सिद्ध होता है। तापस वत्सराज में 'सांकृत्यायनी' नामक बौद्ध भिक्षुणी अवतीर्ण हुई है। यह स्पष्ट ही भवभूति की 'कामन्दकी' का अनुकरण है। अतः अनङ्गहर्ष का समय भवभूति तथा आनन्दवर्धन के बीच में है। अष्टम शतक के उत्तरार्ध में इनका आविर्भाव-काल मानना नितान्त युक्तिसंगत है।

ग्रन्थ—

इनकी प्रधान रचना 'तापस वत्सराज' है जिसमें ६ अङ्क हैं। राजा उदयन वासवदत्ता के वियोग में तापस बन जाता है और प्रयाग में

आत्महत्या करने के लिये तैयार होता है। अनेक युक्तियों से उसके प्राणों की रक्षा की जाती है और पद्मावती के साथ उसका विवाह सम्पन्न होता है। वत्सराज-विषयक नाटकों में इस नाटक का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ की एक ही प्रति बर्लिन लाइब्रेरी में संरक्षित है। उसी के आधार पर इसका संस्करण मैसूर से प्रकाशित हुआ है।

इस नाटक में सरल तथा सुबोध भाषा का प्रयोग किया गया है। कथानक को अलंकृत करने का प्रयत्न कवि ने अच्छे ढंग से किया है। शार्दूल-विक्रीडित वृत्तों का यहाँ बहुल तथा रुचिर प्रयोग पाया जाता है। भाषा के सुबोध होने के कारण से यह नाटक चित्त के ऊपर अपना प्रभाव जल्दी जमाता है। राजा अपने विरह का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में कर रहा है (१ १४)—

तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा
तद्गोष्ठ्यैव निशापि मन्मथकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः।
तां संप्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे
बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किमथवा प्रेमाऽसमाप्तोत्सवः॥

८

मुरारि

मुरारिपदभक्तिश्चेत्तदा माघे रतिं कुरु।
मुरारिपदभक्तिश्चेत्तदा माऽघे रतिं कुरु॥

काल

मुरारि की केवल एकमात्र रचना मिलती है और इसका नाम है 'अनर्घराघव' नाटक। ये मौद्गल्य-गोत्री श्रीवर्धमानक तथा तनुमती देवी के पुत्र थे। कवि ने अपने लिये बड़ी भड़कीली उपाधि 'बाल

वाल्मीकि' की रखी है। इनकी कविता में वर्णनों के अतिरिक्त कोई विशेष चमत्कार नहीं दिखलाई पड़ता जिससे हम इस उपाधि को युक्तियुक्त समझें। सूक्तिग्रन्थों में उद्धृत इनके प्रशंसात्मक पद्यों से प्रतीत होता है कि ये माघ तथा भवभूति के अनन्तर आविर्भूत हुए[1]। एक आलोचक का कहना है कि वे भवभूति (शङ्कर और कवि) के पक्षपाती नहीं हैं; इसलिये वे मुरारि (कृष्ण तथा कवि) के पद (चरण और शब्द) की चिन्ता में अपने चित्त को लगा रहे हैं[2]। यह कथन मुरारि को भवभूति से पश्चाद्वर्ती नाटककार बतला रहा है। रत्नाकर ने अपने हरविजय में श्लेषरूप से कविवर मुरारि का उल्लेख किया है[3]। अतः मुरारि को रत्नाकर से (८२५ ई०) पूर्ववर्ती मानना उचित है। इस प्रकार भवभूति और रत्नाकर के बीच में—अष्टम शतक के उत्तरार्ध में—मुरारि की सत्ता निश्चित की जा सकती है।

इनका अनर्घराघव सात अङ्कों में समाप्त हुआ है। प्रस्तावना में सूत्रधार का यह कहना है कि रौद्र, बीभत्स, भयानक तथा अद्भुत रस से युक्त नाटक के अभिनय को देखते-देखते दर्शक लोग उद्विग्न हो गये हैं। अतः वे 'अभिमत रस' से युक्त नाटक का अभिनय देखना चाहते हैं। इस कथन में भवभूति के नाटकों पर व्यङ्ग्य कसा गया है। भवभूति के होते हुए मुरारि का अपने समर्थन में यही कहना है कि उनका नाटक वीर और अद्भुत रस से युक्त तथा गम्भीर और उदात्त वस्तु से

---

[1] मुरारि-पदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररीकुरु ॥

[2] भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया।
मुरारिपदचिन्तायामिदमाधीयते मनः ॥

[3] अङ्कोत्थ-नाटक इवोत्तमनायकस्य।
नाशं कविर्व्यधित यस्य मुरारिरित्थम् ॥ —हरविजय ३८।६७

सम्पन्न है। अतएव समस्त काव्य रसिकों को आनन्द देने वाला है[1]। कवि की यह उक्ति मार्मिक अवश्य है। इन्होंने अपने नाटक द्वारा इस उक्ति को चरितार्थ करने का प्रयत्न अवश्य किया है पर आलोचकों की दृष्टि में यह प्रयत्न प्रयासमात्र रहा है, इन्हें सफलता नहीं मिली है। भवभूति के अनन्तर रामकथा पर नाटक लिखना कोई सरल काम नहीं था। सफलता उसी कवि की चेरी बनकर रहती है जिसमें काव्य-प्रतिभा प्रचुरमात्रा में विद्यमान रहती है। मुरारि में इसका नितान्त अभाव था। अतः नाटक की दृष्टि से अनर्घराघव सफल प्रयास नहीं कहा जा सकता। कविता पर्याप्त रूप में अच्छी है। सप्तम अङ्क में राम के लङ्का से अयोध्या आते समय मुरारि ने रघुवंश के तेरहवें सर्ग का अनुसरण किया है। कविता में प्रौढ़ता है, ओज का प्रकर्ष है, वर्णन की बहुलता है; परन्तु हम उस सुकुमारता को नहीं पाते जो हमें कालिदास की कविता में मिलती हैं, और न वह मानवहृदय के भावों की परख पाते हैं जिसके कारण भवभूति के नाटक सहृदयों का मनोरञ्जन करते हैं।

६

राजशेखर

समाधिगुणशालिन्यः प्रसन्नपरिपक्त्रिमाः।
यायावरकवेर्वाचो मुनीनामिव वृत्तयः॥ —धनपाल।

कविराज राजशेखर के जीवनवृत्त से हम विशेषतः परिचित हैं। उन्होंने अपनी जीवनी नाटकों की प्रस्तावना में विस्तार के साथ दी

---

[1] तस्मै वीराद्भुतारम्भगम्भीरोदात्तवस्तवे।
जगदानन्दकाव्याय सन्दर्भाय त्वरामहे॥—१।१६

है। के यायावर वंश में उत्पन्न हुए थे। यह वंश कवियों के प्रसव के लिए कल्पतरु था। इसी कुल को अकालजलद, सुरानन्द, तरल, कविराज आदि अनेक कवियों ने अलंकृत किया था। ये महाराष्ट्र चूड़ामणि कविवर अकालजलद के प्रपौत्र थे तथा दुर्दुक और शीलवती के पुत्र थे। इन्होंने अवन्तिसुन्दरी नामक चौहानवंशी क्षत्रियललना से विवाह किया था। अवन्तिसुन्दरी बड़ी भारी विदुषी थी संस्कृत भाषा की ही नहीं, बल्कि प्राकृत भाषा की भी। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में 'पाक' के विषय में इनके विशिष्ट मत का उल्लेख किया है। 'पाक' के विषय में आचार्य वामन का कथन है कि पदों का विन्यास इतना मंजुल होना चाहिए कि वे अपने स्थान से हटाए न जा सकें। इस पर अवन्तिसुन्दरी का कथन है कि यह तो अशक्ति है—कवि की कमजोरी है कि वह एक पद को हटाकर उसके स्थान पर दूसरे अनुरूप पद का प्रयोग नहीं कर सकता[1]। हेमचन्द्र ने देशी-नाम-माला में अवन्तिसुन्दरी के 'देशी शब्द कोप' का उल्लेख किया है तथा उनके द्वारा कई शब्दों के जो नये अर्थ किये गये हैं उनका भी उल्लेख किया है। प्राकृत कविता की परख और उसमें रुचि होने का प्रबल प्रमाण इस घटना से भी हो सकता है कि इन्हीं के आदेश से 'कर्पूरमंजरी' का प्रथम अभिनय किया गया था। इस प्रकार राजशेखर ने अपने पूवजों से कविता की दिव्य प्रतिभा को पैतृक वित्त के रूप में प्राप्त किया था।

स्थिति-काल

ये महाराष्ट्र, सम्भवतः विदर्भ के निवासी थे। परन्तु कान्यकुब्ज के राजा के ये उपाध्याय पद पर विराजते थे। इनके आश्रयदाता का

---

[1] आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायः तस्मात्पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं 'पाकः' इति वामनीयाः। इयमशक्तिर्न पुनः पाकः इत्यवन्तिसुन्दरी।

—काव्यमीमांसा, पृष्ठ २०१।

नाम महेन्द्रपाल था जो कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजाओं में विशेष गौरवशाली माना जाता है[1]। इन्हीं के आदेश से राजशेखर ने बालरामायण का अभिनय प्रस्तुत किया था। कुछ दिनों के लिए ये दूसरे नरेश के यहाँ चले गये थे जिनकी अध्यक्षता में 'विद्धशालभंजिका' का अभिनय किया गया था। यहाँ से लौटकर ये फिर कान्यकुब्ज आये और महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल के सभासद् होकर रहे। इन्हीं के आदेश से 'बालभारत' या 'प्रचण्डपाण्डव' का अभिनय किया गया। इन राजाओं के समकालीन होने से इनका समय नवम का अन्त तथा दशम शताब्दी का पूर्वार्ध मानना उचित होगा।

राजशेखर का पाण्डित्य काव्यक्षेत्र में बहुत बढ़ा चढ़ा था। वे अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ और भवभूति का अवतार मानते हैं[2]। इससे स्पष्ट है कि राजशेखर ने भवभूति के नाटकों का ही अध्ययन नहीं किया था अपि तु वाल्मीकि के रामायण तथा भर्तृमेण्ठ के हयग्रीव-वध का भी गाढ़ अनुशीलन किया था। राजशेखर की प्रतिभा महाकाव्य की रचना के उपयुक्त थी, नाटकनिर्माण के लिए वह उतनी अनुरूप न थी। उक्त महाकाव्य रचयिताओं के प्रति समधिक आदर दिखलाने का भी यही रहस्य है। इन्होंने अपने को 'कविराज' कहा है। ये भूगोल के बड़े भारी ज्ञाता थे। भारत के प्राचीन भूगोल की अनुपम सामग्री काव्य-

---

[1] आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारां निधिः ।
त्यागी सत्यसुधा-प्रवाहशशभृत् कान्तः कवीनां गुरुः ॥
वर्ण्यं वा गुणरत्न-रोहण-गिरेः किं तस्य साक्षादसौ ;
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः ॥

—बालरामायण १।१८

[2] बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥

मीमांसा में भरी पड़ी है। इन्होंने इस विषय पर 'भुवनकोष' नामक ग्रंथ भी बनाया था जो आजकल उपलब्ध नहीं होता। बालरामायण का दशम अङ्क भौगोलिक वर्णन से भरा पड़ा है।

काव्यमीमांसा के अनुसार कवि की दश अवस्थाओं में 'महाकवि' के पद से बढ़कर 'कविराज' का पद स्वीकृत किया गया है। जो केवल एक प्रकार के प्रबन्ध में प्रवीण होता है वह 'महाकवि' कहलाता है परन्तु कविराज का दर्जा इससे एक सीढ़ी बढ़कर है। जो सब भाषाओं में सब प्रबन्धों में और भिन्न-भिन्न रसों में स्वतन्त्र होता है, 'कविराज' कहा जाता है। संसार में ऐसे प्रसिद्ध कविराज विरले होते हैं[1]। राजशेखर वस्तुतः कविराज थे। संस्कृत, प्राकृत, पैशाची तथा अपभ्रंश भाषाओं में इनकी अबाध गति थी तथा इन भाषाओं में इनकी ललित लेखनी कमनीय कविता की सृष्टि करती थी। राजशेखर का बहुभाषाविज्ञान एक विलक्षण वस्तु है। उन्होंने स्वयं इस तथ्य को प्रकट किया है

गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसरचनं भूतवचनम्।
विभिन्नाः पन्थानः किमपि कमनीयाश्च त इमे
निबद्धा यस्त्वेषां स खलु निखिलेऽस्मिन् कविवृषा॥

ग्रन्थ

राजशेखर ने स्वयं अपने षट्प्रबन्धों का निर्देश किया[2] है। इन प्रबन्धों में पाँच प्रबन्ध उपलब्ध हैं तथा प्रकाशित हुए हैं। एक प्रबन्ध

---

[1] योऽन्यतरप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः। यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे, तेषु तेषु प्रबन्धेषु, तस्मिन् तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये—काव्यमीमांसा पृ० १९

[2] विद्धि नः षट्प्रबन्धान्—बालरामायण १। १२

'हरविलास' का केवल उद्धरण हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन विवेक' में दिया है। काव्यमीमांसा का सम्बन्ध अलङ्कारशास्त्र से है। इन दोनों को छोड़ देने पर शेष चारों रचनाएँ रूपक हैं जिनके नाम हैं—

(१) बालरामायण—इसमें दश विशालकाय अङ्कों में राम की कथा को भव्य नाटक-रूप दिया गया है (२) बालभारत (या प्रचण्डपाण्डव) महाभारत की कथा का विराट नाटकीय रूप है। परन्तु इसके केवल आरम्भ के दो ही अंक उपलब्ध होते हैं। (३) विद्धशालभञ्जिका—चारों अङ्क की सुन्दर नाटिका है। (४) कर्पूरमञ्जरी-यह भी चार जवनिकान्तरों में समाप्त नाटिका ही है, परन्तु केवल प्राकृत-भाषा में निबद्ध होने के कारण यह 'सट्टक' कहा जाता है। इसमें चण्डपाल और कुन्तल देश की राजकुमारी कर्पूरमन्जरी का विवाह कौलमतावलम्बी भैरवानन्द की अलौकिक शक्ति से सम्पन्न दिखलाया गया है।

'बालरामायण' में रामायण की कथा विस्तार के साथ निबद्ध की गई है। भवभूति ने समग्र रामकथा की महत्ता तथा विशालता के पूर्ण निर्वाह के लिए उसे दो ग्रन्थों में नाटकीय रूप दिया है। राजशेखर ने पूर्व रामचरित को ही अपने विपुल-काय 'बालरामायण' में प्रस्तुत किया है। 'कर्पूरमञ्जरी' की कथावस्तु विशेष घटना-प्रधान नहीं है। इस सट्टक का प्रारम्भ वसन्त वर्णन से होता है। 'भैरवानन्द' नामक एक तान्त्रिक अलौकिक सिद्धि के बल पर विदर्भनगर की राजकुमारी 'कर्पूर मन्जरी' को उसके स्नानागार से राजा के सामने ला देता है। बातचीत से वह महारानी की सम्बन्धिनी सिद्ध होती है। अतः वह उसे अपने अन्तः प्रासाद में लाकर रखती है (प्रथम अंक)। कर्पूरमञ्जरी का अलौकिक सौन्दर्य राजा के चित्त में प्रेमाङ्कुर उत्पन्न करने में समर्थ होता है। वह राजा के लिए अपने भावों के प्रकटन के लिए एक 'मदनलेख' भेजती है। 'हिन्दोलक चतुर्थी' के दिन कर्पूरमञ्जरी

महारानी के आदेशानुसार 'हिन्दोल' पर झूला झूलती है जिससे देखने के लिए राजा विदूषक के साथ एकान्त में जाता है और उसके झूलने का रमणीय वर्णन करता है। पौधों के खिलने के लिए दोहद दान के लिए जब कर्पूरमञ्जरी वाटिका में जाती है तब राजा को उसकी असामान्य सुन्दरता को नजदीक से देखने का अवसर मिलता है (द्वितीय अंक)। रानी के कानों में राजा की इस नयी कामलीला की भनक पड़ती है और वह कर्पूरमञ्जरी को एकान्त में कैद कर लेती है। परन्तु विचक्षणा की बुद्धि यहाँ कम कर जाती है। सुरंग से वह छिपे ही छिपे राजा से भेंट करने जाती है (तृतीय अंक)। रानी इस हरकत को बन्द करने के लिए दासियों की एक लम्बी सेना उस कारागृह की रक्षा में रख देती है, परन्तु तान्त्रिक भैरवानन्द की नयी युक्ति के सामने वह हार मान लेती है। वह तान्त्रिक रानी की सम्मति से सार्वभौम पद की प्राप्ति के लिए लाटदेश की घनसारमञ्जरी का विवाह राजा से कर देता है। 'घनसारमञ्जरी' वस्तुतः 'कर्पूरमञ्जरी' का ही कल्पित अभिधान है। इस प्रकार राजा की प्रेमलीला अपने सफल पर्यवसान पर पहुँच जाती है (चतुर्थ अंक)।

समीक्षण

अपनी अभिरुचि तथा प्रवाह के कारण राजशेखर की प्रतिभा नाटकीय होने की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य के प्रणयन के लिए विशेषतः अनुकूल थी। 'बालरामायण' का विशाल विस्तृतरूप उसे अभिनेय रूपक होने से सर्वथा रोकता है। राजशेखर वर्णन करने में नितान्त निपुण हैं, परन्तु ये वर्णन नाटक की प्रकृति से विरुद्ध होने से उसमें खप नहीं सकते। बालरामायण में ७४१ पद्य हैं जिनमें ८६ पद्य स्रग्धरा में तथा २०० पद्य (समग्र ग्रन्थ का चतुर्थ से भी अधिक अंश) शार्दूल विक्रीडित में निबद्ध हैं। अन्तिम अंक में रामचन्द्र के पुष्पक विमान पर

यह 'अयोध्या प्रत्यावर्तन' का वर्णन १०९ पद्यों में किया गया है जो स्वयं किसी पूर्ण नाटक के लिए भी पर्याप्त माना जा सकता है। लम्बे-लम्बे छन्दों में संस्कृत तथा प्राकृत कविता अनायास निबद्ध करना कवि के बायें हाथ का खेल है। शार्दूल-विक्रीडित तो राजशेखर का सिद्ध छन्द है :—

शार्दूल क्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः ।
शिखरीव परं वक्रैः सोल्लेखैरुच्चशेखरः ॥

—सुवृत्ततिलक

राजशेखर अपनी नाट्यकला की इस त्रुटि से अपरिचित प्रतीत नहीं होते। उन्होंने अपने नाटकों में 'भणितिगुण' की प्रशंसा की है, 'नाट्यगुण' की नहीं। 'भणितिगुण' से तात्पर्य उन गुणों से है जो उक्ति को सुन्दर, सरस तथा सुबोध बनाते हैं। अपने विरोधी आलोचकों का मुखमुद्रण करने के लिए वे पूछ बैठते[1] हैं कि मेरे 'बालरामायण' में भणितिगुण विद्यमान है या नहीं? यदि गुण की सत्ता है, तो इन्हें पाठ करने में प्रेम रखो, प्रेम से पढ़ो (न कि आनन्द से देखो)। यह स्वीकारोक्ति कवि की सच्ची आलोचना है।

राजशेखर 'शब्द कवि' हैं। इनके पदों की रमणीय शय्या किस रसिक के मन को नहीं हर लेती? वेद के ज्ञाता के लिए 'श्रुत्यर्थवीथीगुरुः' का प्रयोग कितना शोभन तथा श्रवण-सुखद है? नोंकझोंक वाले शब्दों का विन्यास इनके नाटकों में अद्भुत चमत्कार पैदा करता है।

---

[1] ब्रूते यः कोऽपि दोषं महदिति सुमति बालरामायणेऽस्मिन्
प्रष्टव्योऽसौ पटीयान् इह भणितिगुणो विद्यते वा न वेति ।
यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठनरुचिः……… ।

—बालरामायण १।१२

उनकी काव्यप्रतिभा प्रथम कोटि की है। इसका परिचय कर्पूरमंजरी के अनुशीलन से ही मिल जाता है। इन्होंने अपने वर्णनों में बहुत ही निपुणता दिखलायी है। शैली विशेषतः गौडी है; परन्तु उसमें पाञ्चाली का स्थान-स्थान पर पुट है। भवभूति के ये तो पक्के शिष्य हैं। इनके काव्य में भी शब्दों से अर्थ की प्रतिध्वनि होती है। यह शब्द-चमत्कार इनकी रचना में पद-पद पर मिलता है। परन्तु रस का वह परिपाक, हृदय के भावों की गहरी परख, प्रकृति और मानव का परस्पर रागात्मक सम्बन्ध जो भवभूति की काव्यकला के भूषण हैं, वे यहाँ खोजने पर भी नहीं मिलते।

इनके काव्य में लोकोक्तियों तथा मुहावरों का विशेष चमत्कार दीख पड़ता है। 'वरं तत्कालोपनता तित्तिरी न पुनः दिवसान्तरिता मयूरी' हिन्दी के 'नव नगद न तेरह उधार' का ही पुराना प्रतिनिधि है। इनके नाटकों में गतिशीलता का अभाव भले ही हो, परन्तु पात्रों की सजीवता निश्चय ही चमत्कारिणी है।

कर्पूरमञ्जरी में कवि ने विरहवर्णन के प्रसंग में सच्ची काव्यप्रतिभा का परिचय दिया है—

> परं जोण्हा उण्हा गरलसरिसो चन्दणरसो
> खटक्खारो हारो रअणिपवणा देहतवणा।
> मुणाली बाणाली जलइ च जलद्दा तणुलदा
> वरिट्ठा जं दिट्ठा कमलवअणा सा सुणअणा ॥

तात्पर्य है कि जब वह कमलनयनी सुन्दरी दृष्टिपथ में आयी तब से चाँदनी ताप उत्पन्न करने लगी, चन्दनरस गरल के समान प्रतीत हुआ। हार काँटों पर नमक-सा लगने लगा, रात के ठण्ढे पवन देह को जलाने लगे। मृणाल बाणावली प्रतीत हुआ और जल से आर्द्र तनुलता भी जलने लगी।

सीता की सुषमा के वर्णन-प्रसंग पर कवि कह रहा है कि सीता के सामने चन्द्रमा मानों अंजन से लिप्त कर दिया गया है। मृगियों के नेत्रों में मानों जड़ता ने प्रवेश कर लिया है। मूँगे की लता की लालिमा फीकी पड़ गई। सोने की कान्ति काली हो गई है। कोकिलाओं के कलकण्ठ में कला ने रूखेपन का मानों अभ्यास कर रखा है। और तो क्या ? मोरों के चित्र-विचित्र पंख निन्दा के बोझ से मानो लद गये हैं। उत्प्रेक्षा की छटा नितान्त अवलोकनीय है :—

इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमलता श्यामेव हेमद्युतिः।
पारुष्यं कलया च कोकिलवधू-कण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां वर्हा सगर्हा इव ॥

—बालरामायण १।४२

क्षेमीश्वर—राजशेखर के समकालीन थे। ये राजा महीपाल (कन्नौज नरेश) के सभापण्डित थे। इनके लिखे हुए दो नाटक हैं— (१) चण्डकौशिक (२) नैषधानन्द जिनमें चण्डकौशिक विशेष प्रसिद्ध है। सत्य हरिश्चन्द्र का जीवनचरित्र नाटक रूप में दिखलाया गया है। इसमें पाँच अंक हैं। हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसी नाटक के आधार पर अपना सत्यहरिश्चन्द्र नामक प्रख्यात नाटक लिखा है।

१०

जयदेव

इनका "प्रसन्नराघव" नाटक संस्कृत साहित्य में अत्यन्त विख्यात है। इसमें सात अङ्क हैं जिनमें रामायण की कथा को बड़े ही सुन्दर

ढंग से चित्रित किया है। इसमें भवभूति के नाटकों के समान हृदय के भावों का चित्रण नहीं है और न राजशेखर के बालरामायण की तरह वर्णन का विस्तार है। परन्तु इतनी मंजुल पदावली है कि पढ़ते ही पूरा चित्र आंखों के सामने खिंच जाता है। प्रसादमयी कविता के कारण इसका 'प्रसन्नराघव' नाम यथार्थ है। हिन्दी के महाकवि तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में इस नाटक के अनेक मार्मिक स्थलों तथा सरस सूक्तियों को अपनाया है।

जयदेव के देश और काल का साक्षात् परिचय तो नहीं मिलता परन्तु इनका अनुमान किया जा सकता है—विश्वनाथ कविराज (१३५० ई०) ने साहित्यदर्पण में जयदेव का यह सुन्दर श्लोक ध्वनि के उदाहरण में उद्धृत किया है :—

कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥

इससे इनका समय चतुर्दश शतक से पूर्व होना चाहिए। देश और काल की भिन्नता होने से ये गीतगोविन्दकार जयदेव से भिन्न हैं। प्रवाद है कि ये मिथिला के रहने वाले थे। कवि होते हुए भी ये उच्चकोटि के तार्किक थे। इसे तो उन्होंने स्वयं शब्दतः स्वीकार किया है।

इनकी सरस कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः।
निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः॥

इतर नाटक और नाटककार

(१) कुलशेखर (९२५ ई०—९५५ ई०)—तपतीसंवरण और सुभद्राधनञ्जय के रचयिता। ट्रावनकोर रियासत के महोदय नामक

राज्य के राजा थे। केरल में इनके नाटकों और काव्यग्रन्थों का बड़ा सम्मान है। ये वैष्णव मत के विशेष प्रचारक माने जाते हैं। तपती-संवरण—इसमें ६ अंक हैं जिनमें कुरु के पिता संवरण तथा माता 'तपती' का चरित्र वर्णित है। यह कथा महाभारत के आदिपर्व में आई है। सुभद्रा-धनञ्जय—यह पाँच अङ्कों का नाटक है। इसमें महाभारत की प्रसिद्ध सुभद्राहरण की कथा वर्णित है। इसमें वीररस प्रधान है!

(२) हनुमन्नाटक—इसके दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। प्रथम ९ वा १० अंकों की पुस्तक मधुसूदन मिश्र कवि विरचित, दूसरा १४ अंकों की पुस्तक दामोदर मिश्र विरचित है। अंकों की अधिकता के कारण यह महानाटक कहलाता है। इसमें नाटकीय अंश बहुत ही कम है। वर्णन ही अधिक है। कहीं २ प्राचीन कवियों के प्रसिद्ध श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं।

(३) रामचन्द्र (११००-७५) नलविलास तथा निर्भय भीम-व्यायोग के कर्ता। ये प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे तथा गुजरात के राजा सिद्धकुमारपाल तथा अजयपाल के समकालीन थे। इनकी विद्वत्ता बढ़ी चढ़ी बढ़ी थी। इसीलिए हेमचन्द्र ने इन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया था। 'नल-विलास' में नल की कथा का वर्णन है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का विषय स्पष्ट है। "कौमुदी मित्रानन्द" दश अंकों का एक लम्बा प्रकरण है।

(४) जयसिंह सूरि—(१२२५)—"हम्मीर-मद-मर्दन" ही इनका एकमात्र नाटक है जिसमें गुजरात के राजा हम्मीर पर यवनों के आक्रमण तथा राजा की दुर्दशा, वीरधवल और उनके प्रसिद्ध मंत्री वस्तुपाल की कीर्ति का वर्णन है।

(५) रविवर्मा—(१३ वीं का उत्तरार्ध)—'प्रद्युम्नाभ्युदय' में इन्होंने प्रद्युम्न की कथा लिखी है। यह नाटक पाँच अंकों का है।

रविवर्मा केरल के अन्तर्गत 'कोलम्बपुर' का राजा था। वह परम वैष्णव अच्छा गायक, कवि तथा आलंकारिक था।

(६) वामनभट्ट बाण (१४२० ई० के लगभग)—ये दक्षिण के बड़े भारी पण्डित थे। इन्होंने 'पार्वती परिणय' में शिव पार्वती के विवाह की कथा लिखी है। इसमें पाँच अङ्क हैं। नाम की समता से यह नाटक महाकवि बाणभट्ट का ही मान लिया जाता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं। शृङ्गारभूषण भाण इनका प्रचलित भाण है। कवि-सार्वभौम, साहित्य-चूड़ामणि आदि—उपाधियों से इनकी विद्वत्ता का परिचय मिलता है।

(७) महादेव (१६ श०)—ये रामभद्र दीक्षित के समकालीन दाक्षिणात्य कवि हैं। समय १६ वीं का उत्तरार्ध है। इनका "अद्भुत दर्पण" रामकथा के विषय में है। अंगद के दौत्य से आरम्भ कर रामचन्द्र के राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है। राम-नाटक होने पर भी इसमें विदूषक भी विद्यमान है।

(८) शक्तिभद्र—'आश्चर्य चूड़ामणि' के कर्ता केरल देश निवासी कवि थे। केरल में इस नाटककी खूब प्रख्याति है। समय का ठीक ठीक तो पता नहीं चलता, परन्तु अनुमान है कि तपतीसंवरण के कर्ता कुलशेखर वर्मा से ये प्राचीन हैं। अतः इनका समय दशम शतक से बहुत पहले है। आश्चर्यचूड़ामणि के सात अङ्कों में रामचरित का ही नाटकीय रूप दर्शित किया गया है। परन्तु आश्चर्य रस को मुख्य मानकर इस नाटक का प्रणयन किया गया है। कालिदास की छाया इस ग्रन्थ पर पर्याप्त मात्रा में है। समानार्थक श्लोक बहुत मिलते हैं। नाटक की भाषा सरल, सुबोध तथा सरस है।

(९) धीरनाग—कुन्दमाला। यह नाटक हाल ही में प्रकाशित हुआ है। कथा रामायण से सम्बद्ध है। उत्तररामचरित का विशेष अनुकरण कवि ने किया है। अतः इनका समय अष्टम शतक के अनन्तर

होना चाहिए। साहित्यदर्पण में उद्धृत किए जाने के कारण यह नाटक १४ वीं शताब्दी से पुराना है। सम्भवतः ११ या १२ वीं शताब्दी में इसकी रचना हुई। इस नाटक के कर्ता का नाम 'धीरनाग' है। कुछ लोग प्रसिद्ध बौद्धाचार्य दिङ्नाग को ही इसका लेखक मानते हैं। परन्तु यह कदापि मान्य नहीं है। बौद्ध कवि अपने धार्मिक विषय को छोड़कर रामचरित पर नाटक लिखेगा, यह सहसा विश्वास नहीं होता। भवभूति के पर्याप्त अनुकरण होने के कारण यह नाटक अष्टम शतक से कथमपि प्राचीन नहीं हो सकता।

(१०) कौमुदीमहोत्सव—इस नाटक के रचयिता के नाम का पता नहीं चलता। सुनते हैं कि प्रसिद्ध स्त्री कवि विज्जका की यह रचना है। इसमें पाँच अङ्क हैं। यह नाटक पाटलिपुत्र के राजा देवकल्याणवर्मा के नये राज्य की प्राप्ति के उपलक्ष्य में किया था। यह नाटक ऐतिहासिक महत्त्व का माना जाता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि इसका कथानक गुप्त साम्राज्य के उदय से सम्बन्ध रखता है। नाटक साधारणतया अच्छा है। दक्षिण भारत सीरिज मद्रास से प्रकाशित हुआ है।

रूपक के अन्य भेद

नाटिका

दशरूपक के अनुसार प्रकरण और नाटक के मिश्रण को 'नाटिका' कहते हैं। नायक नाटक से लिया जाता है और वृत्त प्रकरण से। इसीलिए नाटिका के नायक इतिहासप्रसिद्ध व्यक्ति ही होते हैं, परन्तु इनका वृत्त कविकल्पनाप्रसूत होता है। संस्कृत साहित्य में सबसे पहली नाटिका महाराज हर्षवर्धन की रत्नावली तथा प्रियदर्शिका हैं। इन्होंने जिस परम्परा को अग्रसर किया उसी का अनुसरण पिछली नाटिका के लेखकों ने किया। बिल्हण की 'कर्णसुन्दरी' नाटिका १०८० और १०९०

ई० के आसपास की रचना है। विल्हण अपने महाकाव्य के लिए प्रसिद्ध हैं। इस नाटिका में चार अङ्क हैं। इसमें 'अणहिलवार' के राजा कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल (ई० १०६४–१०९४) का वृद्धावस्था में कर्णाटक के राजा जयकेशी की कन्या के साथ विवाह सम्पन्न होने का वर्णन है। कथानक का प्रदर्शन 'विद्धशालभञ्जिका' से मिलता है।

धारा के परमारनरेश अर्जुनवर्मा के गुरु मदनपाल सरस्वती ने 'विजयश्री' या 'पारिजातमञ्जरी' नामक नाटिका लिखी है। इस नाटिका में भी चार अङ्क हैं जिसके केवल दो अङ्क धारा में शिला पर उल्लिखित होने से सुरक्षित हैं। इस नाटिका का समय १३ वीं शताब्दी का प्रारम्भ है। अर्जुनवर्मा ही इसके नायक हैं। कवि ने दिखलाया है कि जब अर्जुनवर्मा ने चालुक्य नरेश भीमदेव द्वितीय को परास्त किया था तब उनकी छाती पर एक माला गिरी और गिरते ही वह एक सुन्दरी के रूप में परिणत हो गयी। वह सुन्दरी चालुक्य नरेश की कन्या थी और इसी से राजा का विवाह हुआ। नाटिका का यही कथानक है जिसमें कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी प्रतीत होता है।

मथुरादास ने राधाकृष्ण के प्रेम को 'वृषभानुजा नाटिका' में बड़ी सुन्दरता से दिखलाया है। इस नाटिका के रचयिता गङ्गा के तीरस्थ सुवर्णशेखर नामक स्थान के कायस्थ थे। राधा कृष्ण के हाथ में किसी सुन्दरी का चित्र देखकर उनसे मान कर बैठती है। पीछे देखने पर यह राधा का ही चित्र निकलता है। यही वृत्तान्त इस नाटिका में दिखलाया गया है।

प्राकृत में लिखी गयी नाटिका को 'सट्टक' कहते हैं। सर्वश्रेष्ठ सट्टक कर्पूरमञ्जरी है। परन्तु इसमें प्राकृत भाषा के ज्ञान की इतनी अधिक आवश्यकता होती है कि पीछे के कवियों ने इस रूपक की सृष्टि नहीं की है। तंजौर के राजा तुकोजी के मन्त्री घनश्याम कवि ने 'आनन्दसुन्दरी' तथा विश्वेश्वर पण्डित ने 'शृङ्गारमञ्जरी' नामक सट्टक लिखे हैं जिनमें केवल दूसरा ही काव्यमाला गुच्छक आठ में प्रकाशित है।

बिल्हण की 'कर्णसुन्दरी' कवि की प्रसिद्ध उदात्त शैली में लिखी गयी है जिसका निदर्शन हमें 'विक्रमांकदेव चरित' में मिलता है। 'वृषभानुजा' नाटिका की भाषा कर्णसुन्दरी से अपेक्षाकृत सरल है। मथुरादास की पदावली अत्यन्त कोमल है जो राधा-कृष्ण की लीलाओं के वर्णन के लिए नितान्त उचित है[1]।

प्रकरण

प्रकरण नाटक से ही मिलता जुलता है। केवल इसका नायक धीर-प्रशान्त ब्राह्मण, मन्त्री या कोई बनिया होता है। मालतीमाधव तथा शूद्रक का 'मृच्छकटिक' महनीय प्रकरण हैं जिनका वर्णन नाटक के प्रसंग में किया गया है। अन्य प्रकरणों की रचना कालान्तर में की गई। प्रधान प्रकरण निम्नलिखित हैं—

(१) मल्लिकामारुत[2]—इस प्रकरण में १० अङ्क हैं। रचयिता का असली नाम उद्दण्ड कवि है जो वस्तुतः कालिकट के राजा की सभा के पण्डित थे तथा १७ वीं शताब्दी के मध्यभाग में विद्यमान थे। कथानक बिल्कुल मालतीमाधव के समान है। नामसाम्य से कभी कभी यही प्रकरण दण्डी के मत्थे भी मढ़ा जाता है।

(२) कौमुदीमित्रानन्द[3]—यह हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र की कृति है जिसकी रचना ११७३—७६ ई० के बीच में हुई। यह प्रकरण अभिनय के लिए उपादेय नहीं है। इधर-उधर विकीर्ण कथनोपकथन का संग्रहमात्र प्रतीत होता है।

---

[1] कर्णसुन्दरी काव्यमाला (नं ७) में तथा वृषभानुजा भी वहीं (नं० ४६) में प्रकाशित हुई है।

[2] जीवानन्द विद्यासागर के द्वारा प्रकाशित।

[3] भावनगर से १९१७ में प्रकाशित।

(३) प्रबुद्धरौहिणेय—जयप्रभसूरि के शिष्य रामभद्रमुनि (१३ शतक) के द्वारा रचित जैनधर्म में प्रसिद्ध एक आख्यान का प्रकरणरूप से निर्माण हुआ है।

(४) मुद्रितकुमुदचन्द्र[१]—धनदेव के पौत्र तथा पद्मचन्द्र के पुत्र यशचन्द्र की रचना है। यह प्रकरण एक विख्यात धार्मिक शास्त्रार्थ का अवलम्बन कर लिखा गया है जो ११२४ ई० में श्वेताम्बर मुनि देवसूरि और दिगम्बरमुनि कुमुदचन्द्र के बीच हुआ था। इसमें कुमुदचन्द्र का मुख- मुद्रण हो गया। इसीलिए इस रूपक का सार्थक नाम है।

भाण

एक अङ्क में समाप्त होने वाले, धूर्त तथा विट के चरित्र को वर्णन करने वाले रूपक को 'भाण' कहते हैं। संस्कृत साहित्य में प्राचीनता की दृष्टि में भाण का स्थान नाटक से किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अभी हाल में प्राचीनकाल में लिखित 'भाण' उपलब्ध हुए हैं जिनका प्रकाशन 'चतुर्भाणी' के नाम से मद्रास से हुआ है। इन भाणों की भाषा भाव, सरणि प्राचीनता की प्रधान प्रतीक है। इन भाणों के रचयिता वररुचि, ईश्वरदत्त, श्यामलिक, तथा शूद्रक हैं। इनके विषय में किसी प्राचीन आलोचक का यह श्लोक मिलता है—

> वररुचिरीश्वरदत्तः श्यामलिकः शूद्रकश्च चत्वारः।
> एते भाणान् बभणुः का शक्तिः कालिदासस्य॥

कालक्रम से इन भाणों का संक्षिप्त वर्णन यों है—

(१) उभयाभिसारिका—इसके रचयिता वररुचि हैं। वररुचि के 'कण्ठाभरण' काव्य का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है। अतः यह ईस्वी पूर्व तृतीय शतक से अर्वाचीन नहीं है। इस भाण की भाषा तथा शैली बड़ी प्रौढ़ है! पाटलिपुत्र में इस भाण का अभिनय हुआ था।

---

[१] काशी से प्रकाशित वीर सं० २४३२।

(२) पद्मप्राभृतक—इसके रचयिता 'शूद्रक' कवि हैं जिनका वर्णन नाटक प्रकरण में विस्तार के साथ किया गया है। शूद्रक राजा होने के अतिरिक्त रूपककार भी थे। प्राचीनकाल में विक्रमादित्य के समान ही सरस्वती के उपासक तथा कवियों के आश्रयदाता होने से इनकी पर्याप्त ख्याति थी। इनके विषय में रामिल और सोमिल ने 'शूद्रक-कथा' लिखी थी। किसी अज्ञात कवि का 'विक्रान्त शूद्रक' नामक नाटक तथा पञ्चशिख का 'शूद्रक-चरित-नाटक' का उल्लेख मिलता है। इस भाण में प्राचीन काल के प्रसिद्ध कला-वेत्ता 'मूलदेव' का चरित्र-चित्रण किया गया है। इसके पढ़ने से प्राचीन काल के पण्डितों की नोंक झोंक की बातें जानी जा सकती हैं। इस भाण का एक पद्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन (पृ० १८८) में उद्धृत किया है। अन्य ग्रन्थों में भी इनके उद्धरण मिलते हैं।

(३) धूर्तविट-संवाद—इसके रचयिता का नाम है 'ईश्वरदत्त'। भोजदेव ने श्रृंगारप्रकाश में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ के एक पद्य का उल्लेख अपने काव्यानुशासन में किया है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय ग्यारवीं शताब्दी से पूर्व का है। इस रूपक में विट और धूर्त का परस्पर संवाद कामिनियों तथा वेश्याओं के विषय में दिया गया है। भाषा में बड़ी प्रौढ़ता है।

(४) पादताडितक—इसके रचयिता का नाम है श्यामलिक। इन्होंने अपने को उदीच्य लिखा है जिससे यह ज्ञात हो सकता है कि वे काश्मीर के निवासी थे। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचारचर्चा' में श्यामलिक का जो पद्य उद्धृत किया है वह इस भाण में मिलता है। अभिनव गुप्त ने श्यामलिक का नाम निर्देश किया है तथा 'पादताडितक' से उद्धरण भी दिए हैं। अतः इनका समय ८००–९०० ई० के बीच का होना चाहिए। बहुत सम्भव है कि ये महिमभट्ट के गुरु 'श्यामलिक' ही हो।

१६ वीं शताब्दी के बाद भी अनेक भाणों की रचना होती रही जिनमें 'वामनभट्ट बाण' का 'श्रृंगारभूषण', 'रामभद्रदीक्षित' का 'श्रृङ्गार-तिलक', (या अय्या भाण), 'वरदाचार्य' का 'वसन्ततिलक' (अम्मा भाण), 'शंकर कवि' का 'शारदा तिलक', 'नल्ला कवि' (१७ वीं लगभग) का 'श्रृंगार-सर्वस्व', 'युवराज' कृत 'रससदन-भाण' मुख्य हैं। इन भाणों का कथानक, लेखनशैली तथा वर्णन प्रकार बिलकुल मिलते जुलते हैं। जिस चतुर्भाणी का उल्लेख विस्तार से ऊपर किया गया है उसकी शैली से इनकी शैली भिन्न है।

प्रहसन

संस्कृत नाटक साहित्य में प्रहसन का एक विशिष्ट स्थान है। मध्यकालीन प्रहसनों में कुछ अश्लीलता का अंश भले आ गया हो, परन्तु प्राचीन प्रहसन काव्य-दृष्टि से विशुद्ध हास्य के पोषक हैं और अश्लीलता की छाया से कोसों दूर हैं। इन प्राचीन प्रहसनों में वैदिक धर्म के न मानने वाले चार्वाक, जैन, बौद्ध, शैव, कापालिक के मतों की खासी दिल्लगी उड़ाई गई है। उनके आक्षेप-जनक सिद्धान्तों की बुराइयों की ओर, जिनसे जनता में अनाचार फैलने की आशंका है, बड़े मार्मिक रूप से संकेत किया गया है। इन प्रहसनों का उपयोग तत्कालीन समाज तथा धर्म की स्थिति जानने में भी है। ऐसे उच्च कोटि के प्रहसनों में 'मत्तविलास प्रहसन' मुख्य है। इसके लेखक पल्लववंशीय सिंहविष्णु वर्मा के पुत्र 'महेन्द्र विक्रम वर्मा' हैं। इनका समय सप्तम शतक का प्रथमार्ध है। इस प्रकार ये महाराज हर्षवर्धन तथा पुलकेशी द्वितीय के समकालीन हैं। इनके प्रहसन से कापालिक, शाक्यभिक्षु तथा पाशुपत का परस्पर संघर्ष बड़ी ही संयतभाषा में दिखलाया गया है। कापालिक की यह शंकर-स्तुति बड़ी ही रोचक तथा मार्मिक है:—

पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं
ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः ।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म
दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः ॥

'शंखधर कविराज' का 'लटकमेलक', जिसकी रचना कान्यकुब्ज के महाराज गोविन्दचन्द (१२ वीं शताब्दी) के राज्यकाल में की गई थी, बड़ा ही लोकप्रिय प्रहसन माना जाता है। 'ज्योतिरीश्वर कविशेखर' का 'धूर्तसमागम' १५ वीं शताब्दी में रचित प्रहसन है। 'जगदीश्वर' का 'हास्यार्णव' विषय की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर तथा रोचक है। 'गोपीनाथ चक्रवर्ती' का 'कौतुक-सर्वस्व' तथा 'सामराजदीक्षित' (१७०० ई०) का 'धूर्त-नर्तक' पिछले कोटि के प्रहसन हैं जिनमें दुराचार-निरत तथा कामिनी-लोलुप धर्मध्वजियों का भण्डाफोर किया गया है।

रूपक के दश भेदों में नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन और व्यायोग की रचना पर्याप्त रूप से लोकप्रिय रही है। इसीलिए इनके नमूने भी अधिक मात्रा में मिलते हैं। डिम, समवकार. वीथि, अंक तथा ईहा-मृग—इन रूपकों का प्रचलन बहुत ही कम रहा है। नाट्य-ग्रन्थों में इनके लक्षण अवश्य मिलते हैं परन्तु लक्ष्य ग्रन्थों का विशेष अभाव है। इस समय एक कवि की कृपा से हमें इन प्रकारों के रूपकों के भी उदाहरण मिलते हैं।

इस कवि का नाम वत्सराज है। ये कालिंजर के राजा 'परमर्दिदेव' के अमात्य थे तथा उनके पुत्र 'त्रैलोक्यवर्मदेव' के समय में भी उसी पद पर प्रतिष्ठित रहे। परमर्दिदेव का समय ११६३ ई०–१२०३ ई० तक था तथा उनके पुत्र का समय १३ वीं शताब्दी के मध्य भाग तक था। इस प्रकार वत्सराज का समय १२ वें शतक का उत्तरार्ध तथा १३ वें शतक का पूर्वार्ध है। ये परमर्दिदेव ही 'परमाल' के नाम से प्रसिद्ध थे जिनके पृथ्वीराज के द्वारा पराजय होने की घटना का वर्णन

चन्दवरदाई ने 'रासो' (महोबा समय) में मिलता है। वत्सराज के ये रूपक बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन अप्रचलित रूपकों के स्वरूप का ज्ञान हमें इन्हीं ग्रन्थों से मिलता है। भाषा में प्रवाह है। वह लम्बे समासों से न तो दबी है और न अप्रचलित शब्दों प्रयोगों से भरी है।

(१) कर्पूरचरित-भाण—नीलकण्ठ के यात्रा-महोत्सव में यह भाण 'परमाल' की आज्ञा से खेला गया था। इसमें एक द्यूतकर की द्यूतक्रीडा तथा वेश्या के साथ उसकी प्रणयलीला का मनोहर वर्णन किया गया है।

(२) हास्यचूड़ामणि—प्रहसन। यह प्रहसन एक अङ्क का है। इसमें भारतवर्ष में एक आचार्य 'ज्ञानराशि' की खूब दिल्लगी उड़ाई गयी है। इस आचार्य को केवली विद्या आती थी जिसके सहारे वह गड़े हुए धन का तथा भूली हुई वस्तुओं का पता लगाया करता था। धार्मिक कृत्य को छोड़ कर लौकिक कार्यों की अनुरक्ति को लक्ष्य कर इस प्रहसन की रचना की गयी है।

(३) त्रिपुरदाह—डिम। इस डिम में चार अङ्क हैं। कथा पुराण से ली गयी है। भगवान् शंकर ने त्रिपुर असुर का नाश किस प्रकार किया था? इसी का साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस डिम में है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में 'त्रिपुरदाह' नामक डिम के प्रथम प्रयोग का उल्लेख किया है। इसी संकेत को ग्रहण कर वत्सराज ने इस रूपक की रचना की है। रौद्र रस का परिपाक पूर्णरूप से विद्यमान है। अन्य डिम बहुत पीछे के हैं। 'घनश्याम' रचित डिम, 'वेङ्कटवर्य' का 'कृष्णविजय', 'रामकवि' कृत 'मन्मथोन्मथन' डिम के अन्य उदाहरण हैं।

(४) किरातार्जुनीय—व्यायोग। व्यायोग एक अङ्क का होता है। इस एकाङ्की रूपक में अर्जुन और शिव का युद्ध दिखलाया गया है। कथानक वही है जो भारवि के सुप्रसिद्ध महाकाव्य का है। 'प्रह्लादनदेव' रचित 'पार्थ-पराक्रम' इससे कुछ प्राचीन है। इसके रचयिता चन्द्रावती

(जोधपुर) के परमार राजा धारावर्ष के भाई थे। धारावर्ष आबू के परमार राजाओं में नितान्त प्रसिद्ध हैं। प्रह्लादनदेव का समय ११६३–१२०९ ई० है। 'पार्थ-पराक्रम' लोकप्रिय व्यायोग है जिसमें महाभारत के विराट पर्व में उल्लिखित अर्जुन के द्वारा विराट राजा की गायों का कौरवों के पञ्जे से छुड़ा लेने का (गोग्रहण) वर्णन है। 'काञ्चनाचार्य' का 'धनंजय-विजय', 'रामचन्द्र' का 'निर्भयभीम' (१२ वीं शतक), विश्वनाथ' (१३५०) का 'सौगन्धिकाहरण' व्यायोग के अन्य उदाहरण हैं। भास का 'मध्यम व्यायोग' इन सबों से प्राचीन है।

(५) समुद्रमथन—समवकार। तीन अङ्क के इस समवकार में समुद्रमथन का वृत्तान्त बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। भरत ने समुद्रमथन को समवकार का आदर्श बतलाया है। इसी सूचना के अनुसार वत्सराज ने इस रूपक का प्रणयन किया है। समवकार के अन्य उदाहरण उपलब्ध नहीं होते।

(६) वीथी—इस रूपक में भाण के समान ही कथानक होता है जिसमें शृङ्गाररस तथा कैशिकी वृत्ति की प्रधानता रहती है। परन्तु शृङ्गार की भी सूचनामात्र रहती है। एक दो पात्र रहते हैं। 'माधवी' वीथी का नाम तो मिलता है, पर ग्रन्थ अप्रकाशित है।

(७) अङ्क—इसमें कथानक पुराण तथा इतिहास से लिया जाता है। करुण रस की प्रधानता रहती है। वास्तव युद्ध का वर्णन नहीं रहता; केवल वाक् युद्ध ही दिखलाई पड़ता है। 'शर्मिष्ठाययाति' इस रूपक का उदाहरण है परन्तु यह अप्राप्य है। भास्कर कवि का 'उन्मत्त-राघव' अङ्क मिलता है पर इसके रचनाकाल का पता नहीं चलता। इसमें वर्णन विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अङ्क के समान है।

(८) ईहामृग—इसका वृत्त मिश्र होता है। इसमें चार अङ्क और तीन सन्धियाँ रहती हैं। कथानक में संघर्ष इतना होता है कि प्रतीत होता है कि तुमुल संग्राम हुए बिना न रहेगा। परन्तु फिर भी

वह युद्ध व्याज से रोक दिया जाता है। मृग के समान अलभ्य नायिका की अभिलाषा के कारण इसका नाम सार्थक दीख पड़ता है। 'वीरविजय' तथा 'रुक्मिणीहरण' का पता नहीं चलता। वत्सराज का 'रुक्मिणी-परिणय' इसका एकमात्र उपलब्ध उदाहरण है। तीन अङ्क के इस रूपक में कृष्ण के साथ शिशुपाल तथा रुक्मी के विशेष संघर्ष का तथा छल-पूर्वक युद्ध रोकने का वर्णन है।

वत्सराज के ये रूपक काव्य दृष्टि से नितान्त सुन्दर हैं। भाषा साफ-सुथरी है। श्लोक प्रसाद गुण से युक्त हैं। इसका निवेश रूपक के स्वरूप के अनुकूल ही है। 'रुक्मिणी-हरण' ईहामृग की यह नान्दी बड़ी ही सुन्दर है :—

दरमुकुललितनेत्रा स्मेरवक्त्राम्बुजश्री-
रुपगिरिपतिपुत्रि प्राप्तसान्द्रप्रमोदा।
मनसिजमयभावैर्भावितध्यानमुद्रा
वितरतु रुचितं वः शाम्भवी दम्भभङ्गिः॥

छाया नाटक

नाट्यग्रन्थों में रूपक में भेदों के 'छायानाटक' का निर्देश नहीं किया गया है, परन्तु वस्तुतः छाया नाटक की रचना होती रही है। छाया नाटक से अभिप्राय उन नाटकों से है जिनके पात्र वस्तुतः रंगमंच पर नहीं आते, बल्कि उनकी छाया ही पुतलियों के द्वारा परदे के ऊपर चलती-फिरती दिखायी पड़ती है। डा० पिशल के अनुसार छाया नाटक ही नाटक का सबसे प्राचीन तथा आदिम रूप है। सुभट कवि का 'दूताङ्गद' ही इसका सर्वप्रसिद्ध प्रतिनिधि है। यह नाटक अणहिलपट्टन के चालुक्य राजा त्रिभुवनपाल की सभा में कुमारपाल की यात्रा के अवसर पर १२४३ ई० में खेला गया था। इस प्रकार कवि का समय

१३ वीं शतक है। सोमेश्वर ने कीर्तिकौमुदी में सुभट की पर्याप्त प्रशंसा की है—

सुभटेन पदन्यासः स कोऽपि समितौ कृतः।
येनाऽधुनाऽपि धीराणां रोमाञ्चो नापचीयते॥

दूताङ्गद में रावण की सभा में अङ्गद के दौत्य का वर्णन है। कवि ने भवभूति तथा राजशेखर के प्रसिद्ध श्लोकों को भी इसमें स्थान-स्थान पर दिया है।

प्रतीक-नाटक

संस्कृत साहित्य में एक नये प्रकार के रूपक उपलब्ध होते हैं जिनमें श्रद्धा भक्ति आदि अमूर्त पदार्थों को नाटकीय बनाया गया है। कहीं तो केवल अमूर्त पदार्थों का ही मूर्त्त-कल्पना उपलब्ध होती है और कहीं पर मूर्त्त अमूर्त्त का मिश्रण है। साधारण नाटक के लक्षण से इनमें किसी प्रकार पार्थक्य नहीं मिलता। इसीलिए नाट्य के लक्षण-कर्ताओं ने इसका पृथक् वर्गीकरण नहीं किया है। यहाँ इस प्रकार के नाटकों को हमने 'प्रतीक-नाटक'[१] कहा है, क्योंकि इनके पात्र अमूर्त पदार्थों के प्रतीक-मात्र होते हैं; उनकी भौतिक जगत् में स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती।

अश्वघोष

इन नाटकों की उत्पत्ति कब हुई? इसका ठीक-ठीक उत्तर देना कठिन है। मध्य-एशिया से बौद्ध नाटकों के जो त्रुटित अंश मिले हैं उनमें एक प्रतीक नाटक के भी अंश हैं। जिस हस्तलिखित प्रति में अश्वघोष का 'शारी-पुत्र प्रकरण' उपलब्ध होता है उसीमें इस नाटक के भी अंश उपलब्ध हुए हैं। अतः निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये प्रसिद्ध

---

[१] Allegorical drama.

अश्वघोष की रचना है या नहीं। इस नाटक में बुद्धि, कीर्ति, धृति रङ्गमञ्च पर आती हैं और वार्तालाप करती हैं। इसके अनन्तर बुद्ध स्वयं मञ्च पर आते हैं। ग्रन्थ के त्रुटित होने से नहीं कहा जा सकता कि बुद्ध और इन प्रतीक पात्रों का सचमुच परस्पर वार्तालाप हुआ है या नहीं। जो कुछ भी हो, जान पड़ता है कि प्रतीक-नाटकों की प्राचीन परम्परा थी जो कालान्तर में किसी कारण से विच्छिन्न हो गयी थी। ११ वीं शताब्दी के मध्यभाग में कृष्णमिश्र ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नामक सुप्रसिद्ध नाटक लिखकर इस परम्परा को पुनरुज्जीवित किया।

कृष्णमिश्र

कृष्ण मिश्र की यह कृति संस्कृत-साहित्य में एक नवीन नाट्य-धारा की प्रवर्तिका है। पिछले नाटककारों ने इस शैली का अनुकरण कर अनेक सुन्दर प्रतीक नाटकों की रचना की है। वह नाटक जेजकभुक्ति के चन्देलवंशीय राजा कीर्तिवर्मा के समक्ष गोपाल की प्रेरणा से अभिनीत हुआ था। चेदि के राजा कर्ण ने (जो १०४२ ई० में जीवित थे) कीर्तिवर्मा को परास्त किया था। परन्तु सेनानी गोपाल ने अपने बाहु-बल से उन्हें परास्त कर कीर्तिवर्मा को पुनः राज्यासन पर स्थापित किया[1]। इनसे प्रतीत होता है कि गोपाल कीर्तिवर्मा के सेना-पति थे। नाटक का रचना-काल ग्यारहवीं सदी का मध्यभाग है।

इस रूपक में अद्वैत वेदान्त तथा विष्णुभक्ति का सम्मिलन बड़ी सुन्दरता से दिखलाया गया है। राजा मोह के पञ्जे में फँस जाने के कारण पुरुष अपने सच्चे स्वरूप के ज्ञान से भी वञ्चित हो जाता है। विवेक के

---

[1] गोपालो भूमिपालान् प्रसभमसिलतामात्रमित्रेण जित्वा।
साम्राज्ये कीर्तिवर्मा नरपतितिलको येन भूयोऽभ्यषेचि॥
—प्रबोधचन्द्रोय १।४

द्वारा जब मोह का पराजय होता है तभी पुरुष को शाश्वत ज्ञान उत्पन्न होता है। विवेक-पूर्वक उपनिषद् के अध्ययन करने तथा विष्णुभक्ति के आश्रय लेने से ही ज्ञानरूपी चन्द्रमा का उदय होता है। इस विषय का प्रतिपादन बड़ी ही युक्ति तथा सुन्दरता के साथ किया गया है। पात्रों में सजीवता है। द्वितीय अङ्क में दम्भ और अहङ्कार का वार्तालाप अतीव हास्योत्पादक है। इसी प्रकार का हास्यमिश्रित कौतूहल जैन, बौद्ध तथा सोम सिद्धान्त के परस्पर वार्तालाप के अवसर पर दर्शकों को होता है। कृष्णमिश्र उपनिषदों के रहस्यवेत्ता थे, यह कहना अनावश्यक है। कवित्व का चमत्कार इस नाटक में कम नहीं है। अद्वैत वेदान्त तथा वैष्णव धर्म का समन्वय इस नाटक की महती विशेषता है। आत्मकल्याण का मार्ग बताते समय सरस्वती का उपदेश कितना रमणीय है—

नित्यं स्मरञ्जलदनीलमुदारहार-
केयूरकुण्डलकिरीटधरं हरिं वा।
ग्रीष्मे सुशीतमिव वा ह्रदमस्तशोकं
ब्रह्म प्रविश्य भज निर्वृतिमात्मनीनाम्॥

प्रबोध चन्द्रोदय की प्रसिद्धि हिन्दी के प्राचीन कवियों में खूब थी। तुलसीदास ने अयोध्याकाण्ड में पञ्चवटी के वर्णन-प्रसङ्ग में जिस आध्यात्मिक रूपक की योजना की है उसमें इस नाटक के प्रसिद्ध पात्रों को भी अपनाया है। प्रसिद्ध कवि केशवदास ने (१६ वीं शतक) तो इसका छन्दोबद्ध अनुवाद ही 'विज्ञानगीता' के नाम से किया है।

यशः पाल

जैन कवियों ने पहले-पहल कृष्णमित्र के इस प्रतीक नाटक का अनुसरण अपने धर्म के प्रचार के लिए उपयोगी साधन समझ कर किया ऐसे नाटक का नाम 'मोहराजपराजय' है इसके रचयिता यशःपाल

कवि हैं जो मन्त्री धनदेव और रुक्मिणी देवी के पुत्र थे, जाति में मोढ़ बनिया थे तथा राजा अजयदेव चक्रवर्ती अभयदेव के कृपापात्र थे। ये अभयदेव प्रसिद्ध चालुक्यवंशी गुजरात-नरेश कुमारपाल के अनन्तर गुजरात के राजा थे जिन्होंने १२२९—१२३२ ई० तक राज्य किया। यह नाटक पहले पहल कुमारविहार में महावीर के उत्सव के समय अभिनीत हुआ।

'मोहराज पराजय' में पाँच अंक हैं। गुजरात के चालुक्यवंशी नरेश कुमारपाल का हेमचन्द्र के द्वारा जैनधर्मका ग्रहण करना, पशुओं की हिंसा का निषेध करना तथा हेमचन्द्र के उपदेशानुसार निःसन्तान मरने वालों की सम्पत्ति को राज्याधीन न करना आदि विषयों का वर्णन किया गया है। इसमें कुमारपाल, हेमचन्द्र तथा विदूषक तो मनुष्यपात्र हैं, शेष—पुण्यकेतु, विवेक, कृपासुन्दरी, व्यवसायसागर, आदि—पात्र शोभन या अशोभन गुणों के प्रतीक हैं। इस प्रकार इस नाटक में कल्पित और वास्तव पात्रों का परस्पर सम्मिलन तथा वार्तालाप दिखलाया गया है। गुणों की दृष्टि से नाटक कम महत्त्व का नहीं है। यह सरल सुबोध संस्कृत में लिखा गया है जिसमें लम्बे समासों तथा भड़कीले गद्य का प्रयोग जान-बूझकर नहीं किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह उपादेय है। कुमारपाल के समय में जैनधर्म के प्रचार के लिए जो व्यवस्था की गयी थी उसका प्रकृष्ट वर्णन इस नाटक में उपलब्ध होता है। समकालीन कृति होने से इसका प्रामाण्य माननीय है।

वेङ्कटनाथ

वेदान्तदेशिक का 'संकल्प सूर्योदय' नामक नाटक एक प्रसिद्ध प्रतीक नाटक है। ये अपने समय के विशिष्टाद्वैत मत के बड़े भारी प्रतिष्ठापक थे। इनका समय तेरहवीं शताब्दी है। संकल्प सूर्योदय का

विषय वही है—मोह का पराजय तथा विवेक का उदय । इनका कथन है कि शान्त रस ही चित्त के खेद को दूर करने वाला, वास्तव आनन्द देने वाला, एकमात्र रस है । श्रृङ्गार रस तो असभ्य कोटि में आता है । वीर रस भी एक दूसरे के तिरस्कार और अवहेलना को अग्रसर बनाता है । अद्भुत रस की गति स्वभावतः विरुद्ध है । अतः शान्तरस ही निःसन्दिग्ध वास्तव रस है —

असभ्यपरिपाटिकामधिकरोति श्रृंगारिता
परस्परतिरस्कृतिं परिचिनोति वीरायितम् ।
विरुद्धगतिरद्भुतस्तदलमल्पसारैः परैः
शमस्तु परिशिष्यते शमितचित्तखेदो रसः ॥

वेदान्तदेशिक प्रथम कोटि के पण्डित थे । अतः उनकी कविता में पाण्डित्य का महान् उत्कर्ष दिखलाई पड़ना स्वाभाविक है ।

कवि कर्णपूर

चैतन्यदेव के पार्षद शिवानन्दसेन के पुत्र परमानन्ददास का जन्म १५२४ में हुआ । चैतन्यदेव ने इन्हें 'कर्णपूर' की उपाधि प्रदान की । इनके लिखे हुए नव ग्रन्थों का पता चलता है जिसमें 'चैतन्यचन्द्रोदय' मुख्य है । इसकी रचना जगन्नाथ क्षेत्र के अधिपति गजपति प्रतापरुद्र की आज्ञा से १५७९ ई० में की गई । उस समय कवि की अवस्था ५५ वर्ष की थी । अतः यह कवि की प्रौढ़ अवस्था की रचना है । इसमें दस अंक हैं । महाप्रभु चैतन्यदेव के जीवनवृत्त को जानने के लिए यह नाटक बड़ा ही प्रामाणिक तथा उपादेय है । इसके पात्रों में मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पात्रों का सम्मिश्रण है । अमूर्त पात्रों में भक्ति, विराग, कलि, अधर्म आदि हैं । मूर्त पात्रों में चैतन्य तथा उनके प्रसिद्ध शिष्य हैं । चैतन्य के सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए भी इस नाटक का

अध्ययन आवश्यक है। भाषा सरल तथा सुबोध है। नाटक आदि से अन्त तक प्रसाद गुण से युक्त है (७।७)—

मनो यदि न निर्जितं किममुना तपस्यादिना
कथं स मनसो जयो यदि न चिन्त्यते माधवः।
किमस्य च विचिन्तनं यदि न हन्त चेतोद्रवः
स वा कथमहो भवेद्यदि न वासनाक्षालनम् ॥

आनन्दराय मखी

आनन्दराय मखी तंजोर के राजा शाहीराय शरभाजी के प्रधान मंत्री थे। इनका समय १८ वीं सदी का प्रथमार्ध है। ये बड़े भारी शैव तथा सरस्वती के उपासक थे। इनकी प्रसिद्धि 'वेद कवि' नाम से थी। पाण्डित्य के कारण राजदरबार में इनका बड़ा सम्मान था तथा अपने समय के दाक्षिणात्य कवियों के ये अग्रगण्य थे। इनके दो प्रतीक नाटक मिलते हैं:—(१) विद्यापरिणयन और (२) जीवानन्दन। विद्यापरिणयन में सात अङ्क हैं जिसमें अद्वैत वेदान्त के साथ शृङ्गाररस का मंजुल सामञ्जस्य दिखलाया गया है। शिवभक्ति के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है; यही दिखलाना नाटक का प्रधान उद्देश्य है। जैनमत, सोम सिद्धान्त, चार्वाक, सौगत आदि पात्रों का सन्निवेश ठीक प्रबोधचन्द्रोदय की शैली पर किया गया है। नाटक की भाषा सरल और सुबोध है। अभिनय के लिए नितान्त उपयुक्त है।

'जीवानन्दन' में भी सात अङ्क हैं। प्रायः गलगण्ड, पाण्डु, उन्माद, कुष्ठ, गुल्म, कर्णमूल आदि रोगों का चित्रण पात्ररूप से एक विचित्र वस्तु है। शारीरिक व्याधियों में राजयक्ष्मा ही सबसे बढ़कर है। इसके पाश में पड़े हुए जीव का छुटकारा पारद रस के ही प्रयोग से होता है। स्वस्थ शरीर होने पर ही चित्त स्वस्थ रहता है तथा स्वात्म-कल्याण के मार्ग में

संलग्न रह सकता है। इस तत्त्व का प्रतिपादन इस नाटक में किया गया है। कवि ने स्वयं इस पद्य में सूचना दी है (६।३२)—

> मन्त्रिन् जन्मैव दोषः प्रथममथ तदप्याधिभिः व्याधिभिश्चे—
> ज्जुष्टं कष्टं व्रतातः क्रिमधिकमपि तु त्वन्मतेवैं भवेन।
> देव्या भक्त्याः प्रसादात् परमशिवमहं वीक्ष्य कृच्छ्राणि तीर्णः
> सर्वाणि द्राक्कदत्यद्भुतमिह शुभदं संविधानं तवेदम्॥

प्रतीक रूप से लिखे गये नाटकों का यही संक्षिप्त परिचय है। इसी प्रकार के नाटक यूरोप के मध्ययुग में भी विद्यमान थे जिन्हें 'मारेलिटी' के नाम से पुकारते हैं। रंगमञ्च के ऊपर इन कल्पित पात्रों को लाना तथा उनके द्वारा दार्शनिक तथा धार्मिक तत्त्व दिखलाना इन नाटकों का प्रधान उद्देश्य है। यूरोप में विज्ञान-युग के प्रारम्भ होते ही ये धार्मिक नाटक नष्ट हो गये। परन्तु भारतवर्ष में ऐसे प्रतीक नाटकों की धारा अनेक शताब्दियों तक जनता का मनोरञ्जन तथा शिक्षण करती आई है।

चतुर्थ खण्ड

साहित्य-शास्त्र

१ साहित्यशास्त्र का उदय
२ साहित्य शास्त्र के आचार्य
३ विविध सम्प्रदाय

अपूर्वं यद् वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद् ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्-सारयति च ।
क्रमात् प्रख्योपाख्यप्रसरसुभगं भासयति यत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयताम् ।

—अभिनवगुप्ताचार्य

एकादश परिच्छेद

अलंकार शास्त्र

अलंकारशास्त्र आलोचकों की सूक्ष्म आलोचना-पद्धति का पर्याप्त सूचक है। यह शास्त्र वेदों से लेकर लौकिक ग्रन्थों के पूर्ण ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसी उपकारिता के कारण राजशेखर ने अलंकार शास्त्र को वेद का अङ्ग माना है[1]। उन्होंने साहित्य-विद्या को स्वतन्त्र विद्या ही नहीं माना है, प्रत्युत उसे प्रसिद्ध चार विद्याओं—तर्क, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति—का निचोड़ स्वीकार किया है[2]। अलंकारशास्त्र की महत्ता नितान्त व्यक्त है। कविता में शब्द तथा अर्थ का सौन्दर्य लाने तथा हृदयंगम बनाने में अलंकारशास्त्र की भूयसी उपयोगिता है।

नामकरण

इस शास्त्र का नाम है अलंकार शास्त्र। यह नाम उतना समुचित न होने पर भी बहुत ही प्राचीन है। भामह ने अपने अलंकार ग्रन्थ को 'काव्यालंकार' के नाम से पुकारा है। अतः प्राचीन नाम अलंकारशास्त्र है; इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। यह उस युग का अभिधान है जब काव्य में अलंकार की सत्ता सब से अधिक आवश्यक तथा उपादेय मानी जाती थी। अलंकार युग ही इस शास्त्र के इतिहास में सर्वप्रथम युग है

---

[1] उपकारकत्वादलंकारः सप्तममङ्गमिति यायावरीयः।
ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानादेवार्थानवगतिः॥

[2] पञ्चमो साहित्यविद्या इति यायावरीयः।
सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः॥ —काव्यमीमांसा

और इसी युग में यह नामकरण किया गया। राजशेखर ने इस शास्त्र को 'साहित्य विद्या' कहा है। यह नामकरण भामह के (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्) काव्य-लक्षण के आधार पर दिया गया है। काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ का समुचित सामञ्जस्य हो, साहित्य हो। साहित्य की यह कल्पना पिछले अलंकारिकों ने खूब अपनाया।

कुन्तक साहित्य की कल्पना को अग्रसर करने वालों में मुख्य हैं। भोजराज का 'श्रृङ्गार प्रकाश' साहित्य की कल्पना के ऊपर ही रचित हुआ है। साहित्य विद्या या साहित्य शास्त्र—यह नामकरण बड़ा सुन्दर तथा युक्तियुक्त है। परन्तु यह उतना प्रसिद्ध न हो सका। बहुत प्राचीन काल में इसका नाम 'क्रियाकल्प' था। वात्स्यायन ने (कामसूत्र १।३।१६) चौसठ कलाओं के अन्तर्गत 'क्रियाकल्प' को भी एक कला माना है। क्रिया का अर्थ है काव्यग्रन्थ और कल्प का अर्थ है विधान। इस प्रकार 'क्रियाकल्प' इस शास्त्र की प्राचीन संज्ञा है। परन्तु ये नाम प्रसिद्ध न पा सके। प्रसिद्ध नाम हुआ 'अलंकार शास्त्र' ही; परन्तु अलंकार की कल्पना बदलती गई। वामन की दृष्टि में अलंकार केवल शब्द और अर्थ की शोभा करने वाला बाह्य उपकरणमात्र नहीं है, प्रत्युत यह काव्य को रोचक बनाने वाला आन्तर धर्म है। वामन अलंकार को सौन्दर्य का पर्यायवाची मानते हैं (सौन्दर्यमलंकारः)। इस प्रकार अलंकारशास्त्र काव्य के सौन्दर्य को सम्पन्न करने वाले समस्त उपकरणों का प्रतिपादक शास्त्र है। 'अलंकार' शब्द का यही व्यापक अर्थ है।

प्राचीनता

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इस शास्त्र की उत्पत्ति की रोचक कथा लिखी है। उनके अनुसार भगवान् शंकर ने इस शास्त्र की शिक्षा पहले पहल ब्रह्माजी को दी जिन्होंने इसका उपदेश अनेक देवताओं तथा ऋषियों को किया। अठारह उपदेशकों ने अठारह अधिकरणों में इस

शास्त्र की रचना की। भरत ने रूपक-का निरूपण किया। नन्दिकेश्वर ने रस का, धिपण ने दोष का, उपमन्यु ने गुण का निरूपण किया। पता नहीं यह वर्णन काल्पनिक है या वास्तविक। काव्यादर्श की टीका हृदयंगमा का कथन है कि काश्यप और वररुचि ने काव्यादर्श के पहले अलंकार ग्रन्थ बनाये। श्रुतानुपालिनी टीका में काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दीस्वामी का नाम दण्डी से पूर्व आलंकारिकों में गिनाया गया है। परन्तु ये ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं होते। अग्निपुराण में अलंकारशास्त्र का विषय प्रतिपादित किया गया है, परन्तु इसकी प्राचीनता में विद्वानों को पर्याप्त सन्देह है। द्वितीय शतक के शिलालेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय अलंकारशास्त्र का उदय हो चुका था। रुद्रदामन् के शिलालेख की भाषा ही अलंकारपूर्ण नहीं है, बल्कि उसमें अलंकार शास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों का भी निर्देश है। काव्य के गद्य पद्य दो भेद थे। गद्य को स्फुट, मधुर, कान्त तथा उदार होना आवश्यक था। यहाँ काव्यादर्श में वर्णित प्रसाद, माधुर्य, कान्ति और उदारता गुणों का स्पष्ट निर्देश है। हरिषेण ने समुद्रगुप्त को 'प्रतिष्ठित कविराज-शब्द' लिखकर अलंकारशास्त्र की सत्ता की ओर संकेत किया है। यह शास्त्र इससे भी प्राचीन है। पाणिनि ने कुशाश्व तथा शिलालि के द्वारा निर्मित नटसूत्रों का नाम निर्देश किया है[1]। इनसे भी पहले यास्क ने उपमालंकार का विस्तृत वर्णन किया है। यास्क के पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य ने उपमा का बड़ा ही वैज्ञानिक लक्षण प्रस्तुत किया है (अर्थात् उपमा यद् अतत् तत् सदृशमिति गार्ग्यः)। निरुक्त ने उपमा के उदाहरण में ऋग्वेद के अनेक मंत्रों को उद्धृत किया है। भरत ने नाट्यशास्त्र के अनन्तर तो इस शास्त्र का अनुशीलन स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में बहु-

---

१—पराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षु नटसूत्रयोः।
कर्मन्द कृशाश्वादिनिः॥

लता से होता रहा। यहाँ इस शास्त्र का संक्षिप्त इतिहास तथा नाना अलंकार-संप्रदायों के सिद्धान्तों का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

२

शास्त्र के आचार्य

भरत-नाट्यशास्त्र

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में शिलालि तथा कृशाश्व के द्वारा रचित नटसूत्रों का उल्लेख किया है। नट-सूत्रों से अभिप्राय उन ग्रन्थों से है जिनमें रंगमंच पर नटों के खेलने, वस्त्रधारण करने तथा अन्य आवश्यक उपकरणों का विधान रहता है। पाणिनि के द्वारा निर्दिष्ट नटसूत्र आजकल उपलब्ध नहीं हैं। आजकल नाट्य तथा अलंकारविषयक उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ भरतचरित नाट्यशास्त्र है। इस ग्रन्थ को हम भारतीय ललित कलाओं का विश्वकोश कह सकते हैं; क्योंकि इस नाट्य की प्रधानता होने पर भी तदुपकारक अलंकार शास्त्र, संगीत शास्त्र, छन्दः शास्त्र आदि शास्त्रों के मूल सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन हम यहाँ पाते हैं। ग्रन्थ में ३६ अध्याय हैं तथा ५००० श्लोक हैं जो अधिकतर अनुष्टुप् ही हैं। केवल छठें, सातवें, तथा २८ वें अध्याय में कुछ अंश गद्यात्मक भी हैं। नाट्यशास्त्र एक ही काल की रचना नहीं हैं, प्रत्युत अनेक शताब्दियों के दीर्घ साहित्यिक प्रयास का सुन्दर फल है। नाट्य शास्त्र में तीन अंश विद्यमान हैं—(१) सूत्र-भाष्य = यह गद्यात्मक अंश ग्रन्थ का प्राचीनतम रूप है। मूल ग्रन्थ में सूत्र तथा भाष्य ही थे जिसमें विकास होने पर अन्य अंश संमिलित कर दिये गये। (२) कारिका; मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को विस्तार से समझाने के लिये इन कारिकाओं की रचना की गई। (३) अनुवंश्य श्लोक = गुरु शिष्य

परम्परा से आने वाले प्राचीन पद्य, जो आर्या अथवा अनुष्टुप् में निबद्ध हैं। अभिनवगुप्त की टीका के अनुसार ये पद्य भरतमुनि से भी प्राचीनतर आचार्यों के द्वारा रचित हैं[1]। अपने सूत्रों की पुष्टिमें भरत ने इन्हें इस ग्रन्थ में संग्रहीत किया है।

भरत-रससम्प्रदाय के आचार्य हैं। इनकी सम्मति में नाटक में रस की ही प्रधानता रहती है। अलंकारशास्त्र का विवेचन आनुषंगिक रूप से ६,७,१६ अध्यायों में किया गया है। इस ग्रंथ की रचना का निश्चित समय अभी तक अज्ञात है। परन्तु यह ग्रंथ कालिदास से प्राचीन ही है। कालिदास भरत को देवताओं के नाट्याचार्य के रूप में उल्लिखित करते हैं और नाटकों में आठ रसों के विकाश होने तथा अप्सराओं के द्वारा अभिनय किये जाने का निर्देश करते हैं[2]। कालिदास से प्राचीनतर होने से भरत मुनि का समय ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी से उतर कर नहीं हो सकता। मूल सूत्रों का समय तो और भी प्राचीन है।

भामह

भरत के अनन्तर अनेक शताब्दियाँ हमारे लिये अन्धकारणपूर्ण प्रतीत होती हैं, क्योंकि इस समय के आलंकारिकों के नाम तथा काम से हम बिलकुल अपरिचित हैं। भामह का काव्यालंकार ही भरत-पश्चात् युग का सर्वप्रथम मान्य ग्रंथ है जिसमें अलंकार शास्त्र नाट्यशास्त्र को

---

[1] ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः।
मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः।
—अभिनवभारती अध्याय ६

[2] मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
—विक्रमोर्वशी

परतन्त्रता से अपने को उन्मुक्त कर एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है। भामह के पूर्ववर्ती आचार्यों में मेधाविरुद्र का नाम निर्दिष्ट मिलता है परन्तु इनकी रचना अभीतक उपलब्ध नहीं हुई है। भामह का ग्रन्थ भी अभी हाल ही में उपलब्ध हुआ है। भामह के पिता का नाम था रक्रिल गोमी। ये काश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं। एक समय था जब दण्डी और भामह के काल-निर्णय के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद था। परन्तु अब तो प्रबलतर प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि भामह दण्डी के पूर्ववर्ती हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रत्यक्ष का लक्षण प्रसिद्ध बौद्धाचार्य दिङ्नाग के अनुसार दिया है, धर्मकीर्ति के अनुसार नहीं। इससे इनका समय इन दोनों आचार्यों के बीच षष्ठ का मध्यभाग मानना उचित होगा।

भामह के ग्रन्थ का नाम काव्यालङ्कार है। इसमें ६ परिच्छेद हैं। पहले परिच्छेद में काव्य के साधन, लक्षण तथा भेदों का वर्णन है। दूसरे तथा तीसरे में अलंकारों का विशिष्ट वर्णन है। चौथे परिच्छेद में भरत प्रदर्शित दश दोषों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है जिसमें न्याय-विरोधिदोष की मीमांसा पूरे पञ्चम परिच्छेद में की गई है। छठे परिच्छेद में कतिपय विवादास्पद पदों के शुद्धरूप का विवेचन किया गया है। इस प्रकार छः परिच्छेदों तथा चार सौ श्लोकों में अलंकारशास्त्र के समस्त महनीय तथ्यों का समावेश किया गया है। भामह के सिद्धान्त समस्त अलंकारिकों को मान्य हैं। इनके कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त हैं—(क) शब्द-अर्थ युगल का काव्य होना—शब्दार्थौ काव्यम् (ख) भरत-प्रतिपादित दश गुणों का ओज, माधुर्य तथा प्रसाद—इस गुणत्रय के भीतर ही समावेश। (ग) 'वक्रोक्ति' का समस्त अलंकारों का मूल होना जिसका चरम विकाश कुन्तक की वक्रोक्ति-जीवित में दीख पड़ता है (घ) दश-विध दोषों का सुन्दर विवेचन।

दण्डी

इनके जीवन चरित तथा समय का विवेचन गद्य काव्य के अवसर पर किया जा चुका है। इनका काव्यादर्श पण्डितों में सदा लोकप्रिय रहा है। इसी का अनुवाद कन्नडभाषा की प्राचीन पुस्तक 'कविराज-मार्ग' में, सिंघली ग्रन्थ 'सिय-वस-लकर' (स्वभाषालंकार) में तथा तिब्बती भाषा में उपलब्ध होता है। इससे इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि की पर्याप्त सूचना मिलती है। इस ग्रन्थ में चार परिच्छेद हैं तथा श्लोकों की संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण, विस्तृत भेद, वैदर्भी तथा गौडी रीति, दश-गुणों का विस्तार के साथ वर्णन है। दूसरे परिच्छेद में ३५ अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण सुन्दर रूप से दिये गये हैं। दण्डी ने उपमा अलंकार के अनेक प्रकार दिखलाये हैं। तीसरे परिच्छेद में शब्दालंकारों का विशेषतः यमक अलंकार का व्यापक वर्णन है। चतुर्थ परिच्छेद में दश-विध दोषों का लक्षण तथा उदाहरण है। दण्डी ने भामह के सिद्धान्त का खण्डन स्थान-स्थान पर किया है। ये अलंकार-संप्रदाय के अनुयायी थे, पर वैदर्भी और गौड़ी रीतियों के पारस्परिक भेद को प्रथम बार स्पष्टतः दिखलाने का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। इस प्रकार ये रीति सम्प्रदाय के भी मार्ग-दर्शक माने जा सकते हैं।

वामन

वामन के ग्रन्थ में रीति सम्प्रदाय का चरम उत्कर्ष दिखलाई पड़ता है। रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले महनीय आलंकारिक हैं—रीतिरात्मा काव्यस्य। इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार-सूत्र' है जिसमें इन्होंने अलंकार शास्त्र के समग्र सिद्धान्तों का विवेचन सूत्रों में किया है और इन सूत्रों के ऊपर स्वयं वृत्ति भी लिखी है। सूत्रों की

संख्या ३१९ है। ग्रन्थ में कुल पाँच परिच्छेद या अधिकरण हैं। प्रथम (शरीर) अधिकरण में काव्य के प्रयोजन, रीति तथा वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली रीतियों का वर्णन है। द्वितीय (दोष दर्शन) अधिकरण में पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोष प्रतिपादित हैं। तृतीय (गुण विवेचन) में दश गुणों के शब्दगत तथा अर्थगत होने से बीस भेद बतलाये गये हैं। चतुर्थ (आलंकारिक) में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का लक्षण तथा उदाहरण है। अन्तिम अधिकरण में कतिपय शब्दों की शुद्धि तथा प्रयोग की बात कही गई है। काव्यालंकार सूत्र के प्राचीन टीकाकार 'सहदेव' का कथन है कि वामन का यह ग्रन्थ किसी कारण से नष्ट हो गया था जिसका उद्धार मुकुलभट्ट ने दशम शतक के आरम्भ में किया।

वामन काश्मीर नरेश जयापीड़ के मंत्री थे :—

मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमाँस्तथा ।
वभूवुः कवयः तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः ॥

जयापीड का समय अष्टम का शतक अन्तिम भाग है। वामन का भी यही समय है। वामन रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं। रीति को काव्य की आत्मा जैसे सिद्धान्त को प्रतिपादन का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। इनके विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं :—(क) गुण और अलंकार का परस्पर विभेद (ख) वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली त्रिविध रीतियाँ (ग) वक्रोक्ति का विशिष्ट लक्षण (सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः) (घ) विशेषोक्ति का विचित्र लक्षण (ङ) आक्षेप की द्विविध कल्पना (च) समग्र अर्थालंकारों को उपमा-प्रपंच मानना।

उद्भट

ये वामन के समकालीन थे। जयपीड़ की सभा के ये सभापति थे। कल्हण पण्डित का तो कहना है कि इनका प्रतिदिन का वेतन एक

करोड़ दीनार (स्वर्णमुद्रा) था[1]। यदि यह बात बिलकुल सत्य हो तो उद्भट सचमुच बड़े भारी धनाढ्य और भाग्यशाली व्यक्ति होंगे। एक ही राजा के आश्रय में रहने पर भी वामन और उद्भट साहित्य के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धी प्रतीत होते हैं। वामन रीति-सम्प्रदाय के उन्नायक थे, तो उद्भट अलंकार सम्प्रदायके पृष्ठपोषक थे। दोनों ही अपने विषय के मौलिक सिद्धान्तों के आविष्कर्ता आराधनीय आचार्य हैं। इन्होंने भामह के ग्रन्थ पर 'भामह विवरण' नामक व्याख्याग्रन्थ लिखा था। इसका निर्देश लोचन आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है; परन्तु यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

उद्भट की कीर्ति 'काव्यालंकार सारसंग्रह' नामक ग्रन्थ के ऊपर ही अवलम्बित है। इस ग्रन्थ में छ वर्ग हैं जिनमें ७९ कारिकाओं के द्वारा ४१ अलंकारों का वर्णन है। ग्रन्थ का विषय अलंकार ही है। इसकी टीका मुकुलभट्ट के शिष्य प्रतिहारेन्दु-राज (९५० ई०) ने की है। भामह के समान अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायी होने पर भी ये भामह से अनेक सिद्धान्तों में भिन्नता रखते हैं। इसके कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—(क. अर्थभेद से शब्दभेद की कल्पना (अर्थभेदेन तावत् शब्दा भिद्यन्ते)। (ख) शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष भेद से श्लेष के दो प्रकार और दोनों का अर्थालंकार होना। इसका विशिष्ट खण्डन मम्मट ने नवम उल्लास में किया है। (ग) अन्य अलंकारों के योग में श्लेष की प्रबलता। (घ) वाक्य का तीन प्रकार से अभिधा व्यापार। (ङ, अर्थ की द्विविध कल्पना—विचारित-सुस्थ तथा अविचारित-रमणीय। (च) गुणों का संघटना का धर्म मानना।

---

[1] १—दीनारशतलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोभूत् उद्भटः तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥
—राजतरंगिणी ४।४९५

रुद्रट

ये काश्मीर के रहने वाले थे। राजशेखर (९०० ई० ने काव्यमीमांसा में इनके नाम का निर्देश 'काकु वक्रोक्ति' को शब्दालंकार मानने के अवसर पर किया है—काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयमिति रुद्रटः'। इससे स्पष्ट है कि ये ९०० ई० से प्राचीन हैं। इनका ग्रन्थ काव्यालंकार विषय की दृष्टि से अतीव व्यापक है और इसमें अलंकार शास्त्र के समस्त सिद्धान्तों की विस्तृत समीक्षा की गई है। काव्य के प्रयोजन, उद्देश्य तथा कवि-सामग्री के अनन्तर अलंकार का विस्तृत तथा सुव्यवस्थित वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। भाषा, रीति, रस तथा वृत्ति की मीमांसा होने पर भी अलंकारों की समीक्षा ही ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। पद्यों की संख्या ७३४ है। सब उदाहरण रुद्रट की निजी रचनायें हैं।

रुद्रट अलंकार-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। अलंकारों की व्यवस्था करना ग्रन्थ का उद्देश्य है। रुद्रट ने पहले पहल अलंकारों का वैज्ञानिक विभाग किया है। उन्हेंने अलंकारों के लिए चार मूल-तत्त्व खोज निकाला है:—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। भामह और उद्भट के द्वारा व्याख्यात अनेक अलंकारों को रुद्रट ने छोड़ दिया है और कहीं-कहीं उनके लिए नये नामों का निर्देश किया है। यथा रुद्रट का व्याजश्लेष (१०।११) भामह की 'व्याज-स्तुति' है। 'जाति' मम्मट की स्वाभावोक्ति है, 'पूर्व' अलंकार अतिशयोक्ति का चतुर्थ प्रकार है। कहीं कहीं इन्होंने नये अलंकारों की भी कल्पना की है। रसों का भी इन्होंने विस्तार के साथ वर्णन किया है; पर इनका आग्रह अलंकार ऊपर ही है।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन का नाम साहित्यशास्त्र के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखने योग्य है। इन्होंने ध्वन्यालोक लिखकर इस शास्त्र के सिद्धान्त

को सदा के लिए आलोकित कर दिया है। 'ध्वन्यालोक' नवीनयुग का उत्पादक ग्रन्थ है। अलंकारशास्त्र में इसका वही स्थान है जो वेदान्त में वेदान्त सूत्रों का है। इसके प्रत्येक पृष्ठ पर ग्रन्थकार की मौलिकता, सूक्ष्म विवेचन शक्ति, तथा गूढ़ विषय ग्राहिता का परिचय मिलता है। रसगंगाधर का कथन बिलकुल ठीक है कि ध्वनिकार ने साहित्यशास्त्र के मार्ग को परिष्कृत बना दिया है (ध्वनिकृताम् अलंकारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्)। आनन्दवर्धन काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५५–८८३ ई०) के सभापण्डित थे—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

ध्वन्यालोक में तीन अंश हैं—(१) कारिका = ११९ कारिकायें, (२) वृत्ति (कारिकाओं की गद्यात्मक विस्तृत व्याख्या); (३) उदाहरण। इनमें उदाहरण तो नाना प्राचीन ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं। प्रथम दो अंशों की रचना के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग आनन्द को वृत्तिकार ही मानते हैं। कारिकाकार उनसे पृथक् स्वीकार करते हैं। परन्तु वस्तुतः आनन्दवर्धन ने ही कारिका और वृत्ति दोनों की रचना की है। इस ग्रन्थ में चार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि-विरोधी मतों की समीक्षा है। दूसरे और तीसरे में ध्वनि के प्रकारों का विवेचन है। चतुर्थ में ध्वनि की उपयोगिता का वर्णन है। आनन्द के लिखने की शैली बड़ी ही प्रौढ़, विद्वत्तापूर्ण तथा रोचक है। ये कवि भी थे। इन्होंने 'अर्जुन चरित' 'विषमबाण लीला' तथा 'देवी शतक' जैसे सरस काव्यों की रचना भी की है। परन्तु आनन्द की विपुल कीर्ति ध्वन्यालोक के ऊपर ही अवलम्बित रहेगी। राजशेखर का कथन बिलकुल ठीक है :—

ध्वनिनातीगभीरेण काव्य-तत्त्वनिवेशिना ।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः ॥

आनन्दवर्धन की महती विशेषता ध्वनिविरोधियों के सिद्धान्तों का प्रबल खण्डन कर ध्वनि तथा व्यञ्जना की स्थापना है। इनके पहले ध्वनि के विषय में तीन मत थे—(क) अभाववाद (ख) भक्ति (लक्षणा) वाद (ग) अनिर्वचनीयता वाद। इन तीनों का मुँहतोड़ उत्तर देकर आनन्द ने व्यञ्जना की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की और ध्वनि के प्रकारों का पहली बार विवेचन किया। इस ग्रन्थ का प्रभाव अवान्तर ग्रन्थकारों के ऊपर बहुत पड़ा। ध्वनिसम्प्रदाय की उत्पत्ति यहीं से हुई।

अभिनवगुप्त

आनन्दवर्धन को एक बड़े ही विद्वान् टीकाकर उपलब्ध हुए जिन्होंने इनके सिद्धान्तों के मर्म को भलीभाँति समझा दिया। इनका नाम था आचार्य अभिनवगुप्त। ये भी काश्मीर के निवासी थे और लगभग दशवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। ये शैव दर्शन के माननीय आचार्य थे जिनका एक ही ग्रन्थ तन्त्रालोक तन्त्रशास्त्र का विश्वकोश है। साहित्य क्षेत्र में इनकी दो कृतियाँ हैं और ये दोनों ही टीकायें हैं। एक है लोचन ('ध्वन्यालोक की टीका और दूसरी है अभिनवभारती (जो भारतनाट्यशास्त्र का एकमात्र उपलब्ध व्याख्याग्रन्थ है।) टीका ग्रन्थ होने पर भी ये दोनों ग्रन्थ नितान्त मौलिक हैं। हम अभिनवगुप्त के अनेक रस-सिद्धान्तों के लिए ऋणी हैं। रस-विषयक जो इनकी समीक्षा है वह नितान्त वैज्ञानिक तथा युक्तियुक्त है। अभिनवभारती न होती तो नाट्यशास्त्र के तथ्यों का पता आज भली-भाँति नहीं चलता।

ध्वनिविरोधी आचार्य

इन दोनों माननीय आचार्यों के द्वारा ध्वनि की स्थापना होने पर भी इसके दो बड़े विरोधी आचार्यों ने नवीन ग्रन्थों की रचना की। दोनों प्रायः समकालीन ही थे। एक का नाम है कुन्तक तथा दूसरे का महिमभट्ट। दोनों काश्मीर के निवासी थे और दोनों ने एकादश शतक के आरम्भ में अपने ग्रन्थ बनाये। कुन्तक के ग्रन्थ का नाम है 'वक्रोक्ति जीवित'। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ अधूरा ही प्राप्त हुआ है, परन्तु इसके उपलब्ध अंशों से ही कुन्तक की मौलिकता तथा सूक्ष्म विवेचनशैली का पर्याप्त परिचय मिलता है। ग्रन्थ में चार उन्मेष हैं जिनमें वक्रोक्ति के विविध भेदों का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। वक्रोक्ति का अर्थ है 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' अर्थात् सर्वसाधारण के द्वारा प्रयुक्त वाक्यों से विलक्षण कहने का ढंग। इसी काव्य-तत्त्व के अन्तर्गत ध्वनि का भी समावेश किया गया है। वक्रोक्ति की मूल कल्पना भामह की है। परन्तु उसे व्यापक साहित्यिक तत्त्व के रूप में विकसित करना कुन्तक की निजी विशेषता है। वक्रोक्ति के भीतर ही समस्त साहित्य-तत्त्व को सम्मिलित कर कुन्तक ने जिस विदग्धता का परिचय दिया है उस पर साहित्य का मर्मज्ञ सदा रीझता रहेगा।

महिमभट्ट का ग्रंथ 'व्यक्तिविवेक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें तीन विमर्श हैं। ग्रंथ का मुख्य उद्देश्य ध्वनि को अनुमान का ही प्रकार बतलाना है। ध्वनि कोई पृथक् वस्तु नहीं है बल्कि अनुमान का ही भेद है। महिमभट्ट का यही सिद्धान्त है जिसे प्रतिपादित करने के लिए उन्होंने अपने उत्कट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। ग्रन्थ के प्रथम विमर्श में ध्वनि का लक्षण तथा उसका अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाया गया है। दूसरे विमर्श में अर्थ-विषयक अनौचित्य का विवेचन है। अन्तरंग अनौचित्य से अभिप्राय रस-दोष से है और बहिरंग अनौचित्य

पाँच प्रकार का है। मम्मट ने महिमभट्ट का खण्डन किया है। पर अनौचित्य-विषयक उनके समस्त सिद्धान्त को अपने दोष प्रकरण में भली भांति अपनाया है।

धनञ्जय—धनञ्जय भी रस की निष्पत्ति के विषय में भावकत्ववादी हैं। व्यञ्जनावाद के खण्डन करने के कारण ये भी ध्वनि-विरोधियों में अन्यतम हैं। धनञ्जय और इनके भाई धनिक दोनों धारा के विद्याप्रेमी विद्वान् राजा मुञ्ज (९७४–९४ ई०) के दरबारी पण्डित थे। इसी समय धनञ्जय ने 'दशरूपक' की रचना की, जिस पर धनिक ने 'अवलोक' नामक टीका मुञ्जराज के उत्तराधिकारी सिन्धुराज (ई० ९९४–१०१८) के शासनकाल में लिखी। इसके पहले इन्होंने 'काव्य-निर्णय' नामक अलंकार ग्रंथ की रचना की थी। दशरूपक नाट्य के आवश्यक सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रंथ है। इसमें चार प्रकाश हैं और लगभग ३०० कारिकायें हैं। प्रथम प्रकाश में वस्तु-निर्देश, द्वितीय में नायक-वर्णन, तृतीय में रूपक-भेद, चतुर्थ में रस-निरूपण है। रस-सिद्धान्त में इनका अपना विशिष्ट मत है जो भट्टनायक के मत से अधिक साम्य रखता हैं।

भोजराज—भोजराज (१०१८–५६ ई०) रचित दो विशालकाय अलंकार ग्रन्थ हैं—'सरस्वती-कण्ठाभरण' तथा 'श्रृङ्गार-प्रकाश'। ये दोनों ग्रंथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पहले में अलंकार, गुण, दोष का विस्तृत विवेचन है तो दूसरे में रस का निरूपण बड़े ही व्यापक तथा मार्मिक ढंग से किया गया है। भोजराज का मत है कि श्रृङ्गार रस ही सब रसों का मूलभूत आदिम प्रकृत रस है। अन्य रस इसी के विकारमात्र हैं। इस मत का निर्देश पिछले ग्रन्थकारों ने भलीभाँति किया है। रसों के वैज्ञानिक प्रकार प्रस्तुत करने में भोज ने अपनी सूक्ष्म विवेचनशक्ति दिखलाई है। सरस्वती-कण्ठाभरण तो बहुत दिनों से विद्वानों का कण्ठाभरण हो रहा है, परन्तु श्रृङ्गारप्रकाश आज भी प्रकाश में नहीं आया।

ध्वनिमार्ग के आचार्य

ध्वनिविरोधियों के मत का खण्डन आचार्य मम्मट ने इतने सुचारु रूप से किया कि उनके अनन्तर किसी को ध्वनि के विरोध करने का साहस न रहा। इसी कारण मम्मट को 'ध्वनि-प्रस्थापन-परमाचार्य' की उपाधि दी गई है। ये भी काश्मीर के ही निवासी थे। सुनते हैं कि 'महाभाष्य प्रदीप' रचयिता कैयट तथा वेदभाष्यकार उव्बट इनके अनुज थे। भोजराज की दानशीलता की इन्होंने प्रशंसा की है। अतः इनका समय एकादश शतक का उत्तरार्ध है। मम्मट बड़े भारी विद्वान् थे। ये बहुश्रुत वैयाकरण प्रतीत होते हैं। लेखन शैली सूत्रात्मक है। तभी तो इनका ग्रंथ 'काव्य प्रकाश' विपुल टीकाओं के होने पर भी यह आज भी वैसा ही दुर्गम बना हुआ है।

काव्य प्रकाश के तीन अंश हैं—कारिका (१४२ कारिकायें), वृत्ति (गद्यात्मक) तथा उदाहरण। कुछ कारिकायें भरत से भी ली गई हैं। कारिकायें भरत मुनि के द्वारा निर्मित हैं, यह प्रवादमात्र है। मम्मट ही दोनों (कारिका तथा वृत्ति) के रचयिता हैं। इनमें दस उल्लास हैं जिनमें क्रमशः काव्य स्वरूप, वृत्ति विचार, ध्वनि-भेद, गुणीभूत-व्यङ्ग्य, चित्र-काव्य, दोष, गुण, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का विवेचन है। यह ग्रंथ नितान्त प्रौढ़, सारगर्भित तथा पाण्डित्य-पूर्ण है। ध्वनिमार्ग का इससे सुन्दर विवेचन अन्यत्र नहीं। इसके ऊपर टीका लिखना पाण्डित्य की कसौटी समझा जाता था। इसीलिये विश्वनाथ कविराज जैसे मौलिक ग्रन्थों के रचयिता विद्वानों ने भी इस पर व्याख्या लिखना परम प्रतिष्ठा माना है। दशम उल्लास के परिकर अलंकार तक ग्रन्थ मम्मट की रचना है। अगला भाग अल्लट नामक किसी काश्मीरी विद्वान् ने लिखकर ग्रन्थ पूरा किया है।

क्षेमेन्द्र—मम्मट के समकालीन आलंकारिक क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों में हमें

अनेक मौलिक सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। ये भी काश्मीर के ही निवासी थे और मम्मट के समान ही एकादश शतक के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। महाकवि होने के नाते इनका विस्तृत वर्णन महाकाव्य के प्रसंग में किया जा चुका है। इनका 'सुवृत्त तिलक' छन्दःशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है जिसमें छन्द-विषयक अनेक मौलिक बातें प्रस्तुत की गई हैं। 'कविकण्ठाभरण' में काव्य के बाह्य साधनों की विशिष्ट चर्चा है, परन्तु इनकी सब से मौलिक कृति है—'औचित्यविचारचर्चा' जिसमें औचित्य के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की विस्तृत समीक्षा की गई है। औचित्य रस का प्राणभूत है। वह अनेक प्रकार का है। औचित्य का सम्बन्ध पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारण, लिङ्ग आदि के साथ भलीभाँति दिखलाकर क्षेमेन्द्र ने औचित्य की महत्ता अच्छे ढंग से दिखलाई है।

रुय्यक—ये भी काश्मीर के निवासी थे। ये काश्मीर के राजा जयसिंह (११२८-४९ ई०) के सान्धिविग्रहिक महाकवि मंखक के गुरु थे इसलिये इनका समय बारहवीं शताब्दी का मध्यभाग है। उनकी प्रसिद्ध रचना 'अलंकार-सर्वस्व' है जिसमें ७५ अर्थालंकारों तथा ६ शब्दालंकारों का पाण्डित्यपूर्ण वर्णन है। इनकी समीक्षा मम्मट की समीक्षा से कहीं अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। इसके ऊपर जयरथ तथा समुद्रबन्ध की पाण्डित्यपूर्ण टीकायें हैं।

हेमचन्द्र—(१०८८-११७२ ई०) इन्होंने अलंकार के ऊपर भी ग्रन्थ लिखा है जिसका नाम है 'काव्यानुशासन'। इसके ऊपर इन्होंने वृत्ति लिखी है। इसमें आठ परिच्छेद हैं जिसमें अलंकार के तथ्यों का विस्तृत विवेचन है। ग्रन्थ में मौलिकता बहुत ही कम है। प्राचीनग्रन्थों से संकलन ही अधिक है।

विश्वनाथ कविराज—ये उत्कल के राजा के सान्धिविग्रहिक थे। [illegible] ल पाण्डित्य के लिये नितान्त प्रसिद्ध था। इनके पिता चन्द्र[illegible] रचित 'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव' उपलब्ध हैं। इनके पितामह

के कनिष्ठ भ्राता चण्डीदास ने काव्यप्रकाश पर दीपिका नामक विख्यात टीका लिखी है । इन्होंने गीतगोविन्द तथा नैषध से श्लोक उद्धृत किये हैं । देहली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी को एक श्लोक में निर्दिष्ट किया है[1] । अलाउद्दीन की मृत्यु १३१६ ई० में हुई । अतः इनका समय १४ वीं शतक का मध्यभाग मानना (१३००–१३५० ई०) उचित है । इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है—'साहित्य-दर्पण' जिसमें दश परिच्छेदों में काव्य तथा नाट्य दोनों का विवेचन बड़े ही सरस तथा सरल ढंग से किया है । यह ग्रन्थ काव्यप्रकाश की शैली पर लिखा गया है, परन्तु उतनी प्रौढ़ता इन ग्रन्थों में नहीं है । विश्वनाथ आलंकारिक की अपेक्षा कवि अधिक थे । यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है और अलंकार शास्त्र के मूल सिद्धान्तों के जिज्ञासु छात्रों के लिये नितान्त उपयोगी है ।

पण्डितराज जगन्नाथ—इनके जीवनचरित का परिचय गीतिकाव्य के प्रसंग में पहले दिया जा चुका है । इनका 'रस गंगाधर' साहित्य शास्त्र का मर्मप्रकाशक ग्रन्थ है । पण्डितराज जिस प्रकार प्रतिभाशाली कवि थे उसी प्रकार अलौकिक शेमुषी-सम्पन्न पण्डित भी थे । ग्रन्थ तो केवल अधूरा ही है, परन्तु इन्होंने जो कुछ लिखा है उसे सोच-विचार कर पाण्डित्य की कसौटी पर कस कर लिखा है । उदाहरण भी इन्होंने नये-नये जमाये है । रस-निरूपण के अवसर पर इन्होंने नवीन समीक्षायें की हैं । सब प्रकार से यह ग्रन्थ उपादेय है । शैली प्रौढ़ तथा विचार मौलिक हैं ।

अब तक प्रमुख आलंकारिकों का सामान्य परिचय दिया गया है । इतर आलंकारिकों का निर्देशमात्र अब किया जा रहा है । (क) राजशेखर (९१० ई०)—इनकी 'काव्यमीमांसा' में कवि-शिक्षा का ही विषय

---

[1] १—सन्धौ सर्वस्व हरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः ।
अलाव्रदीन-नृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः ॥ —४।१४

प्रधान है। (ख) मुकुलभट्ट (९२० ई०)—इनकी 'अभिधावृत्ति मातृका' में अभिधा और लक्षणा की विस्तृत समीक्षा है। इसका खण्डन काव्य-प्रकाश में यत्र तत्र किया गया है। (ग) वाग्भट्ट (१२ शतक का पूर्वार्ध)—इसका वाग्भटालंकार' अलंकार का ग्रन्थ है जिसमें दोष, गुण, वृत्ति, रस तथा अलंकारों का सरल विवेचन है। (घ) रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र की सम्मिलित रचना 'नाट्य दर्पण' है जिसमें नाटक के अंगों का उपादेय वर्णन है। (ङ) शारदातनय (१३ शतक) का 'भावप्रकाशन' नाट्यशास्त्र का ही ग्रन्थ है। इसके दश अधिकरणों में रस तथा भाव का बड़ा ही रोचक तथा पूर्ण वर्णन है। 'जयदेव' का चन्द्रालोक, 'विद्याधर' की एकावली, 'विद्यानाथ' का प्रताप रुद्रयशोभूषण, 'कवि कर्णपूर' का अलंकार कौस्तुभ, 'अप्पय दीक्षित' का कुवलयानन्द अलंकार शास्त्र के अन्य माननीय ग्रन्थ हैं। इस प्रकार अलंकार शास्त्र के विषय में ग्रन्थ लिखने की प्रवृत्ति ईस्वी के आरम्भ से लेकर १८ वें शतक तक किसी न किसी रूप में जागरूक रही है।

३

अलंकारशास्त्र के सम्प्रदाय

अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों के अनुशीलन से जान पड़ता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। आलंकारिकों के सामने प्रधान विषय काव्य की आत्मा का विवेचन था। वह कौन वस्तु है जिसकी सत्ता रहने पर काव्य में काव्यत्व विद्यमान रहता है ? इस प्रश्न के उत्तर देने में नाना सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। कुछ लोग अलंकार को ही काव्य का प्राणभूत मानते हैं, कुछ गुण या रीति को, कुछ लोग ध्वनि को। इस प्रकार काव्य की आत्मा की समीक्षा में भेद होने के कारण भिन्न-भिन्न शताब्दियों में नवीन नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गई। अलंकार-

सर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन सम्प्रदायों के उदय की जा बात लिखी है वह बहुत ही युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से आ सकती है:—(१) धर्म से, (२) व्यापार से, (३) व्यङ्ग्य से। धर्ममूलक वैशिष्ट्य दो प्रकार का है नित्य और अनित्य। अनित्य धर्म से अभिप्राय अलंकार से और नित्यधर्म का तात्पर्य गुण से है। इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्ट्य के प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए:—(१) अलंकार सम्प्रदाय (२) गुण या रीति सम्प्रदाय। व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है—वक्रोक्ति तथा भोजकत्व। वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार मानने वाले आचार्य कुन्तक हैं। अतः उनका मत वक्रोक्ति सम्प्रदाय नाम से प्रसिद्ध है। भोजकत्व व्यापार की कल्पना भट्टनायक ने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर भरत के रस-मत के भीतर ही इसे अन्तर्भूक्त करना चाहिए क्योंकि भट्टनायक ने विभाव, अनुभाव, सञ्चारीभाव से रस की निष्पत्ति समझाने के लिए अपने इस नवीन व्यापार की कल्पना की। व्यंग्य मुख से वैशिष्ट्य मानने वाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है। समुद्रबन्ध के शब्दों में ही उनका मौलिक मत इस प्रकार उपन्यस्त है:—

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापारमुखेन व्यंग्य-मुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेन।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के विरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है अभाववादिन्, भक्तिवादिन् तथा अनिर्वचनीयतावादिन्। अभाववादियों

में भी तीन छोटे-छोटे सम्प्रदाय हैं। कुछ तो गुण, अलंकार आदि को काव्य का एकमात्र उपकरण मान कर ध्वनि की सत्ता को बिलकुल तिरस्कृत करते हैं। परन्तु कुछ लोग अलंकार के भीतर ही ध्वनि का भी समावेश करते हैं। भक्तिवादी लक्षणा के द्वारा ध्वनि की कार्यसिद्धि मानते हैं। अनिर्वचनीयवादी ध्वनि के स्वरूप को शब्द से अगोचर बतला कर ध्वनि को अनिर्वचनीय बतलाता है। आनन्दवर्धन ने इन तीनों मतों का पर्याप्त खण्डन कर ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की है। मतों का पृथक् वर्णन न देकर हम अलंकार शास्त्र के प्रसिद्ध सम्प्रदायों का संक्षिप्त वर्णन यहां प्रस्तुत करते हैं।

अलंकारशास्त्र के सम्प्रदाय मुख्यतः छ हैं :—

(१) रस सम्प्रदाय—भरतमुनि।
(२) अलंकार सम्प्रदाय—भामह, उद्भट तथा रुद्रट।
(३) गुण सम्प्रदाय—दण्डी तथा वामन।
(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय—कुन्तक।
(५) ध्वनि सम्प्रदाय—आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त।
(६) औचित्य सम्प्रदाय—क्षेमेन्द्र।

१ रस सम्प्रदाय

राजशेखर के कथनानुसार नन्दिकेश्वर ने ब्रह्मा जी के उपदेश से सर्वप्रथम रस का निरूपण किया, परन्तु नन्दकेश्वर के रसविषयक मत का पता नहीं चलता। उपलब्ध रस-सिद्धान्त भरतमुनि के साथ संबद्ध है। भरत के रस-सम्प्रदाय के प्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं। नाट्यशास्त्र के षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में रस और भाव का जो निरूपण प्रस्तुत किया गया है वह साहित्य संसार में एक अपूर्व वस्तु है। भरत के समय में नाट्य का ही बोलबाला था। इसलिये भरते ने नाट्यरस का

ही विस्तृत व्यापक तथा मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। रस सम्प्रदाय का मूलभूत सूत्र है—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः'। अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र जितना छोटा है विचार करने में यह उतना सार-गर्भित है। भरत ने इसका जो भाष्य लिखा है वह बड़ा ही सुगम है। भरत के टीकाकारों ने इस सूत्र की भिन्न भिन्न व्याख्यायें की है जिनमें चार मत प्रधान हैं। इन टीकाकारों के नाम हैं—भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त। भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादी हैं। वे रस को विभावादि का कार्य मानते हैं। शंकुक विभावादिकों के द्वारा रस की अनुमिति मानते हैं। उनकी सम्मति में विभावादिकों से तथा रस से अनुमापक-अनुमाप्य सम्बन्ध है। भट्टनायक भुक्तिवादी हैं। उनकी सम्मति में विभावादि का रस से भोज्य-भोजक सम्बन्ध है जिसे सिद्ध करने के लिये इन्होंने अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो व्यापारों को भी स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त व्यक्तिवादि हैं। उन्हीं का मत अधिक मनोवैज्ञानिक है और इसलिये उनका मत समस्त आलंकारिकों के आदर तथा श्रद्धा का पात्र है। समग्र स्थायीभाव वासनारूप से सहृदयों के हृदय विद्यमान रहते हैं। विभावादिकों के द्वारा ये ही सुप्त स्थायीभाव अभिव्यक्त होकर आनन्दमय रस का रूप प्राप्त कर लेते हैं।

रस की संख्या के विषय में अलंकारिकों में मतभेद दीख पड़ता है। भरत ने आठ रस माने हैं (१) शृंगार (२) हास्य (३) करुण (४) रौद्र (५) वीर (६) भयानक (७) बीभत्स (८) अद्भुत। शान्तरस के विषय में बड़ा विवाद है। भरत तथा धनञ्जय ने नाटक में शान्तरस की स्थिति अस्वीकार की है (शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। दशरूपक ४।३५) नाटक अभिनय के द्वारा ही प्रदर्शित किया जाता है और शान्तरस सब कार्यों का विरामरूप है।

ऐसी दशा में शान्त का प्रयोग नाटक में हो नहीं सकता। काव्यादिकों में उसकी सत्ता अवश्य विद्यमान रहती है। आनन्दवर्धन के अनुसार महाभारत का मूल रस शान्त ही है। रुद्रट ने 'प्रेयान्' को भी रस माना है। विश्वनाथ 'वात्सल्य' को रस मानने के पक्षपाती हैं। गौडीय वैष्णवों की सम्मति में 'मधुर रस' सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रथम रस है। साहित्य में रस-मत की महत्ता है। लौकिक संस्कृत का प्रथम श्लोक—जो क्रौंच-वध से मर्माहत होकर महर्षि वाल्मीकि को स्फुरित हुआ—रसमय ही था। इस रस को सब सम्प्रदायों ने अपनाया है परन्तु अपने मतानुसार इसे ऊँचा नीचा स्थान दिया है।

२ अलंकार सम्प्रदाय

अलंकार मत के प्रधान प्रवर्तक आचार्य भामह हैं तथा इसके पोषक हैं भामह के टीकाकार उद्भट तथा रुद्रट। दण्डी को भी अलंकार की प्रधानता किसी न किसी रूप में स्वीकृत थी। इस सम्प्रदाय के अनुसार अलंकार ही काव्य का जीवातु है। जिस प्रकार अग्नि को उष्णता-रहित मानना उपहास्यास्पद है, उसी प्रकार काव्य को अलंकारहीन मानना अस्वाभाविक है[१]। अलंकारों का विकास धीरे धीरे ही होता आया है। भरत के नाट्यशास्त्र में तो चार ही अलंकारों का नाम निर्देश मिलता है—अनुप्रास, उपमा रूपक और दीपक। मूल अलंकार ये ही हैं जिनमें एक तो है शब्दालंकार और तीन हैं अर्थालंकार। इन्हीं चार अलंकारों का विकास होकर कुवलयानन्द में १२५ अलंकार माने गये हैं। अलंकारों के इस विकास के लिए अलग अनुशीलन की आवश्यकता हैं। अलंकारों के स्वरूप में भी अन्तर पड़ता गया। भामह की जो वक्रोक्ति है वह

१—अङ्गीकरोति यःकाव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥ चन्द्रालोक १।८

वामन में नये परिवर्तित रूप में दीख पड़ती है। अलंकारों के विभाग के लिए कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये गये हैं। रुद्रट ने पहले पहल यह संकेत किया और औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष को अलंकारों का मूल माना। इस विषय में एकावलीकार विद्याधर का निरूपण बड़ा युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है। उन्होंने औपम्य, विरोध, तर्क आदि को अलंकार का मूल विभेदक मानकर इस विषय की बड़ी सुन्दर समीक्षा की है।

अलंकार मत को मानने वाले आचार्यों को रस का तत्त्व अज्ञात न था। परन्तु उन्होंने इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर अलंकार का ही प्रकार माना। रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित इन चारों अलंकारों के भीतर रस और भाव का समग्र विषय भामह के द्वारा अन्तर्निविष्ट किया गया है। दण्डी भी 'रसवत्' अलंकार से परिचित हैं। उन्होंने आठ रस और आठ स्थायीभावों का निर्देश किया है। इस प्रकार अलंकार मत के ये आचार्य रसतत्व को भलीभांति जानते हैं पर उसे अलंकार का ही एक प्रकार मानते हैं। वे प्रतीयमान अर्थ से भी परिचित हैं जिसे उन्होंने समासोक्ति, आक्षेप आदि अलंकारों के भीतर माना है। अलंकारों के विशिष्ट अनुशीलन तथा व्याख्या करने से वक्रोक्ति तथा ध्वनि की कल्पना प्रादुर्भूत हुई। इस प्रकार इस शास्त्र के इतिहास में अलंकार मत की बड़ी विशेषता है।

२ रीति सम्प्रदाय

रीतिमत के प्रधान प्रतिपादक आचार्य वामन हैं। उनके मत में रीति ही काव्य की आत्मा है। रीति क्या है? पदों की विशिष्ट रचना ही है। रचना में यह विशिष्टता गुणों के कारण से उत्पन्न होती है। अतः रीति गुणों के ऊपर अवलम्बित रहती है। इसलिए रीतिमत गुण सम्प्रदाय के नाम से पुकारा जाता है। वैदर्भी और गौड़ी रीतियों के

विभेद को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित का श्रेय आचार्य दण्डी को है। गुण, अलङ्कार के भेद को वामन ने पहली बार स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। वामन ने गुणों को शब्दगत तथा अर्थगत मानकर उनकी संख्या द्विगुणित कर दी है। दश गुणों का नामनिर्देश तो भरत के नाट्यशास्त्र में ही किया गया है। उनके ये नाम हैं:—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, कान्ति। दण्डी ने भी इनका निर्देश किया है जिन्हें वे वैदर्भ मार्ग का प्राण बतलाते हैं। वामन ने भी वैदर्भी रीति के लिए इन दश गुणों की आवश्यकता स्वीकार की है। गौड़ी के लिए ओज और कान्ति की, पान्चाली के लिए माधुर्य तथा प्रसाद की सत्ता रहना आवश्यक बतलाया है।

रीति-सम्प्रदाय ने अलङ्कार और गुण का भेद स्पष्ट कर साहित्य का बड़ा उपकार किया है। वामन का कथन है कि काव्य-शोभा के करने वाले धर्म 'गुण' हैं और अतिशय करने वाले धर्म 'अलङ्कार' हैं। (काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशय हेतवोऽलंकाराः)। अलङ्कार सम्प्रदाय की अपेक्षा इस सम्प्रदाय की आलोचना दृष्टि गहरी तथा पैनी दीख पड़ती है। भामह आदि ने तो रस को अलङ्कार मानकर उसे काव्य का बहिरंग साधन ही स्वीकार किया है, परन्तु वामन ने कान्ति गुण के भीतर रस का अन्तर्निर्देश कर काव्य में रस की महत्ता पर विशेष जोर दिया है। उन्होंने वक्रोक्ति के भीतर ध्वनि का अन्तर्भाव किया है। इस प्रकार रीति सम्प्रदाय का विवेचन कहीं अधिक हृदयंगम तथा व्यापक है।

४ वक्रोक्ति सम्प्रदाय

वक्रोक्ति को काव्य का जीवन सिद्ध करने का श्रेय आचार्य कुन्तक को ही है। उन्होंने इसीलिए अपने ग्रन्थ का नाम ही 'वक्रोक्ति जीवित' रखा है। 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ है—वक्र उक्ति अर्थात् सर्वसाधारण

लोगों के कथन से भिन्न, अलौकिक चमत्कार से युक्त, कथन। कुन्तक के शब्दों में वक्रोक्ति 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' है। साधारण जन अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए साधारण ढंग से ही शब्दों का प्रयोग किया करते हैं, परन्तु उससे पृथक् चमत्कारी कथन का प्रकार 'वक्रोक्ति' के नाम से अभिहित होता है[1]। वक्रोक्ति की इस कल्पना के लिए कुन्तक भामह के ऋणी हैं। भामह अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति के नाम से पुकारते हैं और उसे अलङ्कारों का जीवनाधायक मानते हैं। उनका कथन स्पष्ट है—

> सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
> यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

भामह की सम्मति में वक्र अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग काव्य में अलङ्कार उत्पन्न करता है—वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते (५।६६) हेतु को अलङ्कार न मानने का कारण वक्रोक्तिशून्यता ही है (२।८६)। भामह की इस कल्पना को पिछले अलङ्कारिकों ने स्वीकृत किया। लोचन ने भामह (१।३६) को उद्धृत कर स्पष्ट लिखा है—शब्द और अर्थ की वक्रता लोकोत्तर रूप से उनकी अवस्थिति है (शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्—पृ० २०८)। दण्डी ने भी वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति रूप से वाङ्मय को दो प्रकार का माना है तथा वक्रोक्ति में श्लेष के द्वारा सौन्दर्य-उत्पत्ति की बात लिखी है[2]। कुन्तक ने इसी कल्पना को अपना कर वक्रोक्ति

---

[1] —वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।
वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा
वैदग्ध्यं कविकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः। —वक्रोक्ति-जीवित १।११

[2] —श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥ काव्यादर्श २।३६३

को काव्य का जीवित बनाया है। निःसन्देह वे बड़े भारी मौलिक विचारों के आचार्य हैं।

कुन्तक ध्वनिमत से खूब परिचित हैं। ध्वन्यालोक के पद्यों का भी उन्होंने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है, परन्तु उनकी वक्रोक्ति की कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है कि उसके भीतर ध्वनि का समस्त प्रपञ्च सिमट कर विराजने लगता है। वक्रोक्ति पाँच प्रकार की मुख्य रूप से है—(१) वर्णवक्रता, (२) पदवक्रता, (३) वाक्य-वक्रता, (४) अर्थवक्रता, (५) प्रबन्धवक्रता। उपचार-वक्रता के भीतर ध्वनि के प्रचुर भेदों का समावेश किया गया है। कुन्तक की विश्लेषण तथा विवेचनशक्ति बड़ी मार्मिक है। उनका यह ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के मौलिक विचारों का भण्डार है। दुःख है कि उनके पीछे किसी आचार्य ने इस भावना को और अग्रसर नहीं किया। वे लोग तो रुद्रट के द्वारा प्रदर्शित प्रकार को अपनाकर वक्रोक्ति को एक सामान्य शब्दालंकारमात्र ही मानने लगे। इस प्रकार 'वक्रोक्ति' की महनीय भावना को बीजरूप में सूचित करने का श्रेय आचार्य भामह को है और उस बीज को पूर्णरूप से अंकुरित तथा पल्लवित करने का सम्मान कुन्तक को है।

५ ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनिमत रस-मत का विस्तृतीकरण है। रस सिद्धान्त का अध्ययन मुख्यतः नाटक के सम्बन्ध में ही पहिले पहल किया गया। यह 'रस' कभी वाच्य नहीं होता, प्रत्युत व्यंग्य ही हुआ करता है। इस विचार-धारा को अग्रसर कर आनन्दवर्धन ने व्यंग्य को ही काव्य में प्रधान माना है। 'ध्वनि' शब्द के लिए आलंकारिक वैयाकरणों का ऋणी है। वैयाकरण स्फोटरूप मुख्य अर्थ को अभिव्यक्ति करने वाले शब्द के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग करता है। आलंकारिकों ने इसी साम्य पर ध्वनि शब्द को ग्रहण कर इसका अर्थ विस्तृत तथा व्यापक बना दिया है। इस मत

के आद्य आचार्य आनन्दवर्धन ने युक्तियों के सहारे व्यंग्य की सत्ता वाच्य से पृथक् सिद्ध की है और मम्मट ने तो इसकी बड़ी ही शास्त्रीय व्यवस्था कर दी है। आनन्द के पहले ध्वनि के विषय में तीन मत थे—अभाववादी, भक्तिवादी, अनिर्वचनीयवादी। इनका समुचित खण्डन आनन्द की बुद्धि का चमत्कार है। ध्वनि के तीन मुख्य भेद हैं—रस, वस्तु तथा अलंकार और इनके भी अनेक प्रकार हैं।

अलंकार के इतिहास में 'ध्वनि' की कल्पना बड़ी सूक्ष्म बुद्धि की परिचायिका है। ध्वनि के चमत्कार को पाश्चात्य आलंकारिक भी मानते हैं। महाकवि ड्राइडन की उक्ति—more is meant than meets the ear—ध्वनि की ही प्रकारान्तर से सूचना है। ध्वनिवादी सिद्धांतों के व्यवस्थापक दीख पड़ते हैं क्योंकि उन्होंने अपनी पद्धति के अनुसार गुण, दोष, रस, रीति आदि समस्त काव्यतत्वों की सुन्दर संतुलित व्यवस्था कर दी है।

६ औचित्य सम्प्रदाय

'औचित्य' की भावना रस ध्वनि आदि समस्त काव्यतत्त्वों की मूल भावना है। समस्त प्राचीन आलंकारिकों ने 'औचित्य' की रक्षा करने की ओर अपने ग्रन्थों में संकेत किया है। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार चर्चा' लिखकर इस काव्यतत्त्व का व्यापक रूप स्पष्ट दिखलाया है। उनका यह कथन ठीक है कि 'औचित्य ही रस का जीवन भूत है' प्राण है[१]। जो जिसके सदृश हो, जिससे मेल मिले उसे 'उचित' कहते हैं और उचित का ही भाव 'औचित्य' है[२]। इस औचित्य' को पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक

---

[१]—औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥ (का० ३)

[२] —उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥ (का० ७)

लिंग, वचन आदि अनेक स्थलों पर दिखला कर तथा इसके अभाव को अन्यत्र दिखलाकर क्षेमेन्द्र ने साहित्य रसिकों का महान् उपकार किया है। परन्तु इस तत्त्व की उद्भावना क्षेमेन्द्र से ही मानना भयङ्कर ऐतिहासिक भूल होगी। औचित्य का मूलतत्त्व आनन्द ने ही उद्घाटित किया है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥

अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का दूसरा कारण नहीं है। रस का परम रहस्य—परा उपनिषद्—यही है औचित्य से उसका निबन्धन। परन्तु आनन्दवर्धन से बहुत पहले यह काव्य का मूलतत्त्व माना गया था। भरत ने अपने पात्रों के लिए देश और अवस्था के अनुरूप वेषविन्यास की व्यवस्था कर इसी तत्त्व पर जोर दिया है—

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति ।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ॥

नाट्यशास्त्र २३।६९

पिछले आलंकारिकों ने भी इस तत्त्व की महत्ता मानी है। इन्हीं सूचनाओं का विशद विवरण क्षेमेन्द्र ने अपने मौलिक ग्रंथ में किया। क्षेमेन्द्र का यह कथन भरत की पूर्वोक्त कारिका का भाष्य रूप ही है—

कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नुपूरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा ।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यतां
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणः ॥